

म

मणिपुर

(Manipur)

भारत के उत्तर-पूर्वी भाग में स्थित राज्य मणिपुर की राजनीति के तीन आयामों को रेखांकित किया जा सकता है। पहला है संसदीय राजनीति, जिसमें विद्रोही समूहों की धमकियों के बावजूद लोग बड़ी संख्या में हिस्सेदारी करते हैं। मसलन, 2012 के विधानसभा चुनावों में तक्ररीबन 80 प्रतिशत लोगों ने अपने मताधिकार का प्रयोग किया। संसदीय राजनीति में कांग्रेस की स्थिति मजबूत रही है। नब्बे के दशक में इसके कमजोर होने के संकेत मिले थे, लेकिन 2002 के बाद कांग्रेस ने अपनी स्थिति फिर से मजबूत की है। दूसरा, मणिपुर के विद्रोही समूहों की राजनीति। ये मणिपुर की पहचान और उसके भारत से अलग अस्तित्व पर जोर देते हैं। मणिपुर के बहुत से इलाकों में इनका खासा प्रभाव है। लेकिन ये स्पष्ट वैकल्पिक एजेंडा प्रस्तुत कर पाने में नाकाम रहे हैं। तीसरे स्तर पर इरोम शर्मिला और दूसरे नागरिक समूहों का संघर्ष है। खास तौर पर इरोम ने अपने अहिंसक और मूक संघर्ष द्वारा भारतीय राज्य, सेना और मनमाने क़ानून थोपने पर गहरा सवालिया निशान लगाया है।

मणिपुर की राजधानी इम्फ़ल है। इसके उत्तर में नगालैण्ड, दक्षिण में मिज़ोरम, पश्चिम में असम और पूर्व में म्यांमार स्थित है। मणिपुर का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 22,347 वर्ग किमी है और इस आधार पर यह भारत का तेईसवाँ सबसे बड़ा राज्य है। 2011 की जनगणना के अनुसार मणिपुर की कुल जनसंख्या 2,721,756 है। जनसंख्या के लिहाज़ से भारत में इसका स्थान बाईसवाँ है। यहाँ का

जनसंख्या घनत्व 121.8 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी और कुल साक्षरता दर 79.85 प्रतिशत है। यहाँ की विधायिका एकसदनीय है जिसमें कुल 60 सदस्य होते हैं। मणिपुर से लोकसभा के दो और राज्य-सभा का एक सांसद चुना जाता है। गुवाहाटी उच्च न्यायालय ही मणिपुर का भी उच्च न्यायालय है।

मेतेइ यहाँ का प्रमुख जातीय समूह है, जिसके बाशिंदे मुख्य रूप से राज्य के घाटी-क्षेत्र में रहते हैं। ये मणिपुर की जनसंख्या में इस समूह की हिस्सेदारी साठ प्रतिशत है, लेकिन राज्य के कुल दस प्रतिशत भौगोलिक क्षेत्र पर ही इनका अधिकार है। इनकी भाषा मेतेइलन को मणिपुरी भी कहा जाता है यहाँ राजभाषा है। इसे संविधान की आठवीं अनुसूची में भी स्थान दिया गया है। घाटी में मुसलमान भी रहते हैं। जनसंख्या में क्रिश्चियन नागाओं (25 प्रतिशत), कुकियों (15 प्रतिशत) और मुसलिम पांगलाओं (7 प्रतिशत) की भी महत्वपूर्ण हिस्सेदारी है। ये राज्य की जनसंख्या के तक्ररीबन 40 प्रतिशत भाग हैं, लेकिन राज्य की कुल 90 प्रतिशत भौगोलिक क्षेत्र पर इन्हीं का क़ब्ज़ा है।

लम्बे समय से भारतीय इतिहास और संस्कृति का भाग रहने वाले मणिपुर का महाभारत, पुराण और प्राचीन चीनी ग्रंथों में उल्लेख मिलता है। माना जाता है कि मणिपुर से ही पोलो खेल की शुरुआत हुई। यहाँ इसे सोगल कनगेई के नाम से जाना जाता है। मणिपुर के नृत्य, जिसमें इसकी प्रसिद्ध रासलीला भी शामिल है, को दक्षिण एशिया की छह प्रमुख नृत्य परम्पराओं में से एक माना जाता है। ऐतिहासिक रूप से मणिपुर का शासन बहुसंख्यक हिंदू मेतेइ लोगों के नियंत्रण में रहा है। पूर्व-आधुनिक मणिपुर में जातीय प्रतिद्वंद्विता के कारण यहाँ के विविध समूहों में सत्ता के लिए संघर्ष होता था। इसके अलावा यहाँ के शासकों की बर्मा के शासकों से भी लड़ाई



मणिपुर : सशस्त्र सेना विशेष अधिकार अधिनियम के खिलाफ संघर्ष

होती रही। इस तरह यह धरती भीतरी और बाहरी-दोनों ही रूपों में संघर्ष का केंद्र बनी रही। बर्मा की सेनाओं ने 1819 में मणिपुर का कब्जा कर लिया। 1826 में अंग्रेजों और बर्मा के बीच हुए युद्ध के कारण बर्मा को मणिपुर पर अपना दावा छोड़ना पड़ा। इसी कारण मणिपुर बर्मा के हाथों में जाने से बच गया। लेकिन इसके बाद मणिपुर के भीतर विद्रोह होते रहे जिसके कारण अंग्रेजों को बार-बार राज्य में दखल देने का मौका दिया। आखिरकार 1891 में मणिपुर एक रजवाड़े के रूप में ब्रिटिश शासन के अंतर्गत आया। 1947 तक यहाँ कंगलपाक वंश का शासन था, लेकिन पहाड़ी क्षेत्र के लोग इस राज्य का हिस्सा नहीं थे। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान मणिपुर के क्षेत्र में जापानियों और ब्रिटिश सेना के बीच बहुत तीखा संघर्ष हुआ। लेकिन जापानी सेना इम्फाल में दाखिल नहीं हो पायी और उसे पीछे हटना पड़ा। यह नतीजा द्वितीय विश्व-युद्ध का एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुआ।

युद्ध के बाद मणिपुर में 1947 के मणिपुर संविधान अधिनियम के जरिये एक लोकतांत्रिक सरकार की स्थापना की गयी। इसमें महाराजा को कार्यपालिका का अध्यक्ष बना कर एक चुनी विधायिका का प्रावधान किया गया था। 1949 में महाराजा बुद्ध चंद्र को उस समय के भारतीय राज्य असम की राजधानी शिलांग बुलाया गया। महाराजा ने अक्टूबर, 1949 में मणिपुर का भारत में विलय करने का फैसला किया और उसने मणिपुर की चुनी हुई विधायिका भंग कर दी। मणिपुर के बहुत से विद्रोही समूह मणिपुर के भारत में विलय को शक की निगाह से देखते हैं। बहरहाल, 1956 में मणिपुर

को एक केंद्र शासित प्रदेश बनाया गया। बाद में, 1972 में इसे पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया। लेकिन इस तरह के क्रदमों के बावजूद मणिपुर के विभिन्न समूहों में मौजूद आक्रोश के खतम होने लायक परिस्थितियाँ नहीं बन पायीं।

राज्य के गठन के बाद से ही यहाँ की संसदीय राजनीति में कांग्रेस का वर्चस्व रहा। यद्यपि मणिपुर पीपुल्स पार्टी जैसे राज्य स्तरीय दल ने कांग्रेस को चुनौती देने की कोशिश की, लेकिन उसे ज्यादा सफलता नहीं मिली। हालाँकि पूर्ण राज्य का दर्जा 1972 में मिला, लेकिन यहाँ 1963 से ही विधानसभा का चुनाव होने लगा था। कांग्रेस के माइरम्बेम्ब कोइरेंग सिंह राज्य के पहले मुख्यमंत्री बने। 1963-1990 के बीच राज्य में सिर्फ चार बार गैर-कांग्रेसी सरकारों का गठन हुआ। इस दौर में मणिपुर यूनाइटेड फ्रंट के लॉगिआम थमबऊ सिंह, मणिपुर पीपुल्स पार्टी के मोहम्मद अलीमुद्दीन (चार मार्च, 1974-नौ जुलाई, 1974), मणिपुर हिल्स यूनियन के यंगबाशो सैजा (दस जुलाई, 1974-पाँच जुलाई, 1974) तथा जनता पार्टी के नेता के रूप में यंगबाशो सैजा (29 जून, 1977-13 नवम्बर, 1979) राज्य के गैर-कांग्रेसी सरकारों में मुख्यमंत्री रहे। स्पष्ट है कि कोई भी गैर-कांग्रेसी सरकार अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर पायी। इस दौर में कांग्रेस का वर्चस्व रहा लेकिन कांग्रेस में भी रिशांग कीशिंग (नवम्बर, 1980-फरवरी, 1981; जून, 1981-मार्च, 1988) के अलावा कोई मुख्यमंत्री अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर पाया।

1990 के दशक के बाद भी राज्य की राजनीति में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दबदबे में कमी आयी। मसलन, 1990 के बाद अभी तक कुल छह विधानसभा चुनाव हुए। इनमें शुरुआती दौर में कांग्रेस की स्थिति अच्छी नहीं थी। इसे सन् 1990 में हुए चुनावों में 24, 1995 के चुनावों में 22, 2000 में 11, 2002 में 20 सीटें मिली। 2002 में इसने गठबंधन सरकार बनायी, जिसका नेतृत्व इसके नेता ओकराम इबोबी सिंह ने किया। 2002 के पहले के दौर में राज्य में कई गैर-कांग्रेसी सरकारें भी गठित हुईं। 1990 में फरवरी, 1990 से जनवरी, 1992 के बीच मणिपुर पीपुल्स पार्टी के राजकुमार रणवीर सिंह राज्य के मुख्यमंत्री रहे। इसके बाद 1997-2001 के बीच यहाँ मणिपुर स्टेट कांग्रेस के वाहेंगम निपामचा सिंह मुख्यमंत्री रहे। इसके बाद कुछ समय के लिए राधा विनोद कोइजाइ (14 फरवरी, 2001-एक जून, 2001) राज्य के मुख्यमंत्री रहे। बहरहाल, कांग्रेस ने राज्य में 2002 के बाद अपनी स्थिति काफ़ी सुधारी है। 2007 में इसे कुल 30 सीटों पर जीत मिली थी। 2012 के विधानसभा चुनावों में इसकी सीटों की संख्या बढ़कर 42 हो गयी। यह स्पष्ट है कि 1990 के बाद की राज्य की राजनीति में गठबंधन राजनीति की ओर बढ़ी लेकिन 2002 के बाद कांग्रेस ने राज्य में अपनी स्थिति

काफ़ी मजबूत कर ली है।

मणिपुर की राजनीति की एक प्रमुख विशेषता ऐसे विद्रोही समूहों की मौजूदगी है, जो संसदीय राजनीति को खारिज़ करते हैं। ऐसे कई समूह एक पृथक मणिपुर के लिए भी संघर्ष कर रहे हैं। मणिपुर में 1960 के दशक के शुरुआती वर्षों में मेतेइ राष्ट्रवादी आंदोलन प्रारम्भ हुआ था। इस आंदोलन ने मणिपुर पर 'भारतीय कब्जे' का विरोध किया। एक दशक बाद नगाओं की राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ भी सामने आने लगीं। नागा पृथकतावादी संगठनों ने उत्तर-पूर्व के सभी नागा बहुल जिलों को मिलाकर एक सम्प्रभु नगालैण्ड राज्य बनाने का लक्ष्य पेश किया। इसमें मणिपुर के नगा बहुल जिलों को भी शामिल किया जाना था। इससे एक तरफ तो मेतेई लोगों में नाराज़गी पैदा हुई, वहीं दूसरी ओर भारतीय राज्य ने भी ऐसे पृथकतावादी आंदोलन का दमन किया।

1980 में केंद्र सरकार ने पूरे राज्य में 1958 के सशस्त्र सेना विशेष अधिकार अधिनियम (या आप्रस्या) लागू कर दिया। लेकिन भारतीय सेना की दमनकारी गतिविधियों से इस क्षेत्र में पृथकतावादी भावनाएँ और भड़क गयीं। कुकी होमलैण्ड की माँग भी सामने आने लगी। 1980 के दशक के मध्य से इस तरह के बहुत से आंदोलनों ने एक छतरी संगठन के रूप में मणिपुरी पीपुल्स लिबरेशन आर्मी (पीएलए) और कुछ दूसरे छतरी संगठनों का गठन हुआ। इन संगठनों में भारत से आज़ादी और बाहर से आये मुसलमानों को बाहर करने जैसे मुद्दों पर ही बुनियादी एकता थी। बाक़ी सवालों पर इन संगठनों में मतभेद भी थे।

अर्द्धसैनिक बलों, खास तौर पर असम राइफल्स की क्रूरता के कारण यहाँ के लोगों में भारतीय सेना के प्रति गुस्सा है। सैन्य बलों को 'आर्म्ड फोर्सेज स्पेशल पावर एक्ट' (आप्रस्या) के तहत विशेष सुरक्षा मिली हुई है। इस कारण भी उनकी मनमानी बढ़ी है। इसी तरह की मनमानी का एक उदाहरण जुलाई, 2004 की घटना है। इस दिन असम राइफल्स द्वारा एक 32 वर्षीय महिला थांगजम मनोरमा को गिरफ़्तार किया गया, उसे यातना दी गयी और बलात्कार कर उसकी हत्या कर दी गयी। इस घटना ने भारतीय सेना के खिलाफ़ आक्रोश बहुत ज़्यादा बढ़ा दिया। सेना की ज़्यादातियों और आप्रस्या के खिलाफ़ इरोम शर्मिला दो नवम्बर, 2000 से लगातार भूख हड़ताल पर हैं। अभी तक मणिपुर से सेना की वापसी नहीं हुई है और न ही आप्रस्या हटाया गया है। लेकिन इरोम शर्मिला के संघर्ष के कारण पूरी दुनिया में मणिपुर और दूसरे पूर्वोत्तर राज्यों में भारतीय सैन्य बलों की ज़्यादातियों की चर्चा होने लगी है।

देखें : असम, अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड,

ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गुजरात, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झारखण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पश्चिम बंग, पंजाब, बिहार, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मिज़ोरम, मेघालय, भारतीय संघवाद, राजस्थान, राज्यों का पुनर्गठन-1, 2 और 3, राज्यों की राजनीति, संघवाद, हरियाणा।

संदर्भ

1. लाल दीना (सम्पा.) (1991), *हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न मणिपुर, 1826-1949*, ऑरबिट पब्लिशर्स, नयी दिल्ली, 1991.
2. फानजुबाम तारापॉट (2003), *ब्लिडिंग मणिपुर*, हरआनंद पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
3. सुमंत बनर्जी (2004), "इण्डियाज़ 'होम' फ्रंट", *इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 39, अंक 40.
4. दीप्ति प्रिया महरोत्रा (2009), *बर्निंग ब्राइट : इरोम शर्मिला, पेंगुइन*, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

मध्य प्रदेश

(Madhya Pradesh)

अपने नाम के अनुरूप मध्य प्रदेश भारत के बीच में स्थित है। इस राज्य की राजनीति की एक मुख्य विशेषता यह रही है कि तमाम बदलावों और नवीनताओं के बावजूद इसका चरित्र हमेशा द्वि-दलीय ही रहा है। नब्बे के दशक में कई हिंदीभाषी क्षेत्रों में एक तीसरा मोर्चा शक्तिशाली ढंग से उभरा। बिहार और उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में पिछड़ी जातियों और दलितों ने ऊँची जातियों के वर्चस्व वाले राजनीतिक दलों को पीछे करके सत्ता पर अपना अधिपत्य क्रायम किया। लेकिन मध्य प्रदेश इस तरह के बदलावों से अछूता ही रहा। मध्य प्रदेश की राजनीति में अगड़ी जातियों का वर्चस्व लगातार बना रहा और कांग्रेस बनाम भारतीय जनता पार्टी की होड़ जारी रही। दूसरी तरफ यह भी एक उल्लेखनीय तथ्य है कि 1992 में हुई साम्प्रदायिक हिंसा के अपवाद को छोड़ कर यहाँ अमूमन साम्प्रदायिक समरसता की ही स्थिति रही है। मोटे तौर पर मध्य प्रदेश में भाजपा की हिंदुत्ववादी राजनीति का रंग हल्का रहा है। 2003 के चुनावों में जहाँ भाजपा ने 'बिजली पानी और सड़क' को मुद्दा बनाया, वहीं 2008 में शिवराज सिंह चौहान ने अपने काम-काज के आधार पर वोट माँगा। मध्य प्रदेश अपने पड़ोसी राज्यों की तरह माओवादी आंदोलन का भी शिकार नहीं है। इस संदर्भ में यह तुलनात्मक रूप से एक शांत राज्य है। लेकिन विकास के मामले में मध्य प्रदेश की



मध्य प्रदेश : दो दलों की प्रतियोगिता

स्थिति अच्छी नहीं है। धीरे-धीरे यह बिमारू राज्य की श्रेणी से निकल रहा है, पर इस सिलसिले में इसे लम्बी दूरी तय करनी है।

मध्य प्रदेश के पश्चिम में गुजरात, उत्तर-पश्चिम में राजस्थान, उत्तर-पूर्व में उत्तर प्रदेश, पूर्व में छत्तीसगढ़ और दक्षिण में महाराष्ट्र राज्य स्थित है। वर्तमान मध्य प्रदेश राज्य का गठन एक नवम्बर, 1956 को हुआ था। इसमें पूर्व मध्य प्रदेश (इसके मराठी भाषी क्षेत्रों को मुम्बई राज्य में मिला दिया गया), मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश और भोपाल राज्यों को मिलाया गया था। इसका कुल क्षेत्रफल 3,08,252 वर्ग किमी है और इस लिहाज से यह भारत का दूसरा सबसे बड़ा राज्य है। 2011 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 7,56,97,565 है। इस आधार पर यह भारत का छठा सबसे बड़ा राज्य है। यहाँ का जनसंख्या घनत्व 245.6 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी है। इसकी साक्षरता दर 76.5 प्रतिशत है। इस लिहाज से देश में इसका स्थान आठवाँ है। हिंदी यहाँ की आधिकारिक भाषा है। 2001 की जनगणना के अनुसार मध्य प्रदेश की जनसंख्या में अनुसूचित जनजातियाँ 20.63 प्रतिशत और अनुसूचित जातियाँ 13.14 प्रतिशत हैं। यहाँ की आबादी का कुल 91.1 प्रतिशत हिंदू है (इसमें अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या भी शामिल है) और 6.04 प्रतिशत मुसलमान। यहाँ की जनसंख्या में जैन, ईसाई, बौद्ध और सिक्ख धर्मों को मानने वाले लोग भी मौजूद हैं, लेकिन इनकी जनसंख्या तुलनात्मक रूप से काफी कम है। मध्य प्रदेश में मुख्य रूप से बैगा, भील, गोंड, कोल,

माल्टू, मारिया आदि प्रमुख आदिवासी समूह हैं।

मध्य प्रदेश की विधायिका एकसदनीय है। वर्तमान में मध्य प्रदेश विधानसभा में 231 सदस्य चुने जाते हैं। यहाँ से लोकसभा के 29 और राज्यसभा के 11 सदस्य चुने जाते हैं। एक नवम्बर, 2000 को मध्य प्रदेश से अलग करके छत्तीसगढ़ राज्य बनाया गया। इसलिए 2000 से पहले मध्य प्रदेश से लोकसभा के 40 और राज्यसभा के 16 सदस्य चुने जाते थे और यहाँ के विधानसभा के सदस्यों की संख्या 321 थी। रविशंकर शुक्ल यहाँ के प्रथम मुख्यमंत्री थे।

मध्य प्रदेश विकास के संकेतकों के हिसाब से विकसित राज्यों की श्रेणी में नहीं आता है,

लेकिन राजनीतिक रूप से बहुत ही जागरूक और सक्रिय प्रदेश रहा है। राष्ट्रीय राजनीति के लगभग सभी परिवर्तनों से राज्य की राजनीति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित होती रही है। मध्य प्रदेश में कांग्रेस का सशक्त जनाधार रहा है। 1957 से लेकर 1977 तक राज्य में लगातार कांग्रेस की सरकार रही। इस दौर में ऊँची जातियों के नेता ही राज्य के मुख्यमंत्री बने जो अपनी कुर्सी के लिए पूरी तरह से हाईकमान की मर्जी पर निर्भर थे। 1977 में केंद्र में जनता पार्टी की सरकार बनने के बाद कांग्रेसी सरकार को बर्खास्त कर दिया गया। इसके बाद हुए चुनाव में जनता पार्टी को जीत मिली। जून, 1977 से फ़रवरी, 1980 तक राज्य में जनता पार्टी की सरकार रही। इसमें मुख्यतः जनसंघ का ही बोलबाला था, क्योंकि राज्य में जनता पार्टी के घटकों में इसी पार्टी का आधार ही मज़बूत था। इस पूरे दौर में राज्य में तीन मुख्यमंत्री बने : कैलाश चंद्र जोशी, वीरेंद्र कुमार सकलेचा और सुंदरलाल पटवा। 1980 में सत्ता में वापस लौटने पर इंदिरा गाँधी सरकार ने जनता पार्टी की सरकार को बर्खास्त कर दिया। फिर पूरे दशक में राज्य में कांग्रेस का शासन रहा। अर्जुन सिंह और मोतीलाल वीरा अदल-बदल कर मुख्यमंत्री बने। कुछ महीनों के लिए श्यामाचरण शुक्ल को भी मुख्यमंत्री बनाया गया।

1990 से लेकर 2008 तक हुए पाँच विधानसभा चुनावों पर नज़र डालें तो यह स्पष्ट होता है कि 1993 और 1998 के चुनावों में कांग्रेस को जीत मिली, जबकि 1990, 2002 और 2008 में भाजपा विजयी रही। 1990 के विधानसभा चुनावों में भाजपा को 220 और कांग्रेस को 56

विधानसभा सीटों पर जीत मिली। इन चुनावों के बाद सुंदरलाल पटवा राज्य के मुख्यमंत्री बने। लेकिन छह दिसम्बर, 1992 को बाबरी मसजिद विध्वंस के बाद केंद्र ने मध्य प्रदेश की भाजपा सरकार को भी बर्खास्त कर दिया। 1993 में कांग्रेस को 174 और भाजपा को 117 विधानसभा सीटों पर जीत मिली। इसके बाद दिग्विजय सिंह के नेतृत्व में कांग्रेस की सरकार गठित हुई। 1998 के विधानसभा चुनाव एक तरह से दिग्विजय सिंह सरकार की कामकाज के बारे में जनादेश के लिए हुए थे। इन विधानसभा चुनावों का नतीजा भी कमोबेश पिछली विधानसभा चुनावों के नतीजों की तरह ही रहा। इस चुनाव में कांग्रेस को 172 और भाजपा को 119 सीटों पर जीत मिली। 2003 के विधानसभा चुनाव में भाजपा ने पिछड़ी जाति की नेता उमा भारती को राज्य का भावी मुख्यमंत्री घोषित किया। इन चुनावों में भाजपा की जीत हुई और उसे 193 सीटों पर जीत मिली जबकि कांग्रेस को सिर्फ 38 सीटों पर ही जीत मिल पायी। उमा भारती राज्य की मुख्यमंत्री बनीं, लेकिन उन्हें अगस्त 2004 में मुख्यमंत्री पद छोड़ना पड़ा क्योंकि कर्नाटक की एक अदालत ने उनके खिलाफ वारंट जारी कर दिया था। दरअसल, राष्ट्रीय स्तर की राजनीति में अपना सिक्का जमाने की उमा भारती की महत्वाकांक्षा और भाजपा के अन्य नेताओं से खींचतान के कारण उमा भारती राज्य की राजनीति में अलग-थलग पड़ गयी। उनके बाद बाबूलाल गौर राज्य के मुख्यमंत्री बने। नवम्बर, 2005 में भाजपा हाईकमान ने गौर की जगह शिवराज सिंह चौहान को मुख्यमंत्री बनाया। चौहान के नेतृत्व में भाजपा ने 2008 का चुनाव लड़ा और उसे 143 विधानसभा सीटों पर जीत मिली, जबकि कांग्रेस सिर्फ 71 सीटें ही जीत पायी।

विधानसभा चुनावों की तरह ही लोकसभा चुनावों में भी मुख्यतः दो दलों के बीच ही संघर्ष होता है। 1990 के बाद के हुए लोकसभा चुनावों की एक मुख्य प्रवृत्ति यह रही है कि इन चुनावों में भाजपा कांग्रेस की तुलना में मजबूत साबित हुई है। 1996 में भाजपा को 27, कांग्रेस 8, बसपा को 2 और कांग्रेस (तिवारी) तथा मध्य प्रदेश विकास कांग्रेस को 1 सीट पर जीत मिली। 1998 में भाजपा को 30 और कांग्रेस को 10 सीटों पर जीत मिली। 1999 में भाजपा को 29 और कांग्रेस को 11 सीटों पर जीत मिली। 2004 के लोकसभा चुनावों में भाजपा को 25 और कांग्रेस को 4 सीटें मिलीं। 2009 में हुए लोकसभा चुनावों में भाजपा को 16 और कांग्रेस को 12 सीटें मिलीं।

1993 में हुए विधानसभा चुनावों में राज्य के बघेलखण्ड, बुंदेलखण्ड और चम्बल क्षेत्रों में बहुजन समाज पार्टी ने अपनी उपस्थिति प्रभावशाली ढंग से दर्ज की। शुरुआत में ऐसा लगा कि बहुजन समाज पार्टी द्वि-दलीय

राजनीति के ढाँचे को तोड़ कर प्रतियोगिता को तितरफा बना देगी। बसपा के वोट प्रतिशत में लगातार बढ़ोतरी हुई। 1990 में इसे 3.54 प्रतिशत वोट मिले, जबकि 2008 के चुनावों में इसे 8.97 प्रतिशत मिले। लेकिन वह अपने संगठन को उत्तर प्रदेश जैसा मजबूत नहीं बना पायी। यह जरूर है कि बसपा ने अपनी उपस्थिति लगातार बनाये रखी।

मध्य प्रदेश में पिछड़ी जातियों की अच्छी-खासी जनसंख्या (कुल जनसंख्या का तक्रीबन 40 प्रतिशत) होने के बावजूद राज्य के नेतृत्व पर भी उनका कोई पक्का दबदबा क्रायम नहीं हो पाया है। मसलन, बाबू लाल गौर और उमा भारती जैसे नेता राज्य के मुख्यमंत्री बने, लेकिन ये लम्बे समय तक नहीं रह पाये। मध्य प्रदेश में चुने जाने वाले विधायकों की सामाजिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करने से यह बात सामने आती है कि यहाँ एक ओर उच्च जातियों की प्रभावशाली उपस्थिति लगातार बनी हुई है, वहीं राज्य के दोनों प्रमुख दलों कांग्रेस एवं भाजपा ने अन्य पिछड़े वर्गों को नेतृत्व में उल्लेखनीय हिस्सेदारी प्रदान की है। यही कारण है कि बाहर उत्तर प्रदेश या हरियाणा जैसे राज्यों की तरह यहाँ पिछड़ी जातियों या दलितों के नेतृत्व वाले दल बहुत मजबूती से उभर कर सामने नहीं आ पाये।

देखें : असम, अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गुजरात, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झारखण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पश्चिम बंग, पंजाब, बिहार, महाराष्ट्र, मणिपुर, मिजोरम, मेघालय, भारतीय संघवाद, राजस्थान, राज्यों का पुनर्गठन-1, 2 और 3, राज्यों की राजनीति, संघवाद, हरियाणा।

संदर्भ

1. शैबाल गुप्ता (2005), 'सोसियो-इकॉनॉमिक बेस ऑफ़ पॉलिटिकल डायनेमिक्स इन मध्य प्रदेश', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 26 नवम्बर.
2. संजय कुमार (1999), 'बीजेपीज़ डिफ़ीट इन विधानसभा इलेक्शन, 1998 : वाइडस्प्रेड इरोजन ऑफ़ सपोर्ट बेस', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, 30 जनवरी.
3. यतींद्र सिंह सिसोदिया और आशीष भट्ट (2009), 'मध्य प्रदेश : स्थाई बनती दो ध्रुवीय राजनीति', अरविंद मोहन (सम्पा.), *लोकतंत्र का नया लोक : चुनावी राजनीति में राज्यों का उभार*, भाग-2, वाणी प्रकाशन-लोकनीति सीएसडीएस, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

मनोविज्ञान-1

दार्शनिक उद्गम और मार्क्स की आपत्तियाँ

(Psychology-1)

व्यवहार एवं मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करने वाला शास्त्र मनोविज्ञान कहलाता है। इसके जरिये वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार में मानसिक प्रक्रियाओं के प्रभाव का पता लगाया जा सकता है। मनोविज्ञान के विकास से पहले व्यवहार एवं मानसिक प्रक्रियाओं में दर्शनशास्त्र के स्तर पर विचार किया जाता था। उस समय मनोविज्ञान का मतलब था मानस का दर्शन जिसकी मौजूदगी के पर्याप्त प्रमाण प्लेटो और अरस्तू से लेकर देकार्त, हॉब्स, ह्यूम और कांट के लेखन में मिलते हैं। एक लम्बी अवधि में धीरे-धीरे मानस का दर्शन मनोविज्ञान के ठोस और अपने पैरों पर खड़े अनुशासन के रूप में सामने आया। समझा जाता है कि मनोविज्ञान एक विषय के रूप में दर्शनशास्त्र के प्रभाव से मुक्त तब हुआ जब 1879 में विल्हेल्म वुण्ट ने लाइपिज़ग विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान की पहली प्रयोगशाला शुरू की। लेकिन एक स्वायत्त अकादमिक गतिविधि के रूप में मनोविज्ञान का उदय बीसवीं सदी की परिघटना ही है। इसीलिए शुरुआती मनोविज्ञानियों के लेखन पर दर्शनशास्त्र की जबरदस्त छाप देखी जा सकती है। मसलन, विलियम जेम्स की 1890 में प्रकाशित रचना *प्रिंसिपल्स ऑफ साइकोलॉजी* में मस्तिष्क, सहज-वृत्ति और सम्मोहन पर ही नहीं बल्कि देह और मस्तिष्क के द्वैत से संबंधित दार्शनिक समस्याओं पर भी अध्याय मिलते हैं। इसी तरह 1904 में प्रकाशित ई.बी. टिचनर की पुस्तक *लेक्चर्स ऑन द एक्सपेरिमेंटल साइकोलॉजी ऑफ द थॉट प्रोसेस* पर भी ब्रिटिश इन्द्रियानुभववादी दर्शन की गहरी छाप है। मनोविज्ञान की इस आधार पर आलोचना भी की गयी है कि बतौर एक वैज्ञानिक अनुशासन (पॉज़िटिव डिसिप्लिन) इसका विकास अभी परिपक्व नहीं है, क्योंकि इसकी कथित वैज्ञानिक पद्धतियाँ भावनाओं और संवेगों जैसी अमूर्तताओं के व्यक्तिपरक और स्वयं की रिपोर्टिंग (सब्जेक्टिव सेल्फ रिपोर्टिंग) पर आधारित हैं। एक आलोचना यह भी होती है कि मनोवैज्ञानिक के स्वयं के चेतन और अचेतन पूर्वाग्रह से अनुसंधान अछूता नहीं रह पाता।

मार्क्स की आपत्तियाँ और सोवियत प्रयोग : ज्ञान की राजनीति के क्षेत्र में उन्नीसवीं सदी के दौरान मनोविज्ञान की वैधता पर मार्क्स और एंगेल्स ने सबसे बड़ा सवालिया निशान लगाया। उन्होंने भौतिकवादी दृष्टि का पक्ष लेते हुए यह मानने से इनकार कर दिया कि मानवीय चेतना का सही अध्ययन किसी आदर्शवादी नज़रिये से किया जा सकता है। अपनी

रचना *जर्मन आइडियालॉजी* में इन दोनों विद्वानों ने दलील दी कि व्यक्ति के सोचने और अनुभूति करने की प्रक्रिया का अध्ययन भौतिकवादी आईने में समाज को देख कर किया जाना चाहिए क्योंकि 'जीवन चेतना से निर्धारित नहीं होता, बल्कि चेतना जीवन से निर्धारित होती है'। इसका तात्पर्य यह था कि मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रकृति समाज में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ बदलती रहती है और चेतना के नये रूप पैदा होते रहते हैं। इसी तर्ज पर मार्क्स ने *इकॉनॉमिक ऐंड फिलॉसॉफीकल मैनुस्क्रिप्ट* में उद्योग के इतिहास को मनुष्य की अनिवार्य शक्तियों की खुली किताब करार देते हुए उसे एक बोधगम्य मानवीय मनोविज्ञान से जोड़ा। मार्क्स ने मनोविज्ञान के ऊपर अपना आक्रमण जारी रखते हुए कहा कि विज्ञान के ऐतिहासिक विकास को नज़रअंदाज़ करने वाला यह शास्त्र कभी एक सच्चा और सम्पूर्ण विज्ञान नहीं बन पायेगा। मार्क्स द्वारा पैदा किया गया मनोविज्ञान संबंधी यह विवाद आगे चल सोवियत संघ और अन्य साम्यवादी देशों में मनोविज्ञान को ज्ञान के एक रूप की तरह खारिज करने की तरफ ले गया। मनोविज्ञान और मार्क्सवाद के इस टकराव से जाहिर था कि इस अनुशासन का ज़्यादातर विकास पूँजीवादी देशों में ही होता। इसलिए माना जाता है कि एक विषय के रूप में इसका जो कुल जमा विकास हुआ है उसमें पश्चिमी, औद्योगिक, उदारतावादी समाज के पूर्वाग्रह छिपे हैं।

मार्क्स और एंगेल्स का यह भी कहना था कि अवचेतन को अधिभूतवादी धारणाओं की रोशनी में नहीं समझा जाना चाहिए। एंगेल्स ने इस सिलसिले में शरीरशास्त्र से मिसालें देते हुए साबित करने की कोशिश की है कि अवचेतन का एक भौतिक आधार होता है। उनका कहना था कि मनुष्य को सक्रियता की तरफ ले जाने वाली हर चीज़ लाज़मी तौर पर उसे मस्तिष्क से गुज़रती है। चूँकि मस्तिष्क बाह्य जगत के प्रभावों से अछूता नहीं रह सकता इसलिए उसका असर अनुभूतियों, विचारों, संवेगों आदि पर अनिवार्य रूप से पड़ता ही है। मनोविज्ञान की यही शरीरशास्त्रीय आलोचना लेनिन ने भी की। अपनी दार्शनिक रचना *मैटीलियलिज़म ऐंड इम्पैरियो-क्रिटिसिज़म* में लेनिन ने ख़ास तौर से विल्हेल्म वुण्ट पर आरोप लगाया कि उनके चिंतन का प्रस्थान-बिंदु मुख्यतः आदर्शवादी है इसलिए वे किसी विज्ञान के प्रवर्तक नहीं हो सकते। लेनिन ने मनोविज्ञानियों से कहा कि उन्हें संवेगों का विवरण बाह्य जगत के परिणामस्वरूप होने वाली घटनाओं के रूप में देना चाहिए। मसलन, किसी रंग के बारे में बताते समय इतना कहना या जानना काफ़ी होगा कि वह रेटिना पर किसी भौतिक वस्तु की क्रिया का परिणाम है।

सोवियत संघ में क्रांति के बाद मार्क्सवादी सिद्धांतों के आधार पर मनोविज्ञान के विकास की कोशिश की गयी।

पहले रूस में मनोविज्ञान के कई विचार-पंथ प्रचलित थे। 1921 में लेनिन ने आई.पी. पाव्लोव को मार्क्सवादी मनोविज्ञान के विकास की जिम्मेदारी दी। स्तालिन के शासनकाल में भी पाव्लोवियन मनोविज्ञान को ही कम्युनिस्ट शासन प्रोत्साहित करता रहा। पाव्लोव ने व्यवहार का अध्ययन प्रतिवर्तों (रिफ्लेक्सेज़) और शरीरविज्ञानी प्रक्रियाओं के रूप में करने का प्रस्ताव किया। दरअसल, यह काम वे क्रांति के पहले से करते आ रहे थे। पाव्लोव ने अपने एक मशहूर प्रयोग में दिखाया था कि कुत्तों की प्राकृतिक अनुक्रियाएँ (गैर-अनुकूलित) किसी तरह बाह्य प्रभावों के ज़रिये बदली जा सकती हैं। मसलन, भोजन देख कर उनके मुँह में पानी आ जाता है। लेकिन अगर बार-बार उन्हें खाना दिखाने के साथ-साथ घंटी भी बजायी जाए तो फिर घंटी बजने पर भी उनके मुँह में पानी आना शुरू हो जाएगा। पाव्लोव की प्रयोगशाला में चिंतन, अनुभूति और पूर्वानुमान जैसी मानसिक शब्दावली के इस्तेमाल पर प्रतिबंध लगा हुआ था। वे मानवीय चेतना की व्याख्या अनुकूलित या गैर-अनुकूलित प्रतिवर्तों के संदर्भ में करते थे।

दिलचस्प तथ्य यह है कि पाव्लोव के सिद्धांतों को शासन द्वारा हाथों-हाथ ज़रूर लिया गया, लेकिन खुद पाव्लोव ने न तो कभी कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण की और न ही खुद को मार्क्सवादी-लेनिनवादी कहा। खुद को स्पष्ट रूप से मार्क्सवाद के जोड़ने वाले विद्वान थे एल.एस. विगोत्स्की। उनका कहना था कि मनुष्य केवल अपने पर्यावरण के प्रति अनुक्रिया ही नहीं करता, बल्कि सक्रिय रूप से उसे बनाता भी है। इस प्रक्रिया में उसे ख़ास तरह की चेतना प्राप्त होती है। उन्होंने बच्चों के विचारों का गहन अध्ययन करके अपने सिद्धांतों का सूत्रीकरण किया। उनका दावा था कि उनके सिद्धांत ऐतिहासिक भौतिकवाद की कसौटियों पर खरे उतरते हैं।

व्यवहारपरक विज्ञान : मनोविज्ञान को एक व्यवहारपरक विज्ञान (विहैवियेरियल साइंस), समाज-विज्ञान के एक अनुशासन तथा एक संज्ञानात्मक विज्ञान (कॉग्निटिव साइंस) के रूप में देखा जाता है। उल्लेखनीय है कि बीसवीं सदी में मनोविज्ञान व्यवहारपरक विज्ञान होने के साथ-साथ एक अनुप्रयुक्त विज्ञान के रूप में भी विकसित हुआ है। वह मानसिक प्रक्रियाएँ निर्धारित करने वाली जैव-वैज्ञानिक और स्नायविक प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करता है। यहीं सवाल उठता है कि क्या मानस के धरातल पर होने वाली अमूर्त प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है? दरअसल, मनोविज्ञान के तहत व्यवहार को एक ऐसी सामान्य इकाई के रूप में ग्रहण किया जाता है जिसके अध्ययन से मानसिक प्रक्रियाओं का पता चलता है। इस सिलसिले में संवेग, धारणा, भावना, अनुभूति, संज्ञान और संबंध आदि

अध्ययन का विषय बनते हैं। सामान्य रूप से व्यवहारों के माध्यम से इन सभी का अध्ययन किया जाता है। इस अर्थ में मनोविज्ञान एक व्यवहारपरक विज्ञान है। व्यवहार ही वह इकाई है जिसका अवलोकन किया जा सकता है, जिसे रिकॉर्ड किया जा सकता है और जिसका अध्ययन किया जा सकता है। व्यवहारों के माध्यम से मानसिक प्रक्रियाओं के बारे में अनुमान (इनफ़रेंस) लगाया जाता है।

एक प्रश्न यह भी है कि समाजशास्त्र, मानवविज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र भी तो व्यवहारपरक विज्ञान हैं। लेकिन ये सभी अनुशासन मानव-व्यवहार के किसी-न-किसी एक ही पक्ष का अध्ययन करते हैं जबकि मनोविज्ञान व्यवहार-मात्र और व्यवहार के सभी प्रकारों का अध्ययन करता है। इसलिए मनोविज्ञान के विषय-क्षेत्र का कोई भी एक प्रसंग दूसरे किसी व्यवहारपरक विज्ञान के साथ कहीं न कहीं परस्परव्यापी हो जाता है। उदाहरणस्वरूप, मतदाताओं के व्यवहार का अध्ययन राजनीति-शास्त्र का भी विषय क्षेत्र है और मनोविज्ञान का भी। हालाँकि व्यवहार को अध्ययन की इकाई के रूप में मानने को लेकर व्यापक सहमति है, फिर भी मनोविज्ञान के अलग-अलग परिप्रेक्ष्य हैं जो व्यवहार को अलग-अलग कोण से देखते हैं। अनेक परिप्रेक्ष्य व्यवहार से इतर चरों (वैरिएबल्स) से भी अपने अध्ययन की शुरुआत करते हैं। एक वैज्ञानिक अनुशासन के रूप में मनोविज्ञान आनुभविक विधियों (इम्पीरिकल मैथॉड्स) का प्रयोग करता है। एक व्यवस्थित और सुपरिभाषित ढाँचे के तहत प्रयोग और अवलोकन विधियाँ अपनायी जाती हैं। इन विधियों में भी चर (वैरियेबल) परिमाणात्मक आँकड़ों के रूप में व्यक्त होते हैं। आनुभविक अध्ययन के माध्यम से मनोवैज्ञानिक चरों के मध्य कारणात्मक और सहसंबंधात्मक संबंध स्थापित किया जाता है। ऐसे सिद्धांत बनते हैं जो किसी एक रेंज में अनेक मिलते-जुलते व्यावहारिक प्रकरणों पर लागू हो सकते हैं। ये सिद्धांत उचित या अनुचित के मूल्य-निर्णय न हो कर अनेक अनुमान निकालने में उपयोगी होते हैं। आनुभविक और निगमनात्मक पद्धति अपनाने के साथ-साथ मनोविज्ञान में अलग-अलग परिप्रेक्ष्यों में प्रतीकात्मक विवेचन (सिम्बॉलिक इंटरप्रिटेशन) और आगमनात्मक पद्धति का भी उपयोग होता है। आजकल मनोविज्ञान में समाज-विज्ञानों, प्राकृतिक विज्ञानों, चिकित्सा और दर्शन सभी के परिप्रेक्ष्यों और विधियों का उपयोग होने लगा है।

देखें : ज़िगमण्ड फ़्रॉयड, रेने देकार्त, जाक लकाँ, एरिक फ़्रॉम, एरिक एरिकसन, मनोविश्लेषण, चेतना, इयत्ता, मनोविश्लेषण और नारीवाद।

संदर्भ

1. फ़ेरनाल्ड एलडी (2008). *साइकोलॉजी : सिक्स पर्सपेक्टिवज़*, सेज पब्लिकेशंस, थॉमस ओक्स.

2. आई.पी. पाव्लोव (1932/1958), *एक्सपेरिमेंटल साइकोलॉजी ऐंड अदर एसेज*, फ़िलॉसफ़ीकल लाइब्रेरी, न्यूयॉर्क.
3. एल. रहमानी (1973), *सोवियत साइकोलॉजी : फ़िलॉसफ़ीकल, थियरेटिकल ऐंड एक्सपेरिमेंटल इशूज*, इंटरनेशनल युनिवर्सिटीज प्रेस, न्यूयॉर्क.

— राकेश श्रीवास्तव

मनोविज्ञान-2

नैदानिक, चिकित्सकीय और परामर्शी

(Psychology-2)

एक अनुप्रयुक्त विज्ञान के रूप में मनोविज्ञान मानसिक स्वास्थ्य की समस्याओं का आकलन और समाधान करता है। इसमें व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं का जीवन के व्यावहारिक प्रसंगों के सापेक्ष समाधान किया जाता है, या फिर व्यक्ति के मानसिक रुझानों से किसी सामाजिक या व्यवसायिक सेटिंग पर पड़ने वाले प्रभाव का प्रबंधन किया जाता है। इस लिहाज़ से इस अनुशासन का एक पेशेवर प्रारूप होना स्वाभाविक ही है। मनोविज्ञान के तहत चिकित्सा विज्ञान से प्रभावित एक पद्धतिशास्त्र नैदानिक पद्धतिशास्त्र (क्लिनिकल मैथडोलॉजी) भी है। यह मनोविज्ञान में प्रायोगिक और निरीक्षणात्मक निगमनात्मक पद्धति तथा प्रतीकात्मक व दार्शनिक आगमनात्मक पद्धति के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण पद्धति है। जब किसी मनोवैज्ञानिक समस्या लेकर कोई व्यक्ति नैदानिक-मनोविज्ञानी के पास आता है तो वह उस व्यक्ति से संबंधित मनोवैज्ञानिक चरों (जैसे उसके संवेग, पारिवारिक संबंध, सामाजिक संबंध आदि) का अध्ययन, क्लिनिक की विशेष सेटिंग में, ऐसे अध्ययनों के लिए विकसित विशेष विधियों और उपकरणों (जैसे निरीक्षण, प्रश्नावली, परिवार के सदस्यों से अंतर्क्रिया आदि के माध्यम से) का प्रयोग करके करता है। यह नैदानिक पद्धति मुख्यतः वैज्ञानिक है पर इसमें व्यक्तिपरक, आकस्मिक और अनियंत्रित होने का खतरा बना रहता है।

मनोविज्ञानियों का श्रेणीकरण उनके द्वारा अपनाये जाने वाले परिप्रेक्ष्य या शैक्षिक क्षेत्र (जैसे व्यवहारिक मनोविज्ञान, असामान्य मनोविज्ञान, संज्ञानात्मक मनोविज्ञान, समाज-मनोविज्ञान आदि) तथा काम करने के अनुप्रयुक्त क्षेत्र (जैसे

नैदानिक मनोविज्ञान, परामर्श मनोविज्ञान, स्कूल मनोविज्ञान आदि) के आधार पर होता है। काम करने के अनुप्रयुक्त क्षेत्रों के आधार पर मनोविज्ञान का इन उप-क्षेत्रों में विभाजन महत्वपूर्ण है। अधिकांश देशों में मनोशास्त्रियों का सबसे बड़ा प्रतिशत (लगभग एक तिहाई) नैदानिक-मनोविज्ञानियों या मनोचिकित्सकों का होता है। एक मनोविज्ञानी कहने से आम लोगों को ज़्यादातर जिस पेशेवर व्यक्ति का बोध होता है वह नैदानिक मनोविज्ञानी ही है।

यही वह पेशेवर है जो क्लिनिक के स्तर पर ही मनोवैज्ञानिक दोषों को पहचानने के लिए विशेष रूप से विकसित पद्धतियों का उपयोग करता है और उनके समाधान के लिए विशेष रूप से विकसित इलाज-पद्धतियाँ (थिरैपी) अपना कर उनका इलाज करता है। यह पेशेवर मनोवैज्ञानिक समस्याओं की पहचान (डायग्नोसिस) की पद्धतियों के उपयोग तथा इलाज-पद्धतियों के प्रयोग के लिए औपचारिक रूप से प्रशिक्षित होता है। यह औपचारिक प्रशिक्षण किस डिग्री और डिप्लोमा के माध्यम से होगा यह संबंधित देश की सरकारें निर्धारित करती हैं। आम तौर पर ये लोग मनोविज्ञान में चार से पाँच वर्षों की स्नातकोत्तर पढ़ाई (डॉक्टरेट तक) या नैदानिक-मनोविज्ञान में एमए होते हैं।

समझने की बात यह है कि नैदानिक-मनोविज्ञानी और मनोचिकित्सक (साइकियाट्रिस्ट) में अंतर है। मनोचिकित्सक के पास एमडी की डिग्री होती है। वे मरीज़ के लिए दवाइयाँ लिख सकते हैं तथा उन्हें अस्पताल भेज सकते हैं। दवाइयाँ लिखने के अतिरिक्त साइकियाट्रिस्ट उन मनोवैज्ञानिक इलाज-पद्धतियों (साइकोथिरैपी) का उपयोग भी कर सकता है, जिनका उपयोग नैदानिक-मनोविज्ञानी भी करने के लिए स्वतंत्र है। नैदानिक-मनोविज्ञानी की क्लिनिक की पूरी व्यवस्था के अलग-अलग अवयवों के लिए विभिन्न डिप्लोमा और अन्य पेशेवर कोर्स जैसे मानकीकृत नैदानिक परीक्षणों के लिए कोर्स, नैदानिक शोधों (साइकोलॉजिकल रिसर्च) के लिए कोर्स विकसित किये जाते हैं। नैदानिक सेट-अप में साइकियाट्रिक सोशल वर्कर भी मदद करते हैं पर इनका कार्यक्षेत्र इसके अतिरिक्त सामुदायिक मनोविज्ञान, सामाजिक मनोविज्ञान आदि में भी होता है। नैदानिक-मनोविज्ञानी (क्लिनिकल साइकोलॉजिस्ट) साइकोएनैलिसिस से भी भिन्न होता है। साइकोएनैलिसिस या मनोविश्लेषण से मतलब उन नैदानिक पद्धतियों से जिसका आरम्भ ज़िगमण्ड फ्रायड और उनके शिष्यों द्वारा किया गया। एमडी साइकियाट्री के अंदर भी साइकोएनैलिसिस का प्रशिक्षण और नैदानिक-मनोविज्ञान के भीतर भी मनोविश्लेषण का प्रशिक्षण हो सकता है। मनोविश्लेषण का इन दोनों से स्वतंत्र प्रशिक्षण भी होता है।

कई तरह के मनोविज्ञान : आज परामर्श-मनोविज्ञान (काउंसिलिंग साइकोलॉजी) एक लोकप्रिय क्षेत्र के रूप में विकसित हो चुका है। इसमें छोटी मनोवैज्ञानिक समस्याओं और जीवन के सामान्य पहलुओं के बारे में मनोवैज्ञानिक कोण से पेशेवरों द्वारा सलाह दी जाती है। ये मनोवैज्ञानिक परीक्षण उपकरणों और कुछ हद तक साइकोथैरेपी का भी उपयोग करते हैं। परामर्श मनोविज्ञान के कई उपक्षेत्र विकसित हो रहे हैं जिसमें स्कूल-परामर्श, शैक्षणिक परामर्श, परिवार और विवाह संबंधी परामर्श प्रमुख हैं। संज्ञानात्मक मनोविज्ञान (कॉग्निटिव साइकोलॉजी) मनोविज्ञान के एक परिप्रेक्ष्य या संज्ञानवाद (कॉग्नेटिज़म) नामक विचार-पंथ (स्कूल ऑफ थॉट) से प्रभावित है। इसमें मानसिक प्रक्रियाओं और कार्यों के साथ-साथ उनकी अंतर्क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। हमारे चारों ओर के वातावरण और इसके पहलुओं के बारे में बोध और धारणाओं की जाँच की जाती है। अर्थात् ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त कतिपय सूचनाएँ और उनकी प्रोसेसिंग की प्रक्रियाएँ ही इसमें अध्ययन की इकाईयाँ हैं। ऐसी सूचनाओं के मेंटल प्रोसेसिंग से ही बोध और धारणाएँ बनती हैं, अनुभव बनता है जिसे मस्तिष्क कहते हैं। इसके पीछे यह समझ काम करती है कि कोई भी मनोवैज्ञानिक समस्या एक संज्ञानात्मक दोष है और उन प्रक्रियाओं में किंचित परिवर्तन कर इन समस्याओं को सुधारा जा सकता है जिनके संयोग से संबंधित संज्ञान बनता है। ये प्रक्रियाएँ हैं बोध (परसेप्शन), ध्यान (एटेंशन), सोच (थिंकिंग), समस्या समाधान (प्रॉब्लम सॉल्विंग), स्मृति (मेमोरी), सीखना (लर्निंग), भाषा (लैंग्वेज), भावना (इमोशन) आदि।

स्कूल और शैक्षणिक मनोविज्ञान भी इस अनुशासन की लोकप्रिय शाखाएँ हैं। स्कूल-मनोविज्ञान में स्कूल सेट-अप में सीखने से संबंधित समस्याओं का समाधान किया जाता है जबकि शैक्षणिक मनोविज्ञान में सामान्य स्तर पर सीखने और सिखने की प्रेरणा से संबंधित समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान मनोविज्ञान का वह पेशेवर क्षेत्र है जिसमें व्यावहारिक समस्याओं के संदर्भ में अध्ययन की जगह संज्ञान और अनुभव को बनाने वाले मूलभूत कारकों का वैज्ञानिक प्रयोगों का उपयोग करके सैद्धांतिक निरूपण किया जाता है। इसमें उन प्रयोगों और पद्धतियों को विकसित किया जाता है जिनके माध्यम से मानवीय संज्ञान और व्यवहार को अपेक्षित रूप से बदला जा सके और उस बदलाव को बनाये रखा जा सके। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान में हमारे व्यवहार के जैविकी और शरीर-क्रियात्मक पहलुओं का अध्ययन महत्वपूर्ण है। इसे शरीर-क्रियात्मक मनोविज्ञान कहा जाता है। औद्योगिक और संगठनात्मक मनोविज्ञान में मनोविज्ञान के सिद्धांतों का उपयोग औद्योगिक और संगठनात्मक क्षेत्र की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए किया जाता है।

सामाजिक मनोविज्ञान देखता है कि किस प्रकार धारणाएँ और स्टीरियोटाइप (या रूढ़ छवियों) की वजह से व्यक्तियों और समूहों के आपस में व्यवहार निर्धारित होते हैं। इसमें व्यक्तियों के आपसी व्यवहार के मानसिक कारकों का अध्ययन किया जाता है। विकासात्मक मनोविज्ञान (डिवेलपमेंट साइकोलॉजी) मनोविज्ञान का वह क्षेत्र है जिसमें व्यक्ति के सीखे गये व्यवहारों और मन में स्थापित धारणाओं का मूल बचपन और उससे आगे जीवन-पर्यंत विकास की प्रक्रियाओं में ढूँढा जाता है। विकासात्मक मनोविज्ञान के व्यावहारिक और प्रयोगात्मक दोनों आयाम महत्वपूर्ण हैं।

सामुदायिक मनोविज्ञान (कम्युनिटी साइकोलॉजी) में किसी समुदाय के विशिष्ट सामुदायिक जीवन में बनने वाली धारणाओं, संज्ञानों और अनुभवों से व्यक्ति के बनने वाले मनोविज्ञान तथा व्यक्तिओं को सामुदायिक जीवन के साथ तारतम्य में लाने वाली प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। कुछ सामुदायिक मनोवैज्ञानिक सामुदायिक विकास-कार्यक्रमों अथवा सुधार कार्यक्रमों के तहत काम करते हैं जिसमें वे संबंधित समुदाय के भीतर उसके सदस्यों के मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य के लिए काम करते हैं। कुछ सामुदायिक मनोवैज्ञानिक जिन्हें सामाजिक समस्या सामुदायिक मनोवैज्ञानिक कहा जाता है वह समुदाय की सामूहिक समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं।

मनोविज्ञान में अध्ययन के कई परिप्रेक्ष्य हैं। व्यवहारपरक परिप्रेक्ष्य में यह माना जाता है कि मानसिक प्रक्रियाएँ (जो अमूर्त हैं) उनका वैज्ञानिक अध्ययन व्यक्ति के व्यवहारों को विषय-वस्तु बनाकर किया जा सकता है। व्यवहार के पैटर्न में व्यक्ति के मानसिक विन्यास, उसकी मानसिक समस्याओं को ढूँढा जाता है और व्यवहार में परिवर्तन के माध्यम से मानसिक समस्याओं का समाधान सुझाया जाता है। जैववैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में मनोवैज्ञानिक व्यवहार के जैववैज्ञानिक और शरीर-क्रियात्मक कारणों को देखा जाता है। इसी प्रकार, संज्ञानात्मक परिप्रेक्ष्य, सामाजिक परिप्रेक्ष्य और विकासात्मक परिप्रेक्ष्य भी महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य हैं। मानववादी परिप्रेक्ष्य (ह्यूमैनिस्टिक पर्सपेक्टिव) में व्यक्ति के व्यवहार और उसके मनोविज्ञान को व्यक्ति के अपने स्व के विकास के प्रयासों में पढ़ा जाता है। मनोविश्लेषणात्मक (साइकोएनालिटिकल) परिप्रेक्ष्य मनोविज्ञान का एक अत्यंत महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य है। इस परिप्रेक्ष्य में अचेतन (अनकांशस) में दबे पड़े भावों और संवेगों को मनोवैज्ञानिक व्यवहार का मूल उत्स माना जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में समाज द्वारा अमान्य कर दी गयी भावनाओं और संवेगों की क्षतिपूर्ति के लिए या उसके डिफेंस में व्यक्ति का व्यवहार होता है। इसलिए व्यक्ति का व्यवहार नहीं बल्कि और भी भीतर दबे कारक और प्रेरणाएँ अध्ययन के विषय-वस्तु हैं। अस्तित्ववादी परिप्रेक्ष्य

में माना जाता है कि विभिन्न क्षणों में विभिन्न रूप से अभिव्यक्त व्यक्ति के मनोविज्ञान का उत्स उसके भीतर अस्तित्व के कारकों के साथ मचे हुए द्वंद्व के कारण है। इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार मानवीय स्वभाव के पहलुओं और उसकी दुश्चिंताओं का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं है। दुश्चिंताओं (एंग्जाइटीज़) के मूल में मृत्यु और भविष्य के अन्य कारक होते हैं और व्यक्ति के अध्ययन में उसकी मुक्त इच्छाओं का सामयिक अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

देखें : जिग्मण्ड फ्रायड, रेने देकार्त, जाक लकाँ, एरिक फ्रॉम, एरिक एरिकसन, मनोविश्लेषण, चेतना, इयत्ता, मनोविश्लेषण और नारीवाद।

संदर्भ

1. जी. मैडलर(2007), *अ हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न ऐक्सपेरिमेंटल साइकोलॉजी*, केम्ब्रिज, एम. ए. एमआईटी प्रेस.
2. एल.एस. विगोत्स्की (1934/1986), *थॉट ऐंड लैंग्वेज*, एमआईटी प्रेस, केम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स.

— राकेश श्रीवास्तव

मनोविश्लेषण

(Psychoanalysis)

मनोरोगी से बातचीत करने के जरिये उसका उपचार करने की विधि और एक बौद्धिक अनुशासन के रूप में मनोविश्लेषण की स्थापना जिग्मण्ड फ्रायड ने की थी। समाज-विज्ञान के कई अनुशासनों पर मनोविश्लेषण का गहरा असर है। स्त्री-अध्ययन, सिनेमा-अध्ययन और साहित्य-अध्ययन ने मनोविश्लेषण के सिद्धांत का इस्तेमाल करके अपने शास्त्र में कई बारीकियों का समावेश किया है। नारीवाद की तो एक शाखा ही मनोवैश्लेषिक नारीवाद के नाम से जानी जाती है। फ्रायड का विचार था कि मनुष्य के अवचेतन को अलग-अलग हिस्सों में बाँट कर उसी तरह से समझा जा सकता है जिस तरह प्रयोगशाला में किसी रसायन का विश्लेषण किया जाता है। अवचेतन का सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य को अपने मस्तिष्क के एक हिस्से का खुद ही पता नहीं होता। उसकी अभिव्यक्ति उसके सपनों, बोलते-बोलते ज़बान फिसल जाने और अन्य शारीरिक बीमारियों के रूप में होती है। 1880 के दशक में वियना के एक चिकित्सक जोसेफ ब्रेयुर के साथ मिल कर फ्रायड ने बर्था पैपेनहाइम

नामक एक महिला के हिस्टीरिया (उन्माद) इलाज किया। मनोविज्ञान के इतिहास में बर्था को उसके छद्म नाम 'अन्ना ओ' के रूप में भी जाना जाता है। जल्दी ही हिस्टीरिया में सेक्शुअलिटी की भूमिका के सवाल पर फ्रायड के बेयुर से मतभेद हो गये। फ्रायड को यक्रीन था कि मानसिक सदमे की प्रकृति काफ़ी-कुछ सेक्शुअल हो सकती है। इसी तरह के अन्य मरीजों का उपचार करने के दौरान हासिल किये गये उनके निष्कर्षों का प्रकाशन 1895 में *स्टडीज़ इन हिस्टीरिया* के रूप में सामने आया। फ्रायड ने हिस्टीरिया की व्याख्या एक ऐसे दिमागी सदमे के रूप में की जिसे रोगी दबाता रहता है। मनोविश्लेषण द्वारा रोगी को उस सदमे की याद दिलायी जाती है। फ्रायड के बाद मनोविश्लेषण के सिद्धांत का आगे विकास करने का श्रेय जाक लकाँ को जाता है।

अवचेतन संबंधी सिद्धांत : फ्रायड को यक्रीन था कि मनुष्य अपनी इच्छाओं, यौन-कामनाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति में नाकाम रहने पर होने वाली तकलीफ़ के एहसास को दबाता है। इस प्रक्रिया में उसके भीतर अपूर्ण कामनाओं के प्रति अपराध-बोध पैदा हो जाता है जिससे कुंठा, आत्मालोचना और एक सीमा के बाद आत्म-हीनता और आत्म-घृणा की अनुभूतियाँ जन्म लेती हैं। यह तमाम कार्य-व्यापार अवचेतन के भीतर चलता है। यह अवचेतन हमेशा दबा हुआ नहीं रहता, और सपनों के रूप में या घटनाओं के प्रति अनायास या तर्कसंगत न लगने वाली अनुक्रियाओं (जैसे तेज़ रफ़्तार से कार चलाना या किसी परिजन पर गुस्सा करने लगना) के रूप में सामने आता है।

फ्रायड मानस को तीन भागों (इड यानी कामतत्व, ईगो यानी अहं और सुपर-ईगो यानी पराअहं) में बाँट कर देखते हैं। उन्होंने अहं को यथार्थमूलक और आत्ममोह को जन्म देने वाले दो रूपों में बाँटा है। यथार्थमूलक अहं की मध्यस्थता सुख की तरफ़ धकेलने वाले कामतत्व और यथार्थ का समीकरण विनियमित करती है। इसी के प्रभाव में अपनी कामनाएँ पूरी करने के साथ-साथ व्यक्ति सामाजिक अपेक्षाओं पर भी ख़रा उतरने की कोशिश करता है। पराअहं की हैसियत मानस में माता-पिता सरीखी है और वह कामतत्व और अहं पर अपना हुकम चलाता है। यही पराअहं बालक को अपने पिता का प्राधिकार स्वीकार करने की तरफ़ ले जाता है। इसके प्रभाव में पुत्र द्वारा माँ को प्राप्त करने की कामना का दमन किया जाता है ताकि इस प्रक्रिया में वह पिता की ही तरह अधिकारसम्पन्न हो सके। पितृसत्ता इस सिलसिले से ही पुनरुत्पादित होती है।

फ्रायड की व्याख्या के मुताबिक़ जीवन और जगत के साथ विविध संबंधों में जुड़ने के लिए पुत्र और माँ के बीच का काल्पनिक सूत्र भंग करना ज़रूरी है और यह भूमिका

पिता के हिस्से में आती है। पिता के हस्तक्षेप के तहत पुत्र को माँ के प्रति अपनी यौन-कामना त्यागनी पड़ती है। वह देखता है कि पिता के पास शिश्न है जो माँ के पास नहीं है। उसे डर लगता है कि अगर उसने पिता के प्राधिकार का उल्लंघन किया तो उसे भी माँ की ही तरह ही बधिया होना पड़ सकता है। बधियाकरण की दुश्चिंता (कैस्ट्रेशन एंग्जाइटी) के तहत मातृमनोग्रंथि नामक संकट का जन्म होता है जो फ्रॉयड का एक और महत्वपूर्ण सूत्रीकरण है।

मातृमनोग्रंथि का संकट बेटे को माँ का परित्याग करने की तरफ़ ले जाता है। माँ के प्रति अपनी अनकही सेक्सुअल चाहत के इस नकार को फ्रॉयड ने आदिम आत्म-दमन की संज्ञा दी है। आत्म-दमन के इसी प्रसंग से व्यक्ति के मानस में अवचेतन की बुनियाद पड़ती है।

लकाँ का मनोविश्लेषण : ज़ाक लकाँ ने फ्रॉयड द्वारा प्रवर्तित मनोविश्लेषण पर पुनर्विचार करते हुए सेक्सुअल कामना के दायरे से निकाल कर उसकी प्रतिष्ठा भाषा के दायरे में की। साथ ही उन्होंने आत्ममोह को जन्म देने वाले अहं की बेहतर व्याख्या की जबकि फ्रॉयड ने इस पहलू पर ज़्यादा गौर नहीं किया था। लकाँ ने देखा कि फ्रॉयड के मुताबिक़ मातृमनोग्रंथि का शिकार होते समय बालक बोलने की उम्र में आ जाता है। अर्थात् आदिम आत्म-दमन के आधार पर जब उसके अवचेतन की नींव पड़ रही होती है, उस समय कर्त्ता के रूप में उसके क्रदम भाषा के प्रदेश में पड़ जाते हैं। यही वह क्षण है जब बच्चा भाषा के ज़रिये कामना के जन्म और दमन से वाक़िफ़ होता है। चूँकि कामना कभी पूरी नहीं हो सकती इसलिए वह माँ के रूप में आजीवन अपनी खोयी हुई वस्तु की तलाश करता रहता है।

पुत्र और माँ का युग तोड़ने के लिए लकाँ ने मिरर-इमेज की भूमिका रेखांकित की है। आईने में खुद को देख कर अर्थात् अपने ही बिम्ब से साक्षात्कार होते समय उसे माँ के साथ अपने अंतर का एहसास होता है। इस मुकाम तक पहुँचते समय पिता द्वारा बनाये गये नियमों के प्रभाव में भाषा के प्रतीकात्मक संसार में बालक का प्रवेश हो चुका होता है। बिम्बात्मकता से प्रतीकात्मकता में जाने की यह प्रक्रिया लकाँ के अनुसार तीन निर्णायक क्षणों के क्रम में घटित होती है : मिरर-इमेज का चरण, भाषा में प्रवेश का चरण और फिर मातृमनोग्रंथि के संकट का दौर।

छह महीने से डेढ़ साल की आयु के बीच माँ बच्चे को जब शीशा दिखाती है तो वह खुद को अलग से पहचान कर अपने एकीकृत और पृथक अस्तित्व से परिचित होता है। लकाँ इसे ही आत्ममोह के क्षण की शुरुआत मानते हैं अर्थात् इसी जगह अहं की आत्ममोह संबंधी क्रिस्म का जन्म होता है और देह प्रेम का लक्ष्य बनती है। लेकिन इसी क्षण एक

और घटना होती है। माँ से खुद को भिन्न पा कर वह दो बातें सोचता है। पहली, यह मैं हूँ और दूसरी, मैं माँ के साथ एकमेक न हो कर अन्य हूँ। इसी जगह परायेपन का एहसास जन्म लेता है। बच्चा दर्पण में अपनी जिस छवि को देखता है, वह उसकी सूचक है। पह छवि उसकी इयत्ता न हो कर उसका स्थानापन्न बिम्ब है। लकाँ बताते हैं कि इसीलिए मिरर-इमेज का चरण अहं के विकास की शुरुआत तो बनता है, पर यह बुनियाद एक ऐसी समझ पर रखी जाती है जो यथार्थमूलक नहीं होती।

मनोविश्लेषण की दुनिया में इस बात पर काफ़ी बहस है कि क्या मनोरोगी के मानस तक उससे बातचीत के ज़रिये पहुँचा जा सकता है? क्या मनोरोगी के भीतर मनोचिकित्सक द्वारा की गयी पूछताछ के प्रति प्रतिरोध नहीं होता? इन सवालों का जवाब तलाशने की प्रक्रिया में पैदा हुए मतभेदों के केंद्र में मातृमनोग्रंथि और शिशु-यौनिकता से जुड़े हुए मुद्दे हैं। मनोरोग के रूप में उन्माद को महत्व देने वाले मनोविश्लेषक मातृमनोग्रंथि की पैदाइश के क्षण को कुछ ज़्यादा ही अहमियत देते हैं, जबकि खण्डित मनस्कता (स्किज़ोफ़्रेनिया) का विश्लेषण करने वालों की तरफ़ से इसे बहुत कम प्राथमिकता मिलती है।

देखें : एरिक फ्रॉम, कार्ल गुस्ताव युंग, ज़ाक लकाँ, मनोविज्ञान-1 और 2, मनोविश्लेषण और नारीवाद, ज़िगमण्ड फ्रॉयड-1 और 2।

संदर्भ

1. ज़िगमण्ड फ्रॉयड, जे. स्ट्रैची (सम्पा.) (1966), *द स्टैंडर्ड एडिशन ऑफ़ द कम्प्लीट सायकोलॉजीकल वर्क्स ऑफ़ ज़िगमण्ड फ्रॉयड*, 19 खण्ड, होगार्द प्रेस, लंदन.
2. ज़ाक लकाँ (1973), *फ़ोर फ़ंडामेंटल कंसेप्ट ऑफ़ सायकोएनालिसिस*, होगार्द प्रेस, लंदन.
3. जील डलज़ और फ़ेलिक्स गुआतारी (1972), *एंटी इडिपस : कैपिटलिज़्म एंड स्किज़ोफ़्रेनिया*, अनु. रॉबर्ट हर्ली, मार्क सीम और हेलेन आर. लेन, वाइकिंग प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. एफ़. मेल्टज़र (1987), *द ट्रायल्स ऑफ़ साइकोएनालिसिस*, द युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, लंदन और शिकागो, आएल.

— अभय कुमार दुबे

मनोविश्लेषण और नारीवाद

(Psychoanalysis and Feminism)

मनोविश्लेषण और उसके संस्थापक ज़िगमण्ड फ्रॉयड के साथ नारीवाद का शुरुआती रिश्ता आलोचना का था। सत्तर के दशक के प्रारम्भिक दौर की नारीवादियों का विचार था कि फ्रॉयड ने पुरुष को केंद्र बना कर एक पितृसत्तात्मक शास्त्र की रचना की है। इसीलिए मनोविश्लेषण में स्त्री, उसकी देह और मानस की हैसियत दायम दर्जे की हो जाती है। फ्रॉयड और नारीवाद के बीच संबंधों में सुधार की शुरुआत जूलियट मिचेल की 1975 में प्रकाशित पुस्तक *सायक्रोएनालिसिस ऐंड फेमिनिज़म* से हुई। मिचेल ने दलील दी कि मनोविश्लेषण के प्रचलित मॉडल को स्त्री-पुरुष के बीच रिश्तों के एक सार्वभौम नुस्खे के रूप में न देख कर उस समाज (वियना का निम्न-पूँजीवादी समाज) के वर्णन के तौर पर देखा जाना चाहिए जिसमें फ्रॉयड रहते थे। मिचेल के इस तर्क के बाद समाज को शिश्न-सत्ता के आईने में देखने के आग्रह के विपरीत नारीवादी विदुषियाँ शिश्न को पितृसत्ता के शक्ति-प्रतीक की तरह देखने लगीं। मिचेल की पुस्तक ने मनोवैश्लेषिक नारीवाद के विकास के लिए रास्ता खोला क्योंकि परिवार, सेक्सुअलिटी, बचपन और देह के सरोकार दोनों अनुशासनों के लिए उभयनिष्ठ थे। मिचेल ने मनोविश्लेषक जाक लकाँ के सिद्धांतों की उपयोगिता की तरफ भी ध्यान खींचा जिसके इर्द-गिर्द मनोवैश्लेषिक नारीवाद के विभिन्न आयाम विकसित हुए। मनोवैश्लेषिक नारीवाद ने स्त्रियों में बसे नारीत्व के गुणों का विश्लेषण करते हुए पुरुष के जेंडर निर्माण-बोध को भी कठघरे खड़ा किया।

फ्रॉयड ने मनुष्य के मानस की कई परतों का उद्घाटन अपनी वैज्ञानिक व्याख्याओं से किया था। उन्होंने यौनिकता का सिद्धांतीकरण करके परिभाषित किया और इसी क्रम में बच्चों की यौनिकता को मान्यता मिली। समाज ने महिलाओं की यौनिक इच्छाओं को अब तक स्थान नहीं दिया था लेकिन फ्रायड के बाद स्त्रियों की यौनिकता पर भी बहसें होने लगीं। इन बहसों में ही आगे के नारीवादी सिद्धांतों की नींव छिपी थी। फ्रायड ने बच्चों के यौनिक विकास को शैशवावस्था से ही चरणबद्ध करते हुए बताया कि यह दौर उनकी यौनिकता के बहुआयामी विकास का होता है। बच्चे लिंग-विहीनता के कारण अपने शरीर के विभिन्न भागों से यौनिक आनंद लेते हैं। पहली स्थिति में बच्चा स्तनपान करते हुए सेक्सुअल सुख अनुभव करता है और यही सुख उसे अपना अँगूठा चूसते हुए भी होता है। दूसरी अवस्था में दो से तीन वर्ष की उम्र में अपने साथ हुई छेड़छाड़, जैसे गाल चूमने आदि से उसे उत्तेजना आती है। तीसरी अवस्था में बच्चों की जननेंद्रियाँ विकसित

हो चुकी होती हैं और वे अपने शरीर के ज़रिये ही यौनिक रहस्य जानने की कोशिश करते हैं।

फ्रॉयड ने यह भी कहा कि स्त्रियों का व्यवहार बचपन से ही 'शिश्न-ईर्ष्या' के कारण जटिल होता है। इसकी वजह होती है उनकी देह में लिंग की अनुपस्थिति। बालक लिंगधारी होने के कारण आसानी से इस जटिलता से बाहर आ जाता है और अपने पराअहं या सुपर ईगो का निर्माण कर लेता है। लड़कियाँ लिंग-अभाव से उपजी कमतरी की कुंठा और जटिलता के चलते अंततः पिता के प्रति समर्पित हो जाती हैं। फ्रॉयड द्वारा विकसित इस मनोविज्ञान के अनुसार स्त्री लिंग की अनुपस्थिति से उपजे हीनता-बोध में ताउम्र जीती है। उसे अपने शरीर से नफ़रत होती है क्योंकि वह सम्पूर्ण नहीं होती। नारीवादियों ने यह प्रस्थापना मानने से इनकार कर दिया। फ्रॉयड की इन दावेदारियों और ख़ास तौर से मातृमनोग्रंथि, शिश्न-ईर्ष्या और कैस्ट्रेशन कॉम्प्लेक्स या बधियाकरण के डर को उन्होंने शुरु से ही आपत्तिजनक माना। सिमोन द बोउवार ने महिलाओं को महज़ जैविक उत्पाद नहीं, बल्कि सामाजिक उत्पाद करार देते हुए इडिपस और कैस्ट्रेशन कॉम्प्लेक्स के विषय में कहा कि यदि लड़के और लड़की दोनों की परवरिश समान सामाजिक वातावरण में की जाए तो दोनों को ही ये ग्रंथियाँ नहीं झेलनी होंगी। बचपन से ही लड़कों के सामने सिर्फ़ लड़कों की दुनिया और लड़कियों के सामने सिर्फ़ लड़कियों की दुनिया होती है, जिसकी वजह से ये ग्रंथियाँ पनपती हैं।

सत्तर के शुरुआती वर्षों में बेट्टी फ्रीडन, सुलामिथ फ़ायरस्टोन और केट मिलेट ने इस विमर्श की आलोचना करते हुए कहा कि महिलाओं की अधीनता का मुख्य कारण मनोवैज्ञानिक नहीं, बल्कि सामाजिक है। सामाजिक ढाँचे में ज़रूरी बदलावों के बिना स्त्री-पुरुष की ग़ैरबराबरी ख़त्म नहीं की जा सकती। बेट्टी फ्रीडन का तर्क था कि फ्रॉयड विक्टोरियन संस्कृति से अधिक प्रभावित हो कर स्त्री और पुरुष की जैविक उत्पत्ति को उनकी नियति मान कर चल रहे हैं। वे समझते हैं कि स्त्री के रूप में जन्म लेने के कारण ही वह हीन और तुच्छ मनुष्य बन जाती है। हक़ीक़त यह है कि हीन और गौण बनने की इस प्रक्रिया में समाज की भूमिका अहम होती है। फ्रॉयड ने स्त्रियों को शिश्न की अनुपस्थिति के कारण एक बेहद महत्वपूर्ण कमी का शिकार करार दिया था।

फ्रीडन ने दावा किया कि महिलाएँ लिंग की अनुपस्थिति के कारण हीन नहीं ठहरायी जा सकतीं क्योंकि उनके पास प्रजनन का पूरा मैकैनिज़म है, जो ज़ाहिर है कि पुरुषों के पास नहीं होता। सुलामिथ फ़ायरस्टोन ने दलील दी कि स्त्रियों की निष्क्रिय-यौनिकता का कारण प्राकृतिक नहीं है, बल्कि यह उनकी पुरुषों पर सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक और भावनात्मक निर्भरता से जुड़ा मामला है।

फ्रायरस्टोन ने नवफ्राँडवादियों को आड़े हाथों लेते हुए कहा कि वे स्त्रियों को उनकी इस दोगम स्थिति का कारण समझाएँ और उनका मानस बदलने के लिए तैयार करें। अगर वे ऐसा नहीं कर पाते हैं तो इसका कारण यह होगा कि वे खुद भी उसी पितृसत्तात्मक ढाँचे से गुँथे हैं और स्त्री को उसी स्थिति में देखना चाहते हैं जिसमें वह है। नवफ्राँडवादियों को डर है कि इससे परिवार टूटेंगे और 'स्वीट होम' की अवधारणा उखड़ने लगेगी।

फ्रायरस्टोन के अनुसार स्त्री और पुरुष के बीच शक्ति-संबंध समझना आवश्यक है क्योंकि यही वह केंद्र बिंदु है, जिससे महिलाओं के जीवन में इडीपल कॉम्प्लेक्स या मातृ-मनोग्रंथि की स्थिति उत्पन्न होती है। केट मिलेट ने भी नवफ्राँडवाद पर हमला करते हुए कहा कि लिंग की अनुपस्थिति और कुछ नहीं, बल्कि पुरुषों का आत्मतुष्टीकरण है। प्रजनन की क्रिया सिर्फ संतान को जन्म देना नहीं, वरन् पूरे समाज को आगे बढ़ाने और सृजन की प्रक्रिया है जिससे पुरुषों को हीनताबोध हो सकता है। इसीलिए पुरुषों ने महिलाओं की इस खूबी को उनकी कमजोरी में तब्दील कर दिया है।

नारीवादी चिंतक ल्यूस इरिगरे ने 1974 में अपनी रचना *स्पेकुलम* में फ्राँड और लकाँ की आलोचना की और मनोविश्लेषण में निहित रूढ़ अवधारणाओं को रेखांकित किया कि कैसे अपनी मान्यताओं में मनोविश्लेषण पूर्वग्रह से भरा है। यह पूरी तरह से पितृसत्तात्मक है और ऐसी सामाजिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें माँ की कोई भूमिका नहीं है। इस पर पुरुष-लिंगीय आग्रह की छाप है। फ्राँड ने बालक के विकास को मनोविश्लेषण की मान्यताओं पर परखा, लेकिन बालिका को 'अन्य' के रूप में रखा। इरिगरे ने मानव-देह को मूलतः पुरुष-देह के रूप में देखे जाने का विरोध किया। स्पेकुलम शब्द का इस्तेमाल डॉक्टर शरीर के भीतरी भागों के किसी छिद्र या गड्ढे को देखने के लिए करते हैं। इरिगरे कहती हैं कि फ्राँड ने भी स्त्री शरीर को गड्ढे के रूप में देखा है।

लकाँ के सिद्धांतों का प्रभाव : मिचेल द्वारा फ्राँड की पुनः समीक्षा करने के बाद कई नारीवादियों ने देखा फ्राँड के पितृसत्तात्मक रुझानों की आलोचना करते हुए भी उनके द्वारा स्थापित अवचेतन की अवधारणा उनके लिए उपयोगी हो सकती है। मनोविज्ञान कहता है कि मनुष्य का उसकी अवचेतन दमित कामनाओं, विवशताओं, दुश्चिन्ताओं, भीतियों, लिप्साओं और स्वप्नों का आगार है। लकाँ का विमर्श इसमें यह जोड़ता है कि अवचेतन मनुष्य द्वारा भाषा को ग्रहण करने की चालक-शक्ति है। नारीवादी विदुषियों को लगा कि भाषा और कामना के बीच कहीं स्थित अवचेतन स्त्री की इयत्ता के एक अतिरिक्त आयाम की तरफ इशारा करता है।

इरिगरे और जूलिया क्रिस्टेवा ने लकाँ के विमर्श की सहायता से मनोविश्लेषण के एक ऐसे मॉडल पर सोचना शुरू किया जो पिता की बजाय माँ की तरफ ज्यादा झुका हुआ था। ब्रिटेन और अमेरिका में अस्सी के दशक के मध्य से नारीवादी हलकों में इन दोनों विदुषियों के लेखन ने काफ़ी धूम मचायी। वे देख रही थीं कि लकाँ की मदद से शिशन-सत्ता की व्यवस्था को चुनौती दी जा सकती है और अस्मिता का सिद्धांतीकरण भाषा के दायरे की मदद से किया जा सकता है। उन्होंने अवचेतन के स्त्रियोन्मुख संस्करण का हवाला दे कर यह दिखाने की कोशिश की कि इसके जरिये शिशन के परे जा कर सामाजिक यथार्थ में प्रतिरोध की सम्भावनाएँ तलाशी जा सकती हैं पितृसत्ता की जकड़बंदी से निकला जा सकता है। सँस्यूर के भाषाशास्त्र ने भी नारीवादियों के इस बौद्धिक उद्यम में अहम भूमिका निभायी।

क्रिस्टेवा ने कहा कि भाषा को अपना बना कर स्त्रियाँ अपना स्त्री-अनुभव व्यक्त कर सकती हैं। इसी प्रक्रिया में उन्हें अपने अनुभव की संरचना को नये आयाम देने का मौक़ा मिल सकता है। क्रिस्टेवा ने मातृ-अस्मिता की जगह समलैंगिक स्त्री की अस्मिता या किसी अन्य स्त्री-अस्मिता पर जोर देकर नारीवादी हलकों को बेचैन भी किया। इरिगरे ने शिशन आधारित पौरुषपूर्ण कल्पनाओं को अस्थिर करने के लिए स्त्री-देह पर जोर देने की तजवीज़ की। उन्होंने दो होठों द्वारा एक साथ क्रिया करके बोलने का मॉडल पेश किया ताकि शिशन-केंद्रीयता का प्रतिकार किया जा सके। यह मॉडल साफ़ तौर पर न केवल एक स्त्रियोन्मुख यौनिकृत छवि सामने रखता था, बल्कि स्त्री द्वारा भाषा के विनियोग को भी रेखांकित करता था। इरिगरे ने यह भी दावा किया कि स्त्री की सेक्शुअलिटी केवल उसके यौनांगों से ही व्यक्त नहीं होती, बल्कि उसकी सम्पूर्ण दैहिक-तंत्र में बहुमुखी ढंग से छिपी रहती है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फिल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोर्दरै, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्राइवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलेन सिचू।

संदर्भ

1. जिगमण्ड फ्रॉयड (1977), *ऑन सेक्सुअलिटी : श्री एसेज़ ऑन द थियरी ऑफ़ सेक्सुअलिटी*, अनु. ए. रिचर्ड्स, पेलिकन बुक्स, हारमंड्सवर्थ.
2. सी. गिलिगन (1982), *इन अ डिफरेंट वॉयस : सायकोलॉजीकल थियरी ऐंड वुमंस डिवेलपमेंट*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
3. आर. मिंस्क (सम्पा.) (1996), *साइकोएनालैसिस ऐंड जेंडर : ऐन इंटीडक्टरी रीडर*, रॉटलेज, लंदन.
4. सुधा सिंह (2008), *ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ*, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— कविता रतूड़ी

म्यांमार : लोकतंत्र के लिए संघर्ष

(Myanmar : Struggle for Democracy)

दक्षिण-पूर्वी एशिया के सम्प्रभु देश म्यांमार को पहले बर्मा के नाम से जाना जाता था। 1989 में सैनिक शासकों ने बर्मा का नाम बदलकर म्यांमार कर दिया। लेकिन फ़ौजी शासन की वैधता को मान्यता न देने वाले कई राजनीतिक समूह भी इस देश के लिए बर्मा शब्द का ही प्रयोग करते हैं। बर्मा 1962 से ही सैनिक शासन के अधीन रहा है। यहाँ आंग सांग सूकी के नेतृत्व में लोकतंत्र स्थापना के लिए चलने वाले संघर्ष ने पूरी दुनिया का ध्यान अपनी ओर खींचा है। म्यांमार की सीमा चीन, थाइलैण्ड, भारत, लाओस और बांग्लादेश से मिलती है। इसकी कुल जनसंख्या छह करोड़ है और इस लिहाज़ से यह विश्व का चौबीसवाँ सबसे बड़ा देश है। इसी तरह कुल 676,578 वर्ग किमी क्षेत्रफल वाला यह देश विश्व का चालीसवाँ सबसे बड़ा देश है। बर्मा में कई जातीय समूहों के लोग रहते हैं। यहाँ की जनसंख्या का तक्ररीबन 70 प्रतिशत हिस्सा बमार लोगों का है। इसके बाद शान, केरेन, राखीन आदि समुदाय हैं, जिनकी जनसंख्या में कुल हिस्सेदारी 10 प्रतिशत से भी कम है। बर्मा की इस जनसंख्यात्मक हकीकत को समझना ज़रूरी है, क्योंकि यहाँ हमेशा जातीय अल्पसंख्यकों के साथ होने वाला हिंसक और आपत्तिजनक व्यवहार एक संजीदा मसला रहा है।

बर्मा 1885 में ब्रिटिश साम्राज्य का भाग बना। 1886 की शुरुआत में वहाँ राजतंत्र और सामंतवाद खत्म हो गया। ब्रिटेन के शासन के शुरु के दौर में अराजकता की स्थिति रही। इसी कारण बर्मा के विभिन्न समूहों में आपसी वैमनस्य भी बढ़ा। जातीय अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों ने उपेक्षा की नज़र से देखा और कई बार इन्हें हिंसा का भी सामना करना

पड़ा। बीस के दशक में बर्मा की स्वतंत्रता का संघर्ष शुरू हुआ। इस दौर में आंग सान बहुत बड़े नेता के रूप में उभरे (आंग सान सूकी के पिता थे)। उन्हें बर्मा की आजादी के संघर्ष का सबसे महत्वपूर्ण नेता माना जाता है। उन्होंने बर्मा में अलग-अलग जातीय समूहों की मौजूदगी देखते हुए संघीय राज्य स्थापित करने का विचार प्रस्तावित किया। दरअसल, राष्ट्रीय संस्कृति, पहचान तथा आजादी के संघर्ष के लिए यह विचार काफ़ी महत्वपूर्ण था। लेकिन कई बहुसंख्यकवादी जातीय नेताओं ने एकात्मक राज्य को बेहतर विकल्प माना।

बर्मा को ब्रिटेन से जनवरी, 1948 में आजादी मिली। स्वतंत्र बर्मा का पहला संविधान, जिसे 1947 के संविधान के नाम से भी जाना जाता है, 1948 में लागू हुआ। लेकिन इससे पहले आंग सान की 1947 में ही हत्या कर दी गयी। लेकिन इसके बावजूद बर्मा में संसदीय लोकतंत्र स्थापित हुआ और बहु-दलीय चुनाव हुए। पचास के दशक में वहाँ लोकतांत्रिक शासन ज़रूर रहा, लेकिन ये बर्मा के इतिहास के अनिश्चितता भरे साल थे। 1962 में अस्थिरता और असंतोष की इसी स्थिति में जनरल ने विन ने चुनी हुई सरकार का तख्ता पलट करके शासन पर क़ब्ज़ा जमा लिया।

जनरल ने विन ने कई साल हुकूमत करने के बाद खुद को फ़ौजी शासक से नागरिक शासक में बदलने की कोशिश की और 'बर्मी समाजवाद' का सिद्धांत पेश किया जिसके लिए 1974 में संविधान-संशोधन भी किया गया। यह 'बर्मी समाजवाद' ने विन की व्यक्तिगत विचारधारा थी जिसका वास्तविक समाजवादी विचारधारा से दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं था। इसमें केंद्रीकृत और मज़बूत शासन की तरफ़दारी की गयी थी। इसके परिणामस्वरूप ने विन और उनकी पार्टी बर्मीज़ सोशलिस्ट प्रोग्राम पार्टी (बीएसपीपी) की शासन पर पकड़ और मज़बूत हो गयी। बीएसपीपी का शासन छब्बीस साल तक चला। इस दौरान इसने बर्मा में लोकतंत्र की सभी सम्भावनाओं का दमन किया और आर्थिक रूप से देश की हालत बदतर बना दी। इसके साथ ही जातीय अल्पसंख्यकों को समान अधिकार और प्रतिनिधित्व दिये जाने के माँग की उपेक्षा की जाती रही। बगावत करने वाले जातीय समूहों का दमन करने के लिए बर्मा की सेना ने क्रूर शक्ति का प्रयोग किया। 1968 में ने विन ने अपनी कुख्यात फ़ोर कट पॉलिसी की शुरुआत की। इसके तहत जातीय प्रतिरोध का दमन करने के लिए इन समूहों को हर तरह की आपूर्ति, संचार, परिवहन और भर्ती से अलग रखा गया। इसके कारण बर्मा में बड़े पैमाने पर आंतरिक विस्थापन हुआ और बहुत से लोग देश छोड़ कर पड़ोसी देशों में चले गये और हज़ारों गाँवों को बर्बाद कर दिया गया। बीएसपीपी ने सभी उद्योगों और व्यापार का केंद्रीकरण कर दिया। इससे स्थानीय स्तर पर आर्थिक गतिविधियों में कमी आयी। राष्ट्रीयकृत व्यवस्था में



आंग सान सूकी : लोकतंत्र के लिए संघर्ष

जातीय अल्पसंख्यक हाशिये पर रखे गये।

1988 आते-आते स्थिति बहुत खराब हो गयी। जातीय विद्रोहों और उसके दमन के रूप में हो रहे गृह-युद्ध के बारे में बर्मा के बहुसंख्यकों ने उपेक्षा का रवैया ही अपनाया। लेकिन उनकी आर्थिक मुश्किलें बहुत बढ़ गयी। इसके परिणामस्वरूप 1988 में एक व्यापक सार्वजनिक विरोध शुरू हुआ। बीएसपीपी के हुक्मरानों को चुनाव करवाने पर मजबूर होना पड़ा। यह विरोध 1988 में रंगून इंस्टीट्यूट ऑफ़ टेक्नॉलॉजी के छात्रों द्वारा एक छोटे मसले पर विरोध से शुरू हुआ। जल्दी ही यह संघर्ष व्यापक रूप से फैल गया। पुलिस दमन के कारण भी इसमें काफ़ी बढ़ोतरी हुई। इसी वर्ष आठ अगस्त को विरोध कर रहे युवाओं पर पुलिस के गोली चलाने से सैकड़ों लोग मारे गये। इसके साथ ही करेन, करेनी, शान और कचिन राज्यों में भी जातीय अल्पसंख्यक विरोध पर उतर आये।

जातीय अल्पसंख्यकों के हालात ने भी लोगों में गुस्से को भड़काया। फ़ौजी शासकों के खिलाफ़ विरोध काफ़ी बढ़ गया। आख़िरकार जनता के बढ़ते दबाव के कारण जनरल ने विन को सत्ता छोड़नी पड़ी। 1990 में बर्मा में चुनाव हुआ। ये चुनाव तुलनात्मक रूप से निष्पक्ष थे और इसमें मतदाताओं ने भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। 1988 में आंग सान सूकी द्वारा गठित नैशनल लीग फ़ॉर डेमोक्रेसी (एनयेलडी) को 59 प्रतिशत सीटों पर जीत मिली। लेकिन सत्ताधारी सैनिक शासकों ने सूकी को सत्ता स्थानांतरित करने से इनकार कर दिया। चुनावों से पहले ही जुलाई 1989 में सूकी को घर में नज़रबंद कर दिया गया। अब ये शासक स्टेट पीस ऐंड डिवेलपमेंट कौंसिल के रूप में शासन कर रहे हैं। इस तरह, इस देश में लोकतांत्रिक शासन स्थापित होने की सम्भावनाएँ धूमिल हो गयीं।

1989 के बाद के 22 सालों में सूकी तक्ररीबन 15 साल तक अपने घर में नज़रबंद रह कर पूरी दुनिया में

लोकतंत्र के लिए संघर्ष की एक मिसाल बन गयीं। उन्हें लोकतंत्र के लिए संघर्ष की खातिर दुनिया भर में कई पुरस्कारों से भी नवाज़ा गया। 1990 में इन्हें रैफ़्टो प्राइज दिया गया और 1991 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इसी तरह 2007 में कनाडा सरकार ने इन्हें अपने देश की मानद नागरिकता प्रदान की। सूकी की चुनौती के कारण म्यांमार के शासकों पर काफ़ी अंतर्राष्ट्रीय दबाव भी पड़ा। संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप के कारण सैन्य शासकों ने कई दफ़ा सूकी से बातचीत की और कुछ समय के लिए इन्हें रिहा भी किया गया। मसलन, 2002 में ऐसा हुआ। लेकिन सैनिक शासकों ने देश में पूरी तरह से लोकतंत्र स्थापित करने की इजाज़त कभी नहीं दी। जब भी सूकी का प्रभाव के साथ-साथ सत्ता का विरोध बढ़ता दिखा, उन्हें घर में नज़रबंद कर दिया गया।

सूकी को नवम्बर, 2010 में गृह-नज़रबंदी से मुक्त किया गया है और सैनिक शासकों ने लोकतंत्र की दिशा में आगे बढ़ने का भरोसा दिलाया है। सूकी ने भी अपनी राजनीतिक पार्टी को नये सिरे से गतिशील बनाया है। लेकिन अब भी म्यांमार लोकतांत्रिक शासन स्थापित होने से काफ़ी दूर है। कई आलोचक सूकी की राजनीति की इस आधार पर आलोचना करते हैं कि वे जातीय अल्पसंख्यकों के खिलाफ़ होने वाली हिंसा का मुखर रूप से विरोध नहीं करती हैं। मसलन, 2012 में राखीन राज्य के दंगों के मुद्दे पर सूकी पूरी तरह ख़ामोश रहीं। असल में म्यांमार में एक लोकतांत्रिक शासन स्थापित होने में सैन्य शासन ही सिर्फ़ एक बाधा नहीं है, बल्कि जातीय अल्पसंख्यकों के साथ भेदभाव भरा व्यवहार, उनके खिलाफ़ होने वाली हिंसा और बहुसंख्यकों से उनका सामंजस्य न हो पाना भी एक बड़ी समस्या है। म्यांमार एक ऐसे देश का उदाहरण पेश करता है, जहाँ एक बड़ी बहुसंख्या के साथ कई छोटी जातीयताएँ भी मौजूद हैं। इस संदर्भ में हमें भारत की भूमिका को भी आलोचनात्मक नज़रिये से देखने की आवश्यकता है। भारत ने म्यांमार के लोकतांत्रिक संघर्ष को बहुत ज्यादा समर्थन नहीं दिया। अमूमन भारत सरकार की इस नीति की तरफ़दारी करते हुए यह कहा जाता रहा है कि यदि भारत म्यांमार के शासकों का पूरी तरह विरोध करता तो बर्मा चीन के ख़ेमे में जा सकता था या भारत के विद्रोही समूहों की शरणस्थली बन सकता था। लेकिन बहुत से आलोचक यह भी मानते हैं कि यह एक नैतिक नीति न होकर व्यावहारिक नीति थी और इस आधार पर इसकी आलोचना की जा सकती है।

देखें : बांग्लादेश मुक्ति संघर्ष, श्रीलंका में तमिल पृथकतावाद, नेपाल में माओवाद, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, आज़ादी के लिए सशस्त्र संघर्ष-1, 2 और 3, दक्षिण एशियाई सहयोग संगठन (सार्क)।

संदर्भ

1. एम. पी. कॉलहन (2003), *मेकिंग एनेमीज़ : वार एंड स्टेट बिल्डिंग इन बर्मा*, कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका.
2. टी. मिंट-यू (2001), *द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न बर्मा*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. टी. मिंट-यू (2006), *द रिबर ऑफ़ लॉस्ट फ़ुटस्टेप्स*, फ़रार, स्ट्रॉस एंड जिरोक्स, न्यूयॉर्क.
4. बी. लिंटर (1990), *आउटरेज : बर्मा स्ट्रगल फ़ॉर डेमोक्रेसी*, व्हाइट लोटस प्रेस, कॉनबुरी.

— कमल नयन चौबे

मसजिद

(Mosque)

मसजिद का शब्दिक अर्थ है सज़दा या इबादत करने की जगह। प्रारम्भिक इस्लामी समाज में, विशेषकर हज़रत मुहम्मद के मक्का से मदीना प्रवास से पहले, मसजिद का कोई व्यवस्थित स्वरूप न था। शायद इसके दो कारण थे। पहला, मक्का का धार्मिक-राजनीतिक अभिजन मुहम्मद साहब और उनके अनुयायियों का कट्टर विरोधी था। उस युग में ख़ुद को मुसलमान कहने वालों के लिए किसी नये धार्मिक स्थल की स्थापना मुमकिन ही नहीं थी। इसलिए मसजिद का विचार उस समय तक कोई ठोस स्वरूप नहीं ले सका था। इसका एक दूसरा महत्वपूर्ण कारण भी हो सकता था। उस समय तक इस्लाम एक धार्मिक-राजनीतिक विचारधारा बनने की प्रक्रिया में थी। कुरान की आरम्भिक आयतें उतरनी शुरू हुई थीं और तब तक यह स्पष्ट नहीं था कि इस नये धर्म की वास्तुकला से संबंधित अभिव्यक्ति क्या और कैसी होगी। इस तरह मसजिद का एक धर्मस्थल बनना, कुरान की आयतों का संकलित होना और आरम्भिक मुसलमान समाज का एक धार्मिक-राजनीतिक समुदाय बनना, आपस में घनिष्ठ तौर पर जुड़े हुए हैं।

लेकिन यह भी सही है कि मुहम्मद साहब के मदीना जाने से पूर्व मसजिद का एक वैचारिक खाका उभरने लगा था। मुसलमान के लिए सामूहिक तौर पर नमाज़ (सलात) की अनिवार्यता ने यह ज़रूरत पैदा कर दी थी कि सज़दा करने के लिए किसी विशेष जगह का चुनाव किया जाए। यही कारण था कि मुसलमानों ने कुछ नियत स्थानों पर सामूहिक इबादत शुरू की। इस तरह मसजिद का विचार मूर्त रूप लेने लगा। मदीना-प्रवास ने मसजिदों को इस्लाम के केंद्र के तौर पर स्थापित करने की प्रक्रिया की शुरुआत की। उदाहरण के

लिए जिस स्थान पर मुहम्मद साहब ने पहली नमाज़ अदा की, वहाँ मसजिद-इ-कुबा नामक मसजिद की स्थापना हुई। इसी तरह मुहम्मद साहब के मदीना वाले घर के बराबर में एक मसजिद का निर्माण हुआ जिसका नाम मसजिद-उल-नबी (नबी की मसजिद) पड़ा।

मुहम्मद साहब की धार्मिक-राजनीतिक परियोजनाओं में मसजिद का एक विशेष स्थान देखने को मिलता है। मसजिद इस्लामिक क्रियाकलापों का केंद्र तो बनी ही, मुहम्मद साहब और उनके अनुयायियों ने मसजिद के प्रतीकात्मक पक्ष को भी परिभाषित करने में काफ़ी मेहनत की। इसके तीन उदाहरण दिये जा सकते हैं। पहला उदाहरण अज्ञान का है। मदीना की मसजिद में जब लोगों को नमाज़ के लिए बुलाने का मसला आया तो कई सुझावों पर चर्चा हुई। कुछ लोगों ने कहा कि चर्च की ही तरह मसजिद में भी नमाज़ की उद्घोषणा लिए घंटी का इस्तेमाल किया जाए। कुछ का सुझाव था कि इस्लाम अपना कोई विशिष्ट तरीका ईजाद करे। अंत में यह फ़ैसला किया गया कि नमाज़ की दावत देने के लिए इनसानी आवाज़ का इस्तेमाल होता चाहिए। परिणामस्वरूप अज्ञान के रिवाज़ का जन्म हुआ जिसने आगे चल इस्लाम के एक महत्वपूर्ण प्रतीक का रूप लिया।

मसजिद का आंतरिक वास्तुशिल्प इसका दूसरा उदाहरण है। शुरुआती मसजिदों की बनावट को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर विभिन्न इस्लामिक वास्तुशिल्प-परम्पराओं के आधार समझे जा सकते हैं। मसजिद में सज़दा करने की दिशा का निर्धारण इस संदर्भ एक महत्वपूर्ण और रोचक तथ्य है। शुरुआती मुसलमान यरूशलम की तरफ़ मुँह करके नमाज़ अदा किया करते थे। लेकिन जब कुरान ने काबा को इस्लाम के केंद्र की तरह परिभाषित करते हुए काबा की तरफ़ मुँह करके नमाज़ पढ़ने का हुक्म दिया तो मसजिदों का रुख काबा की ओर हो गया। इस बारे में एक रोचक क्रिस्सा मशहूर है। काबा की ओर नमाज़ पढ़ने का आदेश दुपहर की नमाज़ (जुहर) और तीसरे पहर की नमाज़ (अस्र) के बीच हुआ था। इस आदेश का पालन करते हुए जुहर की नमाज़ यरूशलम की जानिब हुई और अस्र की नमाज़ काबा की सिम्त अदा की गयी। जिस मसजिद में इस आयत का इलहाम माना जाता है और दो विपरीत दिशाओं में नमाज़ अदा की गयी थी वह आज भी मक्का शहर में दो सिम्तों वाली मसजिद के नाम से मशहूर है।

काबा-रुख बनी मसजिदों ने एक विशिष्ट इस्लामिक प्रतीकात्मकता की रचना की। काबा एक वर्गाकार संरचना थी जिसकी परिधिबद्ध परिक्रमा करने की परम्परा (जिसे तवाफ़ कहा जाता है) इस्लाम के उद्भव से पूर्व चली आ रही थी। काबा-रुख नमाज़ पढ़ने के आदेश के बाद मसजिदों का निर्माण भी इसी परिधिबद्ध परिक्रमा के सिद्धांत के आधार पर

होता चला गया। यानी यदि काबा पश्चिम दिशा में है तो मसजिद का रुख पश्चिम की जानिब होगा और यदि काबा पूर्व में है तो मसजिद का मुख्य अहाता पूर्व की ओर होगा। यूँ तो यह व्यवस्था मात्र एक दिशा निर्धारण की थी जिसका एक सम्भव कारण तत्कालीन मुसलमान राजनीतिक-धार्मिक विमर्श में काबा की केंद्रीयता स्थापित करना था, परंतु इसका परिणाम यह हुआ की स्थापित मसजिदों ने काबा के चारों ओर एक व्यापक परिधि का निर्माण कर लिया। जैसे-जैसे इस्लाम का प्रसार होता गया और नयी मसजिदें बनने लगी, इस प्रतीकात्मक परिधि का भी विस्तार होता चला गया। निम्न रेखा-चित्र इस विश्लेषण को और स्पष्ट करता है। यहाँ काबा एक केंद्र है जिसकी परिधि में तमाम मसजिदें (जो बिंदुओं से दर्शायी गयी हैं) आती हैं। जैसे जैसे इस्लाम विश्व के अन्य भागों में फैलता है यह परिधि व्यापक होती जाती है।

मसजिद और इस्लाम के धार्मिक-राजनीतिक विस्तार के रिश्ते का तीसरा उदाहरण आरम्भिक मुसलमानों द्वारा मसजिद के व्यावहारिक इस्तेमाल से संबंधित है। मक्का-विजय के बाद काबा एक मसजिद के रूप में बदल दिया गया, जिसे नाम दिया गया मसजिद-उल-हरम (पनाह की जगह)। याद रखने योग्य बात यह है कि काबा न केवल प्राचीन इब्राहीमी मत के अनुयायियों के लिए सम्मानीय था, बल्कि तत्कालीन मध्य एशिया में मक्का की विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण आर्थिक-सामाजिक महत्त्व भी रखता था। ऐसे असंख्य कबीले थे जो इस मार्ग से व्यापार करते थे और अपने देवी-देवताओं की मूर्तियाँ काबा में रख कर उनकी अर्चना करते थे। काबा पर इस्लाम के आधिपत्य से पूर्व तत्कालीन यहूदियों और ईसाइयों की काबा के संबंध में मान्यताओं की ऐतिहासिक जानकारी सीमित है, परन्तु मौजूदा हदीस साहित्य से यह स्पष्ट है कि यहूदियों और ईसाइयों का मक्का से एक जीवंत रिश्ता था।

काबा के मसजिद बन जाने के कई परिणाम निकले। एक ओर प्राचीन इब्राहीमी मजहब की रीतियों का इस्लामीकरण हुआ, तो दूसरी ओर यहूदी और ईसाई धर्मों द्वारा स्थापित एकेश्वरवाद की धार्मिक शृंखला नये सिरे से परिभाषित हुई। काबा अब एक ऐसा धार्मिक स्थल बन गया था जिसका प्रतीकात्मक महत्त्व यरूशलम के बराबर था। इस तरह काबा के मसजिदीकरण ने कुरान में वर्णित इतिहास के अवधारणात्मक दर्शन को मूर्त रूप दे दिया और जिसके ज़रिये इस्लाम को ऐतिहासिक वैधता हासिल हो सकी। शायद यही वजह थी की आरम्भिक मुसलमानों ने काबा की मसजिद को विशुद्ध धार्मिक रीतियों और क्रिया-कलापों के लिए इस्तेमाल करने की प्रथा की शुरुआत की। दूसरे शब्दों में कहें तो काबा की मसजिद इस्लाम के इतिहास का पहला धार्मिक-ऐतिहासिक स्मारक बनी।

इस संबंध में यरूशलम का वह टीला, जहाँ से मुहम्मद साहब की स्वर्ग-यात्रा और अल्लाह से मुलाक़ात का क्रिस्सा (इसे मेराज का वाक़या कहा जाता है जिसके अनुसार मुहम्मद साहब यरूशलम से स-शरीर जन्त गये थे और उन्होंने तमाम नबियों जिनमें ईसा और मूसा प्रमुख थे, से मुलाक़ात की थी और फिर अल्लाह को मूर्त रूप में भी देखा था) जड़ा हुआ है, कुछ ऐसी ही ऐतिहासिकता लिए हुए है। मुसलमानों ने नमाज़ अदा करने की शुरुआत यरूशलम की दिशा से की थी। ज़ाहिर है कि यरूशलम का एक स्थापित धार्मिक-ऐतिहासिक महत्त्व हमेशा से था। जब मेराज का वाक़या हुआ तो यह धार्मिक रिश्ता और प्रगाढ़ हो गया। इस एक घटना ने यरूशलम को इस्लाम धर्म के पवित्र स्थलों में बदल दिया। यही वजह थी की यरूशलम-विजय के पश्चात उसी टीले पर एक मसजिद का निर्माण हुआ जिसे मसजिद-ए-अक्सा कहा जाता है।

लेकिन मदीना की मसजिद-उल-नबी का दर्जा मसजिद-उल-हरम और मसजिद-उल-अक्सा से भिन्न था। मुसलमानों द्वारा मक्का-विजय के बाद मसजिद-उल-नबी प्रशासनिक केंद्र के तौर पर उभरी। मसजिद का मिम्बर (वह स्थान जहाँ से शुक्रवार को दोपहर की नमाज़ से पहले और ईद-उल-फ़ित्र और ईद-उल-जुहा की वार्षिक नमाज़ों के बाद कुतबा दिया जाता है) ऐसा सम्बोधन स्थल बना जहाँ से राजनीतिक-धार्मिक संदेश व्यवस्थित तौर पर प्रसारित होने लगे। मसजिद का अंदरूनी अहाता सामूहिक इबादत के अलावा धार्मिक-राजनीतिक विमर्श की जगह बनी और मसजिद का सहन कुरान सीखने-सिखाने का स्थान। यही नहीं मसजिद-उल-नबी पर ही कई महत्त्वपूर्ण मंत्रणाएँ हुईं। इस्लाम के इतिहास पर असर डालने वाली कई संधियों और दस्तावेज़ों के मसविदे लिखे गये और स्वयं मुहम्मद साहब द्वारा इस्लाम के नियमों की विवेचना और विश्लेषण की परम्पराओं की शुरुआत हुई। इस तरह प्रारम्भिक इस्लाम ने मसजिद के दो मिले-जुले मायनों को जन्म दिया : मसजिद इबादत की जगह के रूप में और मसजिद राजनीति के केंद्र के रूप में। आगे चल कर मसजिद के इन्हीं दोनों मायनों ने इस्लाम का धार्मिक-राजनीतिक विमर्श परिभाषित किया और साथ ही साथ इस्लामिक वास्तुकला संबंधी परम्पराओं को भी जन्म दिया।

देखें : अल-किंदी, अल-गज़ाली, अबू-अला मौदूदी, इब्न ख़ालदून, इब्न-रश्द, प्रारम्भिक इस्लाम, जिहाद, दलित-पसमंदा मुसलमान, फ़लसिफ़ा और कलाम, भारतीय इस्लाम, हज़रत मुहम्मद-1 और 2, मुहम्मद अली जिन्ना, मुहम्मद इक़बाल, सैयद अहमद ख़ाँ।

संदर्भ

1. इस्माइल सेराजेल्लिन और जेम्स स्टील (सम्पा.) (1998), *आर्कैटेक्चर ऑफ़ द कंटेम्पेरी मॉस्क* : न्यू आर्कैटेक्चर्स, एकैडमी

- एडीशंस, लंदन.
2. लीह किंगबर्ग (1986), 'इंटरएक्शन बिटवीन दिस वर्ल्ड ऐंड द आप्टरवर्ल्ड इन अली इस्लामिक ट्रेडिशन', *ओरिएंट्स*, खण्ड 29.
 3. के.ए.सी. क्रेसवेल (1953), प्रॉब्लम्स इन इस्लामिक आर्कीटेक्चर, *द आर्ट बुलेटिन*, खण्ड 35, अंक 1.
 4. ओलेग ग्रैबर (1963), 'द इस्लामिक डोम, सम कंसीडरेशंस', *द जर्नल ऑफ द सोसाइटी ऑफ आर्कीटेक्चरल हिस्टोरियन*, खण्ड 22, अंक 4.

—हिलाल अहमद

महादेव गोविंद रानाडे

(Mahadev Govind Ranade)

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सक्रिय रहे सामाजिक और राजनीतिक सुधार आंदोलनों के प्रमुख नेता, इतिहासकार, आर्थिक सिद्धांतकार, पत्रकार और न्यायविद महादेव गोविंद रानाडे (1842-1901) को भारतीय उदारतावाद की दार्शनिक बुनियाद डालने का श्रेय जाता है। भारतीय और युरोपीय दर्शन में पारंगत रानाडे को अपने युग के सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक घटनाक्रम की गहरी समझ थी। उन्होंने अपने परिष्कृत चिंतन से राज्य और व्यक्ति की स्वतंत्रता के बीच टकराव की समस्या का हल पेश करने की कोशिश की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापकों में से एक रानाडे ने सार्वजनिक जीवन में समाज-सुधार के प्रश्नों पर अनुदार रवैया अपनाने वाले तिलक से टक्कर ली और अपने उदारपंथी अनुयायी गोखले का मार्गदर्शन किया। न्यायमूर्ति के सम्बोधन से लोकप्रिय रानाडे ने मुम्बई हाई कोर्ट के जज के रूप में जबरदस्त ख्याति प्राप्त की। उन्होंने बुद्धिवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए मध्ययुगीन धार्मिक साहित्य का अध्ययन करके प्रार्थना समाज, पुणे सार्वजनिक सभा और सोशल कांफ्रेंस जैसे मंचों की स्थापना करके उन्हें अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। रानाडे ने *इंदुप्रकाश* नामक मराठी दैनिक भी निकाला। उनके द्वारा चलाई गयी समाज-सुधार की मुहिमों में विवाह की उम्र बढ़ाने और विधवा विवाह की इजाजत देने के आग्रह उल्लेखनीय हैं। अंग्रेजी राज के साथ सहयोग का रवैया अपनाते हुए भी रानाडे का दावा था कि स्थानीय भाषा और समाज की बेहतर समझ रखने के कारण भारतवासी ही भारत के बेहतर शासक हो सकते हैं। उन्होंने ब्रिटिश अर्थव्यवस्था और अर्थव्यवस्था में राज्य के पूर्ण अ-हस्तक्षेप के सिद्धांत (लैसै-फेयर) की सुसंगत आलोचना भी पेश करते हुए पूँजीवादी विकास के शुरुआती ढाँचे के लिए रास्ता साफ़ किया।

रानाडे का जन्म नासिक जिले के एक चितपावन ब्राह्मण परिवार में 16 जनवरी, 1842 को हुआ था। उनका बचपन कोल्हापुर रियासत में गुजरा जहाँ उनके पिता मंत्री थे। मुम्बई के एल्फ्रिंस्टन कॉलेज से पढ़ने के बाद उन्होंने मुम्बई विश्वविद्यालय से बीए, एमए और एलएलबी की परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट के पद से शुरुआत करके रानाडे 1893 में मुम्बई हाई कोर्ट के न्यायाधीश के पद तक पहुँचे। मुम्बई विश्वविद्यालय के डीन के रूप में छात्रों के बीच में लोकप्रिय रानाडे ने अंग्रेजी की मानक रचनाओं का मराठी में अनुवाद कराया ताकि विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम में स्थानीय भाषाओं को भी जगह मिल सके। रानाडे खुद भी मराठी के लेखक और विद्वान थे। उन्होंने अर्थशास्त्र और मराठा इतिहास (*राइज़ ऑफ़ मराठा पॉवर*) पर लेखन किया।

रानाडे को उनके अनुयायी 'बुद्धिवादी ईश्वरवाद' का पैरोकार कहा करते थे। काफ़ी-कुछ युरोपीय ईश्वरवादी दर्शन से प्रभावित होने के बावजूद उनके विचार हिंदू तत्त्वज्ञान में रचे-बसे थे। 'आस्तिकता का दर्शन' शीर्षक से दिये गये अपने व्याख्यानों में रानाडे का कहना था कि अद्वैत का सिद्धांत मनुष्य की स्वतंत्रता के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता और भौतिकवाद नैतिकता की संयमकारी भूमिका की उपेक्षा करके स्वतंत्रता को अराजकता में पतित कर देता है। इसी तर्क के आधार पर उन्होंने बीच के रास्ते के तौर पर एकेश्वरवाद की पैरोकारी की। उनका दावा था कि भारतीय इतिहास एकेश्वरवादी भावना और बहुदेववादी आचरण के बीच अंतर्विरोध से भरा पड़ा है। रानाडे ने अपने ज़माने में महाराष्ट्र के विद्वत-समाज के बीच प्रचलित इस्लाम विरोधी पूर्वग्रहों के खिलाफ़ संघर्ष किया, और हमदर्द निगाह से ईसाइयत का अध्ययन पेश किया। रानाडे ने अपने एक लेख 'हिंदू प्रोटेस्टेंटिज़म' में महाराष्ट्र के भक्ति आंदोलन (भागवत धर्म) की व्याख्या ईश्वरवाद के रूप में करते हुए योगमार्ग या ज्ञानमार्ग पर उसे प्राथमिकता दी।

रानाडे ने मानवीय स्वतंत्रता और समानता के उसूलों को भी इसी ईश्वरवाद से जोड़ते हुए जाति-प्रथा और सामाजिक ऊँच-नीच का विरोध किया। वे जाति को भारतीय समाज-व्यवस्था पर एक धब्बा मानते थे। जातिगत भेदभाव के खिलाफ़ भागवत धर्म को खड़ा करके उन्होंने तर्क दिया कि भक्ति आंदोलन के दौरान महार, नाई, मोची, कपायी और अन्य नीची जातियों के लोग भी संत बन सकते थे। रानाडे स्त्री-पुरुष समानता के भी पैरोकार थे। इसके लिए उन्होंने वैदिक युग से मिसालें लेते हुए दिखाया कि आर्यों की विवाह पद्धति में किस तरह स्त्रीत्व की स्वतंत्रता और गरिमा का ध्यान रखा जाता था।

रानाडे एक आर्थिक सिद्धांतकार भी थे। उनके निबंध 'इण्डियन पॉलिटिकल इकॉनॉमी' में उन्होंने अर्थव्यवस्था में



महादेव गोविंद रानाडे (1842-1901)

राज्य के अ-हस्तक्षेप की जगह सुविचारित हस्तक्षेप का समर्थन किया। भारतीय अर्थव्यवस्था और समाज का अध्ययन करके वे इस नतीजे पर पहुँचे कि राज्य को 'राष्ट्रीय आवश्यकताएँ' पूरा करने के लिए 'राष्ट्रीय उपकरण' की भूमिका उसी तरह निभानी चाहिए जिस तरह जर्मनी, इटली, फ्रांस और अमेरिका में राज्य द्वारा निभायी गयी है। उनके इन सुझावों से जाहिर था कि वे पूँजीवादी विकास का रास्ता अपनाना चाहते थे। युरोपीय देशों की खेतिहर व्यवस्थाओं में निजी सम्पत्ति के आधार पर हुए परिवर्तनों पर गहरी निगाह डाल कर वे इस नतीजे पर पहुँचे कि अगर भारत के देहात में भी निजी सम्पत्ति का उसूल लागू किया जाए तो ग्रामीण जनता की दशा में सुधार आ सकता है। उन्होंने इस तरह के क़ानून बनाने का सुझाव दिया जिससे छोटे भू-स्वामी किसानों और बड़े पूँजीपति किसानों व ज़मींदारों के दो वर्ग उभरें। इसी लिहाज़ से रानाडे ने 1883 के रैयतवाड़ी क़ानून के संदर्भ में एक तरफ़ तो बंगाल के ज़मींदारों के अधिकार सीमित करने का विरोध किया, पर दूसरी तरफ़ रैयतों को पूरा मालिकाना देने का पक्ष भी लिया। पूँजीवाद के विकास के लिए रानाडे ने अंग्रेज़ सरकार से अपील की कि उसे उद्योगीकरण के लिए उसी तरह पूँजी-निवेश में मदद करनी चाहिए जिस तरह वह रेलवे, खनन, नहर-निर्माण और चाय-काफ़ी के बाज़ारों के लिए कर रही है।

राज्य के हस्तक्षेप को केवल अर्थव्यवस्था के दायरे तक ही सीमित रखने के बजाय रानाडे उसका विस्तार कमज़ोर वर्गों को सुरक्षा देने तक करना चाहते थे। राज्य की भूमिका को और आगे बढ़ाते हुए उन्होंने तर्क दिया कि ऊँची जाति के हिंदुओं के बीच विवाह और परिवार से संबंधित रीति-रिवाज़ों और परम्पराओं में भी उसे दखल देना चाहिए। चूँकि बच्चे और विधवाएँ खुद अपने कष्टों की शिकायत करने की स्थिति में

नहीं होते, इसलिए बेहतर होगा कि राज्य पहलक़दमी ले कर उनकी मदद करे। दूसरी तरफ़ रानाडे को राज्य द्वारा किये जाने वाले समाज-सुधार की सीमाओं का भी एहसास था। इसलिए उन्होंने लोगों द्वारा अपनी सामाजिक संस्थाओं को खुद बदलने के लिए काम करने का आह्वान भी किया।

हरबर्ट स्पेंसर की थीसिस की भाँति रानाडे ने समाज को भी मानवीय जैविक ऑर्गनिज़म की तरह देखने पर जोर दिया। उनका तर्क था कि जिस तरह व्यक्ति के शरीर के सभी अंगों का एक साथ समानुपातिक विकास होता है उसी तरह समाज का भी होना चाहिए। समाज-सुधार के प्रश्न पर उन्होंने तिलक और उनके अनुयायियों से लोहा लिया। तिलक का आरोप था कि वे राजनीतिक अधिकारों की कीमत पर सामाजिक सुधारों की बात कर रहे हैं। लेकिन रानाडे के विचारों को देखने पर ऐसा नहीं लगता। वे मानते थे कि राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक पहलू एक-दूसरे पर पूरी तरह से निर्भर हैं।

रानाडे के उदारतावाद में समाज के प्रभु-वर्ग की भूमिका केंद्रीय थी। उनका विचार था कि भारत जैसे समाजों में मुट्ठी भर लोगों के पास ही योग्यता, सम्पत्ति, ज्ञान और सत्ता का संयोग होता है, इसलिए यहाँ के अभिजन को ही आगे आकर समाज-परिवर्तन का काम अंजाम देना होगा। इसी लिहाज़ से रानाडे के सभी सहयोगी ब्राह्मण, बनिया, ज़मींदार और शिक्षित मध्य-वर्ग से आये थे।

बंगाल के बह्य समाज के तर्ज पर रानाडे ने अपने मित्रों के सहयोग से प्रार्थना समाज की स्थापना की ताकि बुद्धिवादी आस्तिकता के सिद्धांत का प्रचार-प्रसार कर सकें। उन्होंने पुणे सार्वजनिक सभा की स्थापना की और फिर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में हाथ बाँटाया। रानाडे मुम्बई विधान परिषद् के सदस्य और ब्रिटिश सरकार द्वारा गठित वित्त आयोग के सदस्य भी रहे।

हालाँकि रानाडे अंधविश्वास और कर्मकाण्ड का विरोध करते थे, लेकिन अपने निजी जीवन में उनका आचरण परम्परानिष्ठों की तरह था। ईसाई मिशनरियों के साथ चाय-पार्टी में जाने के बाद उनके द्वारा किया गया धार्मिक प्रायश्चित इस विरोधाभास का परिचायक था। अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद उन्होंने अपने पिता के दबाव में एक अनपढ़ बालिका-वधू रमाबाई से विवाह करके अपने समाज-सुधारक साथियों की उम्मीदों पर पानी फेर दिया। दरअसल, विधवा विवाह के ज़बरदस्त पैरोकार रानाडे से सभी को उम्मीद थी कि अब वे किसी विधवा से ही शादी करेंगे। बाद में रानाडे द्वारा शिक्षित रमाबाई ने उनके निधन के बाद समाज-सुधार की मुहिमों में भाग लेना जारी रखा।

देखें : कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, क्राजी नज़रुल इस्लाम, कुमारन्

आशान्, गजानन माधव मुक्तिबोध, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, प्रेमचंद, फ़क्रूर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारतेंदु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रवींद्रनाथ ठाकुर, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, वल्लतोल, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, सुब्रह्मण्य भारती, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

संदर्भ

1. रिचर्ड पी. टकर (1977), *रानाडे ऐंड द रूट्स ऑफ़ इण्डियन नैशनलिज़्म*, पॉपुलर प्रकाशन, मुम्बई.
2. विपिन चंद्र (सम्पा.) (1990), *रानाडेज़ इकॉनॉमिक राइटिंग्स*, ज्ञान बुक्स, नयी दिल्ली.
3. राजेंद्र बोरा (1986), 'टू स्ट्रैंड्स ऑफ़ इण्डियन लिबरलिज़्म : द आइडियाज़ ऑफ़ रानाडे ऐंड फुले', थॉमस पेंथम और केनेथ एल. ड्यूश (सम्पा.), *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया*, सेज, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

महादेवी वर्मा

(Mahadevi Verma)

हिंदी साहित्य के छायावादी काव्यांदोलन के चार सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाकारों में से एक महादेवी वर्मा (1907-1987) को भारतीय स्त्री-विमर्श की आरम्भिक अवस्था के विमर्शकार के रूप में भी देखा जाता है। महादेवी ने 1930 से 36 के बीच *नीहार*, *रश्मि*, *नीरजा* और *सांध्यगीत* काव्य संग्रह रचे। उनकी रचना *दीपशिखा* 1942 में प्रकाशित हुई। इन कविताओं के आधार पर हिंदी के आलोचकों ने उन्हें निजी पीड़ा और विरह-वेदना का भाव प्रस्तुत करने वाली स्त्री-कवि के रूप में चित्रित किया। उनके काव्य को अध्यात्म की छाया और रहस्यवाद के आग्रह तक सीमित रख कर उन्हें आधुनिक युग की मीरा की संज्ञा दे दी गयी। लेकिन परवर्ती समीक्षकों ने जब उनके सम्पूर्ण साहित्य का पुनर्मूल्यांकन किया तो महादेवी की यह छवि बदली। समीक्षकों ने पाया कि उनकी गद्य रचनाओं की संख्या उनकी कविताओं की अपेक्षा कहीं अधिक है जिसमें स्त्री-विमर्श के शुरुआती सूत्रों को देखा जा सकता है। आलोचकों की राय बनी कि उनके निबंधों और संस्मरणों को भी उनकी आत्माभिव्यक्ति के तौर पर देखा जाना चाहिए। इनके ज़रिये तत्कालीन संदर्भों में स्त्री-समाज की स्थिति को समझा जा सकता है। हिंदी प्रदेश में राष्ट्रीय आंदोलन की पृष्ठभूमि, उपनिवेशवाद, राष्ट्र, धर्म, संस्कृति और समाज में पुरुष-प्रधानता की स्त्री दृष्टि से

व्याख्या करने में भी महादेवी का गद्य मददगार है।

महादेवी के समय में कविता की अपेक्षा गद्य में सामाजिक संदर्भों की व्याख्या करने की ठोस ज़मीन निर्मित हो चुकी थी। महादेवी खुद भी लिखती हैं कि विचार के क्षणों में मुझे गद्य लिखना अच्छा लगता है। उनके संस्मरणों में प्रायः उपेक्षित, प्रताड़ित और शोषित चरित्रों का मार्मिक चित्रण मिलता है। उनकी गद्य रचना *अतीत के चलचित्र* 1941 में और *स्मृति की रेखाएँ* 1943 में प्रकाशित हुईं। इसके अलावा उन्होंने संस्मरणों के रूप में *पथ के साथी* (1946), *मेरा परिवार* (1972) और *संस्मरण* (1983) की रचना भी की। इनमें सेवक रामा, भंगिन सबिया, भाभी, बिट्टो, घिसा, अभागी स्त्री, ठकुरी बाबा, बिंदिया, भक्तिन, कुली भाई और गुँगिया जैसे चरित्र मिलते हैं जो उनके जीवन के निकट थे।

उनके निबंधों को स्त्री-जीवन के महत्वपूर्ण दस्तावेज़ों के रूप में देखा गया है, लेकिन ये निबंध केवल स्त्री-समाज पर ही केंद्रित नहीं हैं बल्कि विभिन्न सामाजिक पहलुओं पर लिखे गये हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन में महादेवी के गद्य पर अपेक्षित ध्यान न देने से ही पता चलता है कि हिंदी की दुनिया में सामाजिक-ऐतिहासिक विश्लेषण के अंतर्गत स्त्री-लेखन व साहित्य की उपेक्षा की गयी है। महादेवी भारतीय नारी के मानस और दशाओं के प्रति सजग थी। 1942 में प्रकाशित उनके निबंध संग्रह *शृंखला की कड़ियाँ* को राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में भारतीय समाज व स्त्रियों की दशा के बारे में महत्वपूर्ण दस्तावेज़ के रूप में देखा गया है। भारतीय स्त्री जिन विषम परिस्थितियों का सामना कर रही थीं उनसे मुक्ति के लिए उन्होंने स्त्री-शिक्षा व विभिन्न क्षेत्रों में स्त्री की आत्मनिर्भरता को आवश्यक माना। स्त्री पुरुष की छाया है— समाज में व्याप्त इस धारणा के उद्भव पर विचार करते हुए वे भारतीय हिंदू समाज में पितृसत्ता के विकास और स्त्री-पराधीनता के कारणों की तरफ़ भी संकेत करती हैं। भारतीय स्त्री की वर्तमान स्थिति के बारे में वे लिखती हैं कि एक ओर उसे देव मंदिर की अधिष्ठात्री देवी बना दिया जाता है तो दूसरी ओर उसे घर के मलिन अँधेरे कोनों में बंदी बना कर रखा जाता है। वे मानती थीं कि हमारे अधिकार हमारी शक्ति और विवेक के सापेक्ष रहेंगे, इसलिए वे स्त्री की शक्तियों को जाग्रत करने पर ध्यान देती हैं। महादेवी के अनुसार शिक्षित स्त्री अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व और विवेक तभी पूर्ण रूप से जाग्रत कर सकती है जब वह अपनी सफलता-विफलता पुरुष की आत्मतुष्टि या असंतोष में देखने के बजाय अपने भीतर देखने का प्रयत्न करे। वे पुरुष के समान स्त्री को कुटुम्ब, समाज, नगर तथा राष्ट्र की विशिष्ट सदस्य के रूप में देखती हैं।

महादेवी पश्चिम तथा पूर्व के राष्ट्रों में स्त्री की सामाजिक स्थिति में अंतर करती हैं। वे लिखती हैं— 'जाग्रत देशों की स्त्रियों ने पुरुष स्वामित्व के खिलाफ प्रदर्शन कर स्वयं को बर्बरता व हिंसा से मुक्त कर लिया। ऐसे देशों की स्त्रियों ने राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार के अधिकारों द्वारा अपनी शक्तियों का विकास कर लिया है। वे घर और बाहर दोनों क्षेत्रों में पुरुषों के साथ अपने देश और समाज के लिए काम कर रही हैं। लेकिन हमारे देश में सम्पत्ति के स्वामित्व से वंचित होने के कारण स्त्रियों का जीवन तुच्छ है। स्त्री पुरुष की सम्पत्ति और प्रदर्शन की वस्तु समझी जाती है।' महादेवी अपने समय में सती और विधवाओं की दशा का वर्णन भी करती हैं। कानून बन जाने के बावजूद सदियों पुरानी रूढ़ियों को हिंदू समाज स्त्रियों पर लागू किये हुए था। महादेवी स्त्रियों का पुरुषों पर निर्भर होना ही उनकी दासता का कारण मानती थीं, इसलिए वे समस्या का एकमात्र समाधान स्त्री द्वारा अर्थ-संबंधी सुविधाओं को प्राप्त करना बताती हैं। इस तरह स्त्रियाँ परिवार पर बोझ नहीं बनेंगी और न ही उन्हें सामाजिक बहिष्कार झेलना पड़ेगा। महादेवी के अनुसार केवल पुरुष-परिषदों व संस्थानों के लिए स्त्रियों को रखा जाए, यह भी स्त्री समाज के विकास में बाधक है। वे अपने समय की शिक्षित स्त्रियों के लिए यह भी आवश्यक मानती हैं कि वे अन्य स्त्रियों के प्रति अपने विचारों व कार्यों का सदुपयोग करें, तभी वे समाज के विकास में सहायक बन सकेंगी। वे जाग्रत और साधनसम्पन्न स्त्रियों से समाज और देश के लिए कुछ करने की अपेक्षा करती हैं। महादेवी लिखती हैं : 'राजनीतिक अधिकारों से भी पहले स्त्रियों को ऐसी सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता है जिससे उनके जीवन में कुछ स्वावलम्बन, कुछ आत्मविश्वास आ सके। उसकी दुर्बलताएँ अनेक हैं और सांसारिक संघर्ष घोरतर।'

महादेवी वर्ग के आधार पर भी स्त्री की सामाजिक स्थिति का विश्लेषण करती हैं। मिल-कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों की दुर्दशा के बारे में वे लिखती हैं कि श्रमजीवी श्रेणी की स्त्रियों को घर के कामकाज के अलावा बाहर के कामों में पति के साथ हाथ बँटाना पड़ता है। राष्ट्रीय आंदोलन के उभार के साथ यह सच्चाई स्पष्ट होती जा रही थी कि कृषक और श्रमजीवी स्त्रियों की संख्या अधिक है और उनकी जागृति के बिना पूरे समाज की जागृति अपूर्ण रहेगी। स्त्रियों को अधिकार व उत्तराधिकार मिल जाने पर भी मजदूर स्त्रियाँ निर्धन पिता या दरिद्र पति

से गरीबी के अतिरिक्त और क्या पा सकेंगी। इसलिए महादेवी स्त्री की आर्थिक स्थिति पर चिंतन करते हुए भी स्त्रियों की शिक्षा को महत्त्वपूर्ण मानती हैं। श्रम करती हुई स्त्री का कई स्तरों पर शोषण होता है, मजदूरी में शोषण के अलावा उनके स्वत्व की हत्या होती है क्योंकि इन स्त्रियों की स्थिति धनिक और साधारण श्रेणी की स्त्रियों से भिन्न है। महादेवी के अनुसार शिक्षा, चिकित्सा आदि विभागों में कार्य करने वाली जागृत महिलाओं ने अपना एक अलग समाज बना लिया है। मिथ्या परम्परा की दुहाई देते रहना समाज व राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध होगा। मानसिक दासता से मुक्ति को वे आवश्यक मानती थी।



महादेवी वर्मा (1907-1987)

'युद्ध और नारी' नामक निबंध में महादेवी युद्ध को स्त्री की प्रकृति व मनोवृत्त के विपरीत मानती हैं। हिंसा व रक्तपात को वे स्त्री की प्रकृति व स्वाभाविक गुण नहीं मानतीं। युद्ध स्त्री के शारीरिक व मानसिक विकास में बाधक रहा है, क्योंकि हिंसा करने वाले पुरुष-समाज के लिए स्त्री केवल एक देह है।

सैनिक के लिए स्त्री के मानवीय गुणों का महत्त्व नहीं होता। इसलिए महादेवी ध्वंस के लिए ध्वंस को आवश्यक मानने से इनकार करती हैं। 'नारीत्व का अभिशाप' नामक निबंध में वे स्त्री को कमजोर बनाने वाली वृत्तियों को छोड़ने की बात करती हैं। अतीत हिंदू नारी की गौरव-गाथा के भ्रम से वर्तमान में बदलाव लाने में बाधक बन रहा है। अपने पिता के घर में उसे वैसा ही स्थान मिलता है जैसा दूकान में रखी किसी वस्तु को प्राप्त होता है, जिसके रखने और बेचने दोनों ही स्थितियों में दूकानदार को हानि की सम्भावना रहती है। स्त्री का विधवा होना उसके जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बन जाता है। आधुनिक युग की स्त्री की स्थिति पर विचार करते हुए वे लिखती हैं कि आर्थिक रूप से स्वतंत्र स्त्री पुरुष की अधीनता से मुक्त हो जाएगी, जैसा कि पश्चिम के देशों में देखा जा सकता है। त्याग, सहनशीलता आदि स्त्री के गुणों को वे मातृत्व की पूर्ति करने वाले प्रकृति से मिले स्वाभाविक गुण मानती हैं, न कि ऐसे गुण जिनके लिए पुरुष स्त्री को हीन मान कर इसके लिए हमेशा बाध्य करता रहे।

आधुनिक वातावरण में स्त्री की कठिनाइयों पर विचार करते हुए महादेवी प्राचीन विचारों के हामी पुरुष समाज पर टिप्पणी करती हैं कि वे स्त्रियों के प्रति अवहेलना की दृष्टि रखते हैं। राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने वाली महिलाओं ने आधुनिकता को राष्ट्रीय जागृति के रूप में देखा। आंदोलन के समय स्त्रियों ने संयम और कठोर जीवन स्वीकार किया। स्त्री

के लिए घर और बाहर दो क्षेत्रों में स्पष्ट विभाजन रहा है। वे दोनों क्षेत्रों को स्त्री-जीवन के विकास के लिए आवश्यक मानती थी और यह भी कहती हैं कि पुरुष के लिए भी घर उतना ही जरूरी है जितना कि स्त्री के लिए। वे घर और बाहर के क्षेत्र का वर्गीय चरित्र भी स्पष्ट करती हैं। दरिद्र और श्रमजीवी वर्ग की स्त्रियों के लिए घर और बाहर की कोई समस्या नहीं है, क्योंकि उन तक शिक्षा पहुँची ही नहीं है। इस पिछड़े हुए वर्ग की सामाजिक स्थिति में स्त्रियाँ हमेशा पुरुष के साथ हैं और उसकी सहयोगी हैं। घर और बाहर के क्षेत्र का विभाजन केवल उच्च और साधारण वर्ग की स्त्रियों के लिए है जहाँ पुरुष स्त्री को घर की सम्पत्ति की तरह रखता है।

पश्चिम की अपेक्षा भारत में साधारण स्त्रियों के जीवन में मातृत्व के महत्त्व के बारे में महादेवी स्पष्ट लिखती हैं कि इस तरह का दृष्टिकोण आधुनिक समाज में मौजूद है। इसलिए पुरुष स्त्री के केवल दो ही रूपों को बढ़ने देता है—माँ और पत्नी। घर से बाहर स्त्री को स्वाधीनता देने में पुरुष समाज परहेज़ करता रहा है। स्त्री के दासत्व से विकासशील समाज का निर्माण करना कठिन है।

हिंदू स्त्री, विधवा जीवन और स्त्री जीवन पर महादेवी के विचार स्त्री-विमर्श के संदर्भ में उन्हें प्रासंगिक बना देते हैं। अतीत के प्रति मोह और धार्मिक बंधनों को वे स्त्री के विकास और प्रगतिशील जीवन का लक्ष्य नहीं मानतीं। श्रमजीवी वर्ग की स्त्रियाँ घर भी सँभालती हैं और जीविका के उपार्जन में पुरुष का सहयोग भी देती हैं फिर भी सच्ची नागरिक और सामाजिक प्राणी नहीं बन पाती। महादेवी देह व्यवसाय को पूरे समाज के पतन का कारण मानती हैं। स्त्रियों को कलंकित करके समाज से बहिष्कृत करने वाला समाज यह नहीं देखता कि स्त्रियाँ स्वेच्छा से इस व्यवसाय को नहीं स्वीकार करती।

महादेवी अपने समय में देख रहीं थी कि साधारण और श्रमजीवी वर्ग से लेकर सम्पन्न वर्ग की स्त्रियों तक की स्थिति दयनीय है और इसका कारण है स्त्री की आर्थिक विपन्नता। शिक्षा के क्षेत्र से जुड़ी समस्याओं के संदर्भ में वे आधुनिक समाज में बढ़ती स्वार्थपरता और जीविका संबंधी बेकारी को चिंता का विषय मानती हैं। चूँकि स्त्रियों के लिए व्यवसाय के क्षेत्र चिकित्सा, अध्यापन और लेखन तक ही सीमित थे, इसलिए वे अन्य कार्य-क्षेत्रों को विकसित करना आवश्यक बताती हैं। जिस कवयित्री को साहित्यिक समीक्षा कल्पनालोक में विचरण करने वाली बता रही थी, वह अपने निबंध 'जीने की कला' में कहती हैं कि जीवन का लक्ष्य केवल कल्पनालोक में विचरण नहीं है। महादेवी मनुष्य के बाहरी सामाजिक जीवन और वैयक्तिक आंतरिक जीवन को

एक दूसरे के सापेक्ष बनाने पर बल देती हैं।

देखें : अरुणा आसफ़ अली, आनंदीबाई जोशी, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में स्त्री-नेतृत्व-1 और 2, कमला देवी चट्टोपाध्याय, दलित-नारीवाद, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, दुर्गाबाई देशमुख, संतोष कुमारी देवी, सावित्रीबाई फुले।

संदर्भ

1. करीन शोमर (1998), *महादेवी वर्मा ऐंड द छायावाद एज ऑफ़ मॉडर्न हिंदी पोएट्री*, ऑक्सफ़र्ड इण्डिया पेपरबैक्स, नयी दिल्ली.
2. इंद्र नाथ मदान (2009), *महादेवी*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. दूधनाथ सिंह (2009), *महादेवी*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. महादेवी वर्मा (2004), *शृंखला की कड़ियाँ*, लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. नामवर सिंह (2004), *छायावाद*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. महादेवी वर्मा (1997), *अतीत के चलचित्र*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. रामचंद्र शुक्ल (1941), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी.

—शिवानी चोपड़ा

महाभारत

(Mahabharat)

भारतीय समाज और मानस पर गहरी छाप छोड़ने वाला संस्कृत महाकाव्य *महाभारत* खेत-खलिहान, बाग-बगीचे से लेकर चौपाल तक समान रूप से व्याप्त है। उसकी मुख्यकथा के साथ ही उसकी उपकथाएँ रोज़ की चर्चाओं में प्रायः शामिल होती हैं। न जाने कितने लोक-कण्ठों ने उसकी कथाओं को अपना विषय-वस्तु बना कर गीत रचे और उन्हें स्वर प्रदान किया। कवियों, उपन्यासकारों, नाटककारों और विमर्शकारों को समान रूप से आकृष्ट करने वाले इस महाकाव्य के आलोचनात्मक अध्ययन की ओर सबसे पहले लासेन का ध्यान गया था। *महाभारत* में तीन कथावाचक हैं : व्यास, वैशम्पायन और गल्वगणकपुत्र उग्रश्रवा सौति। व्यास ने इसे वैशम्पायन को सुनाया, वैशम्पायन ने जनमेय को और उग्रश्रवा सौति ने कुलपति शौनक के नैमिषारण्य में होने वाले द्वादशवर्षीय सत्र में ब्रह्मचारी ऋषियों को। पूरा *महाभारत* अट्टारह पर्वों में विभक्त है : आदिपर्व, सभापर्व, वनपर्व, विराटपर्व, उद्योगपर्व, भीष्मपर्व, द्रोणपर्व, कर्णपर्व, शल्यपर्व, सौतिपर्व, स्त्रीपर्व, शांतिपर्व, अनुशासनपर्व, आश्रमेधिक पर्व,

आश्रमवासिक पर्व, मौसलपर्व, महाप्रस्थानिक पर्व और स्वर्गारोहण पर्व। इसके अलावा सौ अवांतर पर्वों की भी चर्चा है। अनेक आख्यानों और उपाख्यानों वाली इस अनूठी रचना में मुख्य आख्यान कौरवों और पाण्डवों के बीच युद्ध ही है। *महाभारत* के सारे पात्र खास तौर से भीष्म, विदुर, द्रोण, कृष्ण, कर्ण, भीष्म, अर्जुन, सहदेव, नकुल, द्रौपदी, गांधारी, दुर्योधन आदि के कार्य-व्यवहार, जीवनवृत्त और संवाद विशेष महत्त्व रखते हैं। इनमें से किसी को भी छोड़कर *महाभारत* की पूर्णता की कल्पना नहीं की जा सकती। दुष्यंत-शकुंतला, नल-दमयंती आदि जैसी कई उपकथाओं का भी काफ़ी महत्त्व है तथा अनेक रचनाकारों ने *महाभारत* से कथाएँ लेकर स्वतंत्र ग्रंथ रचकर भारत की साहित्यिक व सांस्कृतिक विरासत समृद्ध की है। धार्मिक, नीति-संगत, तथा दार्शनिक दृष्टि से विदुर के विचार एवं *महाभारत* के अंग के रूप में *गीता* का दर्शन भी उल्लेखनीय है। *गीता* के प्रभाव में विवेकानंद, बाल गंगाधर तिलक तथा गाँधी ने अपने-अपने ढंग से भारतीय राष्ट्रवाद की रचना की। इस लिहाज़ से भारतीय आधुनिकता को उसका विशिष्ट रूप देने में इस महाकाव्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। *महाभारत* का भारतीय साहित्य और संस्कृति के ऊपर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है। भास के छह संस्कृत नाटकों से लेकर बीसवीं सदी में धर्मवीर भारती रचित *अंधा युग* तक ऐसे अनगिनत उदाहरण देखे जा सकते हैं। इस महाकाव्य ने जनजातीय संस्कृति को भी प्रभावित किया है। छत्तीसगढ़ की पंडवानी और गुजरात में भीलों का महाभारत इसका प्रमाण है।

महाभारत की मुख्य कथा धृतराष्ट्र और पाण्डु पुत्रों के बीच हुए युद्ध के पहले उनके कुल-पूर्वजों की चर्चा के साथ की शुरू होती है। मनु की पुत्री इला और चंद्र से उत्पन्न क्षत्रिय चंद्रवंशी कहलाये। चंद्रवंश के पहले राजा पुरुरवा हुए जिन्हें आगे चलकर कालिदास ने अपने नाटक *विक्रमोर्वशीयम्* का नायक बनाया। इसी वंश के दूसरे प्रसिद्ध राजा ययाति हुए। ययाति की दो रानियाँ थीं देवयानी और शर्मिष्ठा। महाकाव्य में शर्मिष्ठा को असुरों के राजा और ईरान नरेश वृषपर्वा की पुत्री तथा देवयानी को असुरों के गुरु शुक्राचार्य की पुत्री बताया गया है। जीवन के अंत में ययाति अपनी दोनों पत्नियों सहित अपने पुत्र पुरु को राज्य-भार सौंप कर जंगल प्रस्थान कर गये।

पुरु वंशजों में एक राजा दुष्यंत हुए। कालिदास के प्रसिद्ध नाटक *अभिज्ञानशाकुंतल* की नायिका शकुंतला और दुष्यंत के संयोग से भरत नाम पुत्र पैदा हुआ। मान्यता है कि इस भरत के नाम पर ही भारत देश बना। भरत के वंशजों में एक यशस्वी राजा हस्ती हुए जिन्होंने गंगा के पश्चिमी किनारे पर हस्तिनापुर नगर बसाया और वही उनकी राजधानी भी बना। महाराजा हस्ती के वंशजों में उनके प्रपौत्र कुरु पैदा हुए।

जिन्होंने गंगा और यमुना के दोआब के ऊपरी उपजाऊ भाग को जीत कर उसे कुरुक्षेत्र नाम दिया। इसी वंश में आगे चलकर एक राजा शांतनु पैदा हुए। शांतनु का एक पुत्र देवव्रत (भीष्म) गंगा नदी से उनके संयोग से पैदा हुआ। भीष्म के जन्म के समय ही गंगा ने शांतनु को त्याग दिया। शांतनु का बाद में एक मत्स्यकन्या सत्यवती से प्रेम हुआ किंतु वह भीष्म की जगह अपनी संतान को ही राज्य देने की शर्त ही पर उनके साथ विवाह को तैयार हुई। शांतनु इस शर्त को मानने के लिए तैयार न थे। भीष्म को इस बात का पता चलने पर उन्होंने आजीवन अविवाहित रहने का भीषण संकल्प लेकर शांतनु की समस्या का समाधान किया। सत्यवती से दो पुत्र हुए, उनमें से एक बचपन में ही मर गया और दूसरी संतान विचित्रवीर्य को शांतनु के बाद राज्य प्राप्त हुआ। काशिराज की दो कन्याओं अंबिका और अंबालिका का विवाह भीष्म ने बलपूर्वक विचित्रवीर्य से करा दिया। लेकिन विचित्रवीर्य संतानहीन ही मरे। तब भीष्म की सम्मति से सत्यवती के व्यास से कहने पर विचित्रवीर्य की विधवाओं से नियोग के जरिये विचित्रवीर्य के दो पुत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु हुए। धृतराष्ट्र के अंधे होने की वजह से पाण्डु ने कुछ समय तक राज्य किया। उसके बाद वे पत्नियों सहित जंगल चले गये और वहीं मृत्यु को प्राप्त किया। उनकी दो पत्नियाँ थीं। उनमें से एक माद्री उनके साथ चिता में जलकर सती हो गयी तथा दूसरी कुंती पाण्डु पुत्रों की देख-रेख के लिए रह गयीं। कुंती युद्धोपरांत भी जीवित रहीं।

पांडु के पाँचों पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव पाण्डव कहलाये तथा धृतराष्ट्र के सौ पुत्र हुए जिन्हें कौरव कहा गया। पाण्डवों ने अपने पौरुष से काफ़ी धन-सम्पत्ति कमायी। धृतराष्ट्र के बड़े पुत्र दुर्योधन ने धृतराष्ट्र से पाण्डवों जैसी धन-सम्पत्ति पाने की इच्छा जतायी। विशेष रूप से एक सभा-कक्ष तैयार करके जुआ खेलने के लिए युधिष्ठिर समेत सभी भाइयों को आमंत्रित किया गया। दुर्योधन की ओर से शकुनि ने पासे फेंके और पाण्डवों की तरफ से युधिष्ठिर ने खेलना शुरू किया। युधिष्ठिर एक-एक कर सारी चीजें हारते चले गये और अंत में द्रौपदी को भी हार बैठे। द्रौपदी को जुआ के आयोजन-स्थल पर घसीट कर लाने का काम दुर्योधन के भाई दुःशासन ने किया, और भरी सभा में उसका चीरहरण किया। दुर्योधन ने उसे अपनी जाँघ पर बैठने को भी कहा। द्रौपदी ने वहाँ उपस्थित सभी जनों को धिक्कारते हुए कहा कि युधिष्ठिर को उसे दाँव पर लगाने का क्या अधिकार था? एक रजस्वला स्त्री का इस तरह से इतने लोगों के सामने चीरहरण किया जाना और सबका मौन साधे रहना कहाँ तक उचित है? अंत में असहाय होकर कृष्ण को पुकारने पर कृष्ण ने चीर बढ़ा कर उसकी रक्षा की। पाण्डवों से अपनी सम्पत्ति पुनः वापस पाने के लिए बारह बरस का वनवास तथा एक वर्ष अज्ञातवास

की शर्त रखी गयी। वनवास व अज्ञातवास की समाप्ति के बाद भी दुर्योधन पाण्डवों को सुई की नोंक के बराबर भी राज्य देने को तैयार नहीं हुआ। अंततः कुरुक्षेत्र में महाभारत का भीषण युद्ध हुआ जिसमें युधिष्ठिर की जीत हुई।

महाभारत के दो अन्य नाम 'जय' और 'भारत' भी बताये जाते हैं। इसके तीन अलग-अलग लेखकों का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ की विशालता देखते हुए कह पाना मुश्किल है कि इसकी रचना किसी एक व्यक्ति ने एक ही समय में की होगी। समय के साथ-साथ इसकी मोटाई बढ़ती गयी और नयी-नयी चीजें भी जुड़ती गयीं। दृष्टांत है कि वेदव्यास ने तीन वर्षों तक कठिन मेहनत कर तैयार करने के बाद ब्रह्मा की प्रेरणा से इसे गणेश से लिखवाया। अपने पुत्र शुकदेव और वैशम्पायन आदि शिष्यों को पढ़ाया और जिसका प्रवचन उन्हीं की आज्ञा से महाराज जनमेजय के सर्प-सत्र (यज्ञ) में वैशम्पायन द्वारा किया गया। इसी आधार पर कुछ विद्वान प्रथम रचयिता वेदव्यास की कृति को 'जय', दूसरे रचनाकार वैशम्पायन की कृति को 'भारत' तथा तीसरे लेखक के रूप में सौति को मानते हुए उन्हें महाभारत का लेखक मानते हैं। किंतु महाभारत के आदि पर्व (1.208) के एक श्लोक के अनुसार, 'पूर्वकाल में सब देवताओं और ऋषियों ने मिलकर तराजू के एक ओर चारों वेद और दूसरी ओर इस भारत को तोला, तो महत्त्व और भारीपन में यही भारत भारी निकला।' और अगले श्लोक (आदि पर्व, 1.209) में कहा गया है, 'महत्त्वपूर्ण और भारी होने के कारण ही इसे महाभारत कहते हैं।' महाभारत में एक लाख श्लोकों की संख्या स्वीकारी जाती है। सातवलेकर की मान्यता है कि व्यास के मूल ग्रंथ में करीब 24 हजार श्लोक रहे होंगे क्योंकि आदि पर्व में सूत उग्रश्रवा शौनक से कहते हैं : '24 सहस्र श्लोकों में भारत संहिता रची थी। पण्डित जन उपाख्यान से रहित उन्हीं 24 सहस्र श्लोकों ही को 'भारत' कहा करते हैं।' (आदि पर्व, 1.61) उपर्युक्त 24 हजार श्लोकों की बात उग्रश्रवा कहते हैं। आगे वैशम्पायन कहते हैं कि परम तेजस्वी सत्यवती सुत ने पवित्र एक लाख श्लोकों में पुण्य कर्म करने वाले पाण्डवों के इस आख्यान को कहा है। (56.13) एक लाख को बढ़ाकर 24 हजार नहीं किया जा सकता, 24 हजार बढ़ाकर एक लाख अवश्य किये जा सकते हैं। 24 हजार की बात सूतपुत्र उग्रश्रवा ने कही, एक लाख श्लोकों की बात वैशम्पायन ने कही। इसलिए यह मानना उचित होगा कि महाभारत में पहली बार बहुत से अंश जोड़ने का श्रेय वैशम्पायन को है।

जनमेजय और महाभारत के समय के बारे में सातवलेकर की मान्यता है : 'इस जनमेजय का समय ईसा पूर्व 3000 का निश्चित किया जाता है। यदि यह मान लिया जाए तो महाभारत युद्ध को कम से कम तो 3100 ईसापूर्व

मानना पड़ेगा। इस प्रकार सौ-डेढ़ सौ वर्ष के बाद जय का दूसरा संस्करण भारत के रूप में अस्तित्व में आया।' फिर यह मान कर कि वैशम्पायन का संस्करण अधिक प्राचीन है, द्वापर और कलियुग के वर्षों की संख्या का हिसाब लगा कर और सी.वी. वैद्य का मत उद्धृत करने के बाद सातवलेकर कहते हैं : 'महाभारत का युद्ध ईसापूर्व 3100 के आसपास हुआ और उस युद्ध का तथा कौरव-पाण्डवों का आँखों-देखा इतिहास व्यास ने जय नामक एक छोटे से ग्रंथ में किया जिसे ईसा पूर्व 3000 के आसपास वैशम्पायन ने परिवर्धित करके सर्पसत्र के अवसर पर राजा जनमेजय को सुनाया। तत्पश्चात् उसके अनेक वर्षों के बाद ईसापूर्व 250 या 300 के आसपास सौति ने उसमें परिवर्धन करके नैमिषारण्य में यज्ञ के अवसर पर शौनक को सुनाया।'

इस प्रकार एक लम्बे समय तक महाभारत में संशोधन-परिवर्धन होता रहा। महाभारत के रूप में जो कुछ भी आज उपलब्ध है वह वैशम्पायन का संस्करण ही है और वैशम्पायन के संस्करण का नाम ही 'भारत' है किंतु आज 'भारत' और व्यास के संस्करण 'जय' दोनों महाभारत में विलीन हो चुके हैं। दोनों को पृथक-पृथक खोज पाना काफ़ी कठिन होगा। यह अपने आप में अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, मोक्षशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा दार्शनिक ग्रंथ भी है। महाभारत में आख्यानों की प्राचीनता का प्रमाण हमें कात्यायन के वार्तिक तथा पंतजलि के महाभाष्य से भलीभाँति मिलता है। पंतजलि ने अपने भाष्य में यवक्रीत, प्रियंगु तथा ययाति के आख्यानों का उल्लेख किया है। इनमें से यवक्रीत तथा ययाति का आख्यान महाभारत में आदिपर्व और वनपर्व उपलब्ध है। फलतः इन आख्यानों से संबलित महाभारत का प्रणयन पंतजलि से पूर्वकाल में निष्पन्न हो चुका था। इतना ही नहीं, आश्वलायन ब्रह्मसूत्र में तर्पण के अवसर पर भारत तथा महाभारत दोनों ग्रंथों के धर्माचार्यों का पृथक-पृथक तर्पणविधान का निर्देश किया गया है। इससे लगता है कि महाभारत का मौजूदा स्वरूप काफ़ी पहले आ गया था।

महाभारत के आलोचनात्मक अध्ययन की ओर सर्वप्रथम लासेन का ध्यान गया। 1837 में उन्होंने इण्डियन एंटीक्विटीज़ नामक पुस्तक लिख कर दावा किया कि जिस महाभारत को सूत ने कहा, वह वास्तव में मूल पुराण 'भारत' का द्वितीय संस्करण है। 1852 में जर्मन विद्वान मैक्स वेबर ने महाभारत के संदर्भ में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक इण्डियन स्टूडियेन में कहा कि ऋग्वेद की 'नाराशंस्य' गाथाएँ और 'दानस्तुतियाँ' महाभारत का मूल स्रोत हैं। यज्ञ के अवसरों पर इनका गान होता था। कुरुवंश की कुछ ऐसी ही गाथाएँ रही होंगी। विस्तार होते-होते उन्हीं से महाभारत बन गया होगा। 1908 में जर्नल ऑफ़ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में प्रकाशित ग्रियर्सन के एक लेख के मुताबिक प्राचीन भारत में

ब्राह्मण-क्षत्रियों का झगड़ा बराबर चलता रहा। मध्य प्रदेश में ब्राह्मणों का जोर था, पर कुरु प्रदेशों में अधिक स्वतंत्रता थी। पंचाल में बहुपति-विवाह भी जायज़ समझा जाता था। पंचाल देश के राजा द्रुपद ने द्रोणाचार्य का अपमान किया था, जिन्होंने कुरुओं के यहाँ शरण ली। उसी अपमान का बदला चुकाने के लिए कौरव-पांचालों में युद्ध हुआ। इस तरह महाभारत कौरव-पाण्डवों का नहीं, कौरव-पांचालों का युद्ध था। सर बेरिडेल कीथ ने पाण्डवों के मंगोलियन होने की सम्भावना व्यक्त की है। इस तरह से दुनिया में तरह-तरह के विद्वानों ने महाभारत को अपने अध्ययन का विषय बनाया है और इस बारे में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये हैं।

1834-39 में कलकत्ता से बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने महाभारत का प्रकाशन किया। बाद में कुछ लोगों ने मिलकर मुम्बई और चेन्नई से भी इसे छापा। 1897 में पेरिस में हुए प्राच्यविद्याविदों के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में विंटरनित्स ने महाभारत के सम्यक अध्ययन के लिए उसके प्रामाणिक संस्करण की आवश्यकता पर बल दिया। 1908 में लूडर्स ने उसका एक प्रारूप भी प्रस्तुत किया। पुणे के भण्डारकर प्राच्य विद्या-शोध-संस्थान ने 1918 में महाभारत का एक प्रामाणिक (क्रिटिकल) संस्करण निकालने का निश्चय किया। सुखणकर ने 1925 से इस पर काम करना शुरू किया। चार दशक तक गहन अध्ययन और परिश्रम के बाद यह 1966 में तैयार हुआ। अनेक महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियों के आधार पर और अप्रासंगिक प्रसंगों को हटाते हुए जो संस्करण तैयार किया गया उसे ही आज प्रामाणिक माना जाता है।

देखें : आर्यभट्ट और आर्यभटीय, उपनिषद्, कपिल, अर्थशास्त्र और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पतंजलि और योगसूत्र, पाणिनि और अष्टाध्यायी, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, भगवद्गीता, भरत और नाट्यशास्त्र, मुकुंद लाठ, भागवत पुराण, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और कामसूत्र, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. रामविलास शर्मा (2010), भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, किताब घर प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय (1999), भारतीय धर्म और दर्शन, चौखम्भा पब्लिशर्स, गोकुल भवन, वाराणसी.

—अजय कुमार पाण्डेय

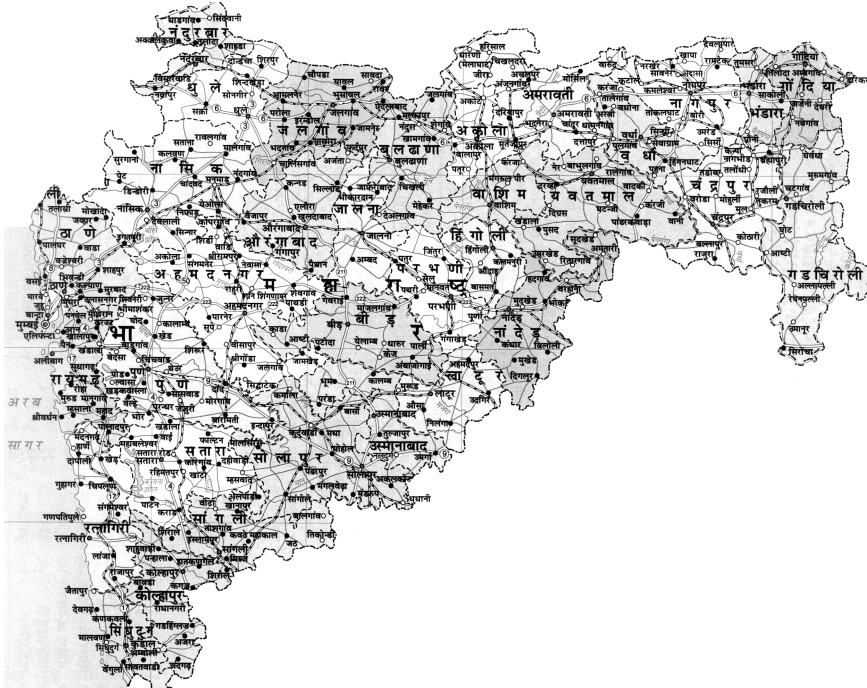
महाराष्ट्र

(Maharashtra)

भारत के दक्षिण-पश्चिम में स्थित राज्य महाराष्ट्र का गठन राज्यों के भाषावार पुनर्गठन की माँग के तहत एक मई, 1960 को हुआ था। इस दिन को महाराष्ट्र दिवस के रूप में मनाया जाता है। मराठी के लोगों के लिए एक अलग राज्य के रूप में महाराष्ट्र की माँग बहुत पुरानी थी। गठन के बाद इसकी राजनीति में कई बदलाव हुए हैं। लम्बे समय तक कांग्रेस का वर्चस्व रहने के बाद अब यह पार्टी अपने शासन के लिए न सिर्फ दूसरे दलों पर निर्भर है बल्कि उसे कड़ी राजनीतिक प्रतियोगिता का भी सामना करना पड़ता है। महाराष्ट्र की राजनीति में पिछड़ी और दलित जातियों की सक्रियता भी बढ़ी है लेकिन यहाँ बिहार और उत्तर प्रदेश की तरह पिछड़ी जातियों का उभार नहीं हुआ है। महाराष्ट्र में साम्प्रदायिक और जातीय पहचान की संकुचित राजनीति ने भी अपने पैर जमाये हैं। भूमण्डलीकरण के कारण शहरी क्षेत्रों में भले ही विकास हुआ हो, लेकिन ग्रामीण इलाकों में किसान इससे बुरी तरह त्रस्त हैं। महाराष्ट्र में किसानों द्वारा की जा रही आत्महत्याएँ इसका सबसे बड़ा उदाहरण हैं। विदर्भ इलाके में तो लाखों किसानों ने कर्ज से त्रस्त होकर अपना जीवन समाप्त कर लिया, लेकिन यह इस दौर की राजनीति में बड़ा मुद्दा नहीं बन पाया।

महाराष्ट्र का क्षेत्रफल 3,08,000 वर्ग किमी है। क्षेत्रफल के हिसाब से यह देश का तीसरा सबसे बड़ा राज्य है। इसके उत्तर में मध्य प्रदेश, पूरब में छत्तीसगढ़, दक्षिण-पूर्व में आंध्र प्रदेश, दक्षिण में कर्नाटक और दक्षिण-पश्चिम में गोवा स्थित है। इसके उत्तर-पूर्व में गुजरात राज्य है और इनके बीच में केंद्र शासित प्रदेश दादरा और नगर हवेली स्थित है। महाराष्ट्र के पश्चिम में अरब सागर है। 2011 की जनगणना के अनुसार महाराष्ट्र की जनसंख्या 11,23,72,972 है। इस लिहाज से उत्तर प्रदेश के बाद भारत का दूसरा सबसे बड़ा राज्य है। इसका जनसंख्या घनत्व 365.2 प्रति वर्ग किमी और 2011 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल साक्षरता दर 82.9 प्रतिशत है। साक्षरता के मामले में पूरे भारत में इसका छठवाँ स्थान है। यहाँ की आधिकारिक भाषा मराठी है। इसके अलावा राज्य में हिंदी भी बड़े पैमाने पर बोली जाती है। महाराष्ट्र की राजधानी मुम्बई है जो अपने फ़िल्म उद्योग के लिए तो मशहूर है ही, साथ ही इसे भारत की वाणिज्यिक राजधानी भी माना जाता है।

महाराष्ट्र की विधायिका दो-सदनीय है। यानी यहाँ विधानसभा और विधान परिषद् दोनों ही हैं। विधानसभा के



महाराष्ट्र : कांग्रेस के प्रभुत्व से दो गठजोड़ों की प्रतियोगिता तक

सदस्य वयस्क मतदाताओं द्वारा चुने जाते हैं। राज्य के विधानसभा सदस्यों की कुल संख्या 288 है, जबकि विधान परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या 78 है। महाराष्ट्र से कुल 48 लोकसभा सदस्य चुने जाते हैं। इस तरह से उत्तर प्रदेश के बाद सबसे ज्यादा लोकसभा सदस्य और राज्यसभा के कुल 19 सदस्य चुने जाते हैं।

महाराष्ट्र के निर्माण से लेकर 1978 तक राज्य में कांग्रेस की सरकार रही। यशवंत राव चव्हाण राज्य के पहले मुख्यमंत्री थे। मई, 1960 से नवम्बर, 1962 तक राज्य की बागडोर उनके हाथ में रही। इसके बाद मारोतराव कान्मववार (नवम्बर, 1962-नवम्बर, 1963), वसंत राव नाईक (1963-75) तक, शंकर राव चव्हाण (फ़रवरी, 1975 से अप्रैल, 1977), वसंतदादा पाटिल (अप्रैल, 1977-जुलाई, 1978) राज्य के कांग्रेसी मुख्यमंत्री रहे। इस पूरे दौर में वसंत राव नाईक का कार्यकाल महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इन्होंने महाराष्ट्र में हरित क्रांति लाने और उसके उद्योगीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1978 में पहली बार राज्य में एक गैर-कांग्रेसी सरकार गठित हुई। पुराने कांग्रेसी नेता शरद पवार ने कांग्रेस से अलग होकर जनता पार्टी से गठबंधन बनाकर प्रोग्रेसिव डेमोक्रेटिक फ्रंट (या प्रगतिशील लोकतांत्रिक मोर्चा) की सरकार बनायी। 1980 में केंद्र में सत्ता में वापस आने पर इंदिरा गाँधी ने इस सरकार को बर्खास्त कर दिया। 1980 में हुए चुनावों में कांग्रेस को एक बार फिर से बहुमत मिला। आने वाले डेढ़ दशकों तक (यानी 1995 तक) राज्य में कांग्रेस की सरकार रही। इस दौरान

ए.आर. अंतुले (जून, 1980-जनवरी, 1982), बाबासाहेब भोंसले (जनवरी, 1982-फ़रवरी, 1983), वसंतदादा पाटिल (फ़रवरी, 1983-जून, 1985), शिवाजी राव निलंगेकर पाटिल (जून, 1985-मार्च, 1986), शंकर राव चव्हाण (मार्च, 1986-जून, 1988) शरद पवार (मार्च, 1993-मार्च, 1995) राज्य के कांग्रेसी मुख्यमंत्री रहे। असल में वसंत राव नाईक के बाद से इंदिरा गाँधी और राजीव गाँधी के दौर में महाराष्ट्र के किसी भी कांग्रेसी नेता को मुख्यमंत्री के रूप में अपना पैर जमाने का मौका नहीं दिया गया। अमूमन मुख्यमंत्रियों एक या दो सालों के भीतर बदला जाता रहा।

1980 के दशक से ही महाराष्ट्र में विपक्षी शक्तियाँ गोलबंद होने लगी थीं। इस दौर में शरद जोशी के शेतकारी संघटन और शिव सेना का उभार होना शुरू हुआ। 1978 के बाद शरद जोशी के नेतृत्व में बड़े पैमाने पर किसान आंदोलन सामने आया। शेतकारी संघटन का आंदोलन महाराष्ट्र राज्य के गठन के बाद अब तक का सबसे बड़ा राज्यव्यापी जनान्दोलन था। इस संगठन ने लगभग छह सालों तक मराठा-कुनबी पिछड़ी जातियों को संगठित किया। धीरे-धीरे ये आंदोलन धनी कृषकों की माँगों तक सीमित हो गया और इसका प्रभाव हल्का पड़ गया। लेकिन इसने पिछड़ी जातियों को राजनीतिक रूप से गोलबंद करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। शिव सेना का गठन जून 1966 में हुआ था। शुरू में इसका प्रभाव शहरी क्षेत्रों तक ही था। यह माना जाता है कि वसंत राव नाईक ने मुम्बई में कम्युनिस्ट यूनियनों के प्रभाव को खत्म करने के लिए शिव सेना को बढ़ावा दिया था। बहरहाल, 1980 के दशक के अंत तक इसने अच्छी खासी राजनीतिक हैसियत हासिल कर ली और यह संगठन कांग्रेस को चुनौती देने की स्थिति में पहुँच गया।

1990 के बाद के महाराष्ट्र की राजनीति की कुछ विशेषताओं को निम्नलिखित बिंदुओं में व्यक्त किया जा सकता है : पहला, राज्य में साम्प्रदायिक राजनीतिक का उभार हुआ। 1990 के बाद भाजपा और शिव-सेना ने खुल कर साम्प्रदायिक राजनीति की। 1992 के बाबरी मस्जिद के विध्वंस और उसके बाद हुए मुम्बई दंगों के दौरान भाजपा और शिव-सेना की भूमिका संदेहास्पद रही। इन दोनों ने उग्र हिंदुत्ववादी राजनीति का सहारा लिया। इसी के कारण इन्हें

1995 के विधानसभा चुनावों में जीत भी मिली। 1995 के विधानसभा चुनावों में कांग्रेस को 80 तथा भाजपा-शिव सेना गठजोड़ को 138 सीटें मिलीं, जो बहुमत के करीब थीं। इसके बाद, राज्य में अगले पाँच सालों तक भाजपा-शिव सेना की सरकार रही, तथा शिव-सेना के मनोहर जोशी और नारायण राणे राज्य के मुख्यमंत्री बने। इसके बाद शिव सेना-भाजपा गठजोड़ की महाराष्ट्र की सत्ता में वापसी नहीं हुई। लेकिन वह राज्य में मजबूत विपक्ष बना रहा और उसकी राजनीति में (शिव-सेना की राजनीति में ज्यादा) पहले की तरह ही साम्प्रदायिक बयानबाजियों का सहारा लिया जाता रहा।

दूसरा, 1990 के दशक में उत्तर भारत के राज्यों (मसलन, बिहार, उत्तर प्रदेश आदि) में 'पिछड़ी जातियों के उभार' की परिघटना हुई। महाराष्ट्र में खुलकर यह परिघटना सामने नहीं आयी। लेकिन राज्य की राजनीति में मराठाओं का वर्चस्व पहले की तुलना में कमजोर हुआ और पिछड़ी जातियों के कई नेता भी राज्य की राजनीति में उभरकर सामने आये। मसलन, छगन भुजबल, गोपीनाथ मुंडे आदि। इसके अलावा, रिपब्लिकन पार्टी ने भी खुद को तुलनात्मक रूप से मजबूत दलित पार्टी के रूप में संगठित किया।

तीसरा, नब्बे के दशक में महाराष्ट्र की राजनीति में द्विध्रुवीय होने की प्रवृत्ति बढ़ी और कुछ हद इसका स्थाईकरण भी हुआ। 1990 से 1999 तक यह कांग्रेस और शिव सेवा-भाजपा गठजोड़ के बीच का राजनीतिक संघर्ष था। लेकिन उसके बाद यह कांग्रेस और राष्ट्रवादी कांग्रेस तथा शिव सेना-भाजपा गठजोड़ के बीच टकराव बन गया। गौरतलब है कि सोनिया गाँधी के विदेशी मूल का होने के मुद्दे पर शरद पवार ने कांग्रेस से अलग होकर जून, 1999 में राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी (एनसीपी) का गठन किया। 1999 में महाराष्ट्र में किसी एक दल को बहुमत नहीं मिला है। कांग्रेस को 75 और राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी को 58 सीटों पर जीत मिली। 2004 में भी यह गठजोड़ बहुमत के नज़दीक पहुँच गया। इन्हें क्रमशः 69 और 71 सीटों पर जीत मिली। इसी तरह 2009 का विधानसभा चुनाव भी इन दोनों दलों ने मिल कर लड़ा और इस गठबंधन को 144 सीटें मिलीं। इस दौर में बनी सरकारों में कांग्रेस को मुख्यमंत्री और एनसीपी को उप-मुख्यमंत्री का पद मिला। इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कांग्रेस-एनसीपी गठबंधन का सीधा चुनावी संघर्ष शिव सेना-भाजपा गठबंधन से हुआ।

चौथा, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि इस दौर में अन्य पार्टियों का कोई महत्त्व ही नहीं रहा। मसलन, रिपब्लिकन पार्टी, समाजवादी पार्टी और राज ठाकरे की महाराष्ट्र नवनिर्माण पार्टी (एमएनएस) जैसे दलों का कुछ

इलाकों में बहुत ज़बरदस्त प्रभाव रहा। इस संदर्भ में शिव सेना से टूट कर आये नेता राज ठाकरे द्वारा गठित एमएनएस का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा, क्योंकि यह छोटी पार्टियों की प्रासंगिकता को अच्छी तरह से रेखांकित करता है। दिसम्बर, 2005 में शिव सेना से अलग होकर राज ठाकरे ने और भी ज्यादा संकुचित एजेंडे को आगे बढ़ाया। एमएनएस ने उत्तर भारतीयों के साथ मार-पीट करनी शुरू कर दी और मराठी युवकों में अपना आधार बना लिया। 2009 के विधानसभा चुनावों में इसे 13 सीटें मिलीं। कई स्थानों पर इसने शिव सेना को हराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। कई प्रेक्षक यह मानते हैं कि कांग्रेस-एनसीपी गठजोड़ की सत्ता में वापसी में इसकी बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। साफ़ है कि इस तरह के छोटे दल महाराष्ट्र में बड़े दलों की चुनावी सम्भावनाओं का प्रभावित करने की कुव्वत रखते हैं।

देखें : असम, अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गुजरात, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झारखण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पश्चिम बंग, पंजाब, बिहार, मध्य प्रदेश, मणिपुर, मिज़ोरम, मेघालय, भारतीय संघवाद, राजस्थान, राज्यों का पुनर्गठन-1, 2 और 3, राज्यों की राजनीति, शिव सेना, संघवाद, हरियाणा।

संदर्भ

1. जयंत लेले (1982), *इलीट फ़ूरलिज़म ऐंड क्लास रूल : पॉलिटिकल डिवेलपमेंट इन महाराष्ट्र*, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई.
2. जयंत लेले (1990) 'कास्ट, क्लास ऐंड मोबिलाइजेशन इन महाराष्ट्र', फ्रेंसीन फ्रेंकल और एम.एस.ए. राव (सम्पा.), *डॉमिनेंस ऐंड स्टेट पावर इन मॉडर्न इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. सुहास पलशीकर और नितिन बीरमल (2003)। 'महाराष्ट्र : फ्रैगमेंटेड मराठाज़ रिटेन पॉवर', पॉल वैलेस और रामाश्रय राय (सम्पा.), *इण्डियाज़ 1999 इलेक्शन ऐंड ट्वेंटीएथ सेंचुरी पॉलिटिक्स*, सेज, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

महाराष्ट्र में सुधारणा-1

वरकरी परम्परा और भागवत धर्म

(Sudharna in Maharashtra-1)

उन्नीसवीं सदी के महाराष्ट्रीय नवजागरण का मराठी नाम सुधारणा है। महाराष्ट्र में तेरहवीं और अठ्ठारहवीं सदी के दौरान धर्म और समाज के सुधार के लिए संतों द्वारा चलाये गये आंदोलन को भी सुधारणा कहा जाता है। ब्रिटिश शासन के तहत पश्चिमी शिक्षा और पश्चिमी मूल्यों से प्रेरित होने के बावजूद महाराष्ट्रीय नवजागरण अपने अतीत यानी सुधारणा से जुड़ा। इस तरह कहा जा सकता है कि सुधारणा अठ्ठारहवीं सदी तक अगर संतों के नेतृत्व में चला तो उन्नीसवीं सदी में उनकी जगह पश्चिमी शिक्षाप्राप्त मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों ने ले ली। खास बात यह है कि यह निरंतरता सिर्फ नाम की न हो कर अंतर्वस्तु की भी है। इसे हम संतों के भागवत धर्म और महाराष्ट्र धर्म की निरंतरता कह सकते हैं जिसके केंद्र में जातिभेद का प्रश्न और महाराष्ट्रीय अस्मिता की चेतना थी। जिन प्रश्नों और प्रवृत्तियों को लेकर उन्नीसवीं सदी का नवजागरण चला था, वे ही बीसवीं सदी की राजनीतिक धाराओं में भी सार्थक बनी रहीं। भागवत धर्म और महाराष्ट्र धर्म के मूल्य बदले हुए राजनीतिक संदर्भों में भी प्रेरणादायक बने रहे। इसे तिलक और दूसरे मराठी राष्ट्रवादियों की राजनीति में देखा जा सकता है। सच पूछिये तो ये प्रवृत्तियाँ आज भी महाराष्ट्र से गायब नहीं हुई हैं। ऐसी निरंतरता हमें भारत के और किसी भी प्रांत में दिखाई नहीं देती।

बारहवीं सदी के महाराष्ट्र में संत चक्रधर के महानुभाव सम्प्रदाय से शुरू हुआ भक्ति आंदोलन कुछ खास कारणों से आगे नहीं बढ़ सका। लेकिन उनके बाद आने वाले वरकरियों का भागवत धर्म बहुत प्रभावशाली और लोकप्रिय साबित हुआ। वरकरियों की परम्परा नासिक के पास पंढरपुर में विठोबा या विठ्ठल की भक्ति करने और हर साल इस जगह की यात्रा करने के रूप में मूलतः पाँचवीं सदी से चली आ रही थी। तेरहवीं सदी में नाथ सम्प्रदाय से आये ज्ञानदेव जब इससे जुड़ गये तो इस परम्परा का प्रभाव बहुत बढ़ गया। ज्ञानदेव या ज्ञानेश्वर ने *श्रीमद्भागवतगीता* का मराठी में स्वतंत्र पद्यानुवाद करके जिस *भावार्थदीपिका* की रचना की, वह *ज्ञानेश्वरी* के नाम से मशहूर हुई और उसमें निरूपित भागवत धर्म महाराष्ट्र में भक्ति आंदोलन का दूसरा नाम हो गया। समर्थ गुरु रामदास को छोड़ कर दूसरे सभी संतों ने (नामदेव, एकनाथ और तुकाराम वगैरह) ने इसी भागवत धर्म का प्रचार किया। वैदिक परम्पराओं का आदर करने वाला यह भागवत धर्म समाज में वर्णाश्रमधर्म का पालन स्वीकार करने के

बावजूद धर्म और भक्ति के क्षेत्र में जात-पाँत को महत्त्व नहीं देता था। इसने सभी वर्णों और जातियों के लोगों को विट्टल की भक्ति के माध्यम से एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया और समाज के निचले से निचले व्यक्ति में भी नैतिक आचरण और भक्ति भावना के जरिये अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने का आत्मविश्वास जगाया। भागवत धर्म के प्रचारक संतों ने कहा कि धर्म और भक्ति के क्षेत्र में जाति, कुल, वंश और ओहदे का कोई महत्त्व नहीं; यहाँ तो हृदय की पवित्रता और भक्ति की सच्चाई देखी जाती है।

वरकरी सम्प्रदाय में ज्ञानेश्वर और एकनाथ जैसे ब्राह्मण संत हुए तो नामदेव दर्जी, तुकाराम कुनबी, चोखामेला महार और गोरा कुम्हार भी हुए। ये सभी संत एक दूसरे का आदर करते थे। इनमें बहिणाबाई जैसी स्त्रियाँ और शेख मुहम्मद जैसे कुछ मुसलमान संत भी हुए। रानाडे के मुताबिक क़रीब पचास संत हुए जिनमें से आधे ब्राह्मण और आधे गैर-ब्राह्मण थे। ज्ञानेश्वर और एकनाथ जैसे ब्राह्मण संतों ने जातिभेद के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए दलितों शूद्रों के सामाजिक उत्पीड़न को सहानुभूति के साथ देखा। महार जाति से आये दलित संत चोखामेला ने सामाजिक उत्पीड़न की व्यथा को एक भुक्तभोगी की मार्मिक अभिव्यक्ति दी, लेकिन ऐसा करते हुए उन्हें एक तीव्र असहनीय तनाव से भी होकर गुज़रना पड़ता था। इन दलित संतों को अपने पहले के संस्कारों और नयी मिली आध्यात्मिक स्वतंत्रता के बीच चलने वाले द्वंद्व का सामना करना पड़ता था। इसलिए उनकी अभिव्यक्ति में एक संस्कारजन्य निरीहता और विनम्रता भी होती थी जिसके कारण आज के आम्बेडकरवादी उन्हें पसंद नहीं करते।

चूँकि इसके जरिये जात-पाँत और वर्ण की जगह धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति का नया महत्त्व प्रतिष्ठित हुआ, इसलिए मराठी संत साहित्य के विद्वान गं.बा. सरदार ने इसे आध्यात्मिक मानववाद का नाम दिया। विट्टल की भक्ति के अलावा वरकरी संतों ने मराठी भाषा के माध्यम से भी सभी महाराष्ट्रियों को एक करने का प्रयास किया। उन्होंने न सिर्फ अपना सारा साहित्य मराठी भाषा में लिखा, बल्कि अपनी भाषा के प्रति मराठी भाषियों के अंदर गर्व की भावना भी पैदा की। अपनी भाषा के प्रति यह गर्व महाराष्ट्र प्रदेश के प्रति गर्व से भी जुड़ा हुआ था। इस तरह संतों-भक्तों के आंदोलन से सभी मराठी भाषियों में एक सांस्कृतिक समुदाय-एक जाति (नेशन) के रूप में खुद को पहचानने की चेतना विकसित हुई। महाराष्ट्रीय अस्मिता की यही चेतना आगे चल कर मराठा राज्य के उत्कर्ष की पृष्ठभूमि बनी और शिवाजी इसके सबसे बड़े प्रतीक बन कर उभरे।

परमहंस सभा से निकला प्रार्थना समाज : मराठी संतों द्वारा प्रवर्तित भागवत धर्म और महाराष्ट्र धर्म से

उन्नीसवीं सदी के महाराष्ट्रीय नवजागरण का घनिष्ठ संबंध रहा है। पश्चिमी शिक्षा और युरोपीय ज्ञानोदय के मूल्यों से प्रभावित होने के बावजूद महाराष्ट्रीय सुधारकों ने अपनी जातीय परम्परा को कभी नहीं छोड़ा। ऐसा कोई मराठी सुधारक नहीं हुआ जिसने मराठी संतों के आंदोलन पर टिप्पणी न की हो और उसकी अपने ढंग से व्याख्या न की हो। अपने सुधार आंदोलन को उन्होंने संतों-भक्तों के आंदोलन का ही जारी रूप बतलाया। प्रार्थना समाज के सुधारकों ने अपने संगठन के धार्मिक सिद्धांतों का निरूपण करते हुए उसे हमेशा मराठी संतों की धार्मिक शिक्षाओं से जोड़ा। उदाहरण के लिए जस्टिस रानाडे संतों के उदार मूल्यों से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने प्रार्थना समाज के आंदोलन को संतों के भागवत धर्म का ही एक रूप और उसकी विनम्र संतान बताया था। खुद भागवत धर्म के आंदोलन को रानाडे ने युरोप के रिफॉर्मेशन (ईसाई धर्म-सुधार) जैसा महान आंदोलन बतलाया, जबकि राजा राममोहन राय ने बंगाल के भक्ति आंदोलन का कभी कोई जिक्र नहीं किया। वे अपने ब्राह्मसभा के आंदोलन को ही युरोपीय रिफॉर्मेशन जैसा महसूस करते थे। प्रार्थना समाज के ही दूसरे सुधारक नेता आर.जी. भंडारकर ने *वैष्णवइज्जम, शैविज्जम ऐंड माइनर रिलीजस सिस्टम* नामक अपनी किताब में, जिसे भारत के धार्मिक इतिहास के अध्ययन में एक उल्लेखनीय रचना माना जाता है, नामदेव और तुकाराम जैसे संतों के योगदान पर और उनकी केंद्रीय शिक्षाओं पर लिखा जो प्रार्थना समाज के अन्दर उनके अपने मत को प्रतिबिम्बित करता था। उन्होंने प्रार्थना समाज के धार्मिक सिद्धांतों का निरूपण करते हुए इन्हें विभिन्न धर्मों की उदार और विवेकशील परम्पराओं के अलावा तुकाराम की शिक्षाओं से जोड़ा।

उन्नीसवीं सदी में महाराष्ट्रीय नवजागरण के दौर में वरकरी सम्प्रदाय के कितने ही संतों की रचनाएँ फिर से प्रकाशित हुईं और उनके नये संस्करण छपे। महाराष्ट्रीय नवजागरण के सबसे पहले प्रवर्तक बालशास्त्री जांभेकर ने, जिन्होंने *दर्पण* पत्रिका निकाल कर मराठी पत्रकारिता की नींव डाली, 1845 में *ज्ञानेश्वरी* को फिर से प्रकाशित किया। इसी दौर में महाराष्ट्रीय नवजागरण के सबसे पहले संगठन परमहंस सभा के एक सदस्य तुकारामात्या पडवल ने तुकाराम के नाम से प्रचलित सभी रचनाओं को बहुत परिश्रम से जमा करके *तुकाराम गाथा* का सम्पादन-प्रकाशन किया। भारत के और किसी भी प्रांत के नवजागरण में यह

विशेषता नहीं दिखाई देती कि उसके सुधारकों ने अपने समय की जरूरतों को देखते हुए अपने संतों-भक्तों की रचनाओं को फिर से संकलित, सम्पादित और प्रकाशित किया हो। इसी दौर में रामदास का ग्रंथ *दासबोध* और महीपति द्वारा लिखी गयी मराठी संतों की जीवनियों का संकलन भी फिर से प्रकाशित हुआ।

आधुनिकता के समर्थक महाराष्ट्रीय सुधारक धर्म, समाज और राजनीति के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते थे। भागवत धर्म के उदार मूल्यों से उन्हें बल मिलता था। ये सुधारक उदार राष्ट्रवादी थे। लोगों की एकता किसी भी राष्ट्रवाद की पहली शर्त होती है। भागवत धर्म और मराठी भाषा के माध्यम से सभी महाराष्ट्रियों को एक सूत्र में बाँधने का जो प्रयास वरकरी संतों ने किया था, उससे पैदा हुई महाराष्ट्रीय अस्मिता की चेतना उन्नीसवीं सदी के इन राष्ट्रवादियों के लिए बहुत मूल्यवान थी। पश्चिमी शिक्षा और युरोपीय ज्ञानोदय से उन्हें जो भी आधुनिक मूल्य मिले, उसका इन्होंने उत्साहपूर्वक स्वागत किया। लेकिन देसी आधुनिकता का पहला और बुनियादी मूल्य जातिभेद का विरोध ही हो सकता था। यह मूल्य उन्हें संतों के भागवत धर्म से मिला। लेकिन यह विरोध जातिभेद तोड़ने का अभियान नहीं बना। प्रार्थना समाज के ज्यादातर सुधारक ब्राह्मण परिवारों से आये थे। जातिप्रथा विरोधी होने के बावजूद इसे खुल कर तोड़ने का साहस उनमें कम था। समाज में भी जातिप्रथा की कट्टर समर्थक ताकतें मौजूद थीं। इन परिस्थितियों में प्रार्थना समाज ने जातिप्रथा तोड़ना अपना लक्ष्य बनाने के बजाय उसके प्रति एक उदार रवैया अपनाया। इस प्रसंग में जातिभेद के प्रति भागवत धर्म का उदार दृष्टिकोण इन सुधारकों को रास आया।

संतों की समतामूलक दृष्टि की सबसे प्रखर अभिव्यक्ति शूद्र तुकाराम में हुई। वर्णवादी श्रेष्ठता के दम्भ के खिलाफ सबसे ज्यादा आक्रामक तुकाराम ही थे। तुकाराम सचमुच मेहनतकश शूद्र दलितों के संत थे। उन्होंने बिल्कुल किसानों की भाषा में अभंग लिखे और उनके अभंगों की कई पक्तियाँ आज भी महाराष्ट्रीय किसानों के बीच मुहावरों और कहावतों की तरह चलती हैं। यह तथ्य नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता कि उन्नीसवीं सदी के मराठी सुधारकों पर, खास कर उन पर जो जातिभेद के साफ़ विरोधी थे, सबसे ज्यादा असर तुकाराम का ही पड़ा। तुकाराम पुणे के पास देहू गाँव के थे और उनकी उपाधि मोरे थी। देहू और उसके आसपास



तुकाराम : भागवत धर्म का जातिभेद विरोधी आयाम

बसे उनके वंशजों में से एक विद्वान सदानंद मोरे ने महाराष्ट्र के आधुनिक सुधारकों पर तुकाराम के प्रभाव का वर्णन करते हुए एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है। मोरे ने लिखा है कि बालशास्त्री जांभेकर के एक अनुयायी डाडोबा पांडुरंग तरफड़कर ने, जो महाराष्ट्र के सबसे पहले प्रभावशाली सुधारक थे, प्रार्थना समाज से बहुत पहले मुम्बई और गुजरात में क्रमशः दो संस्थाओं परमहंस सभा और मानवधर्म सभा का गठन किया था।

डाडोबा खुद एक वरकरी परिवार से आये थे और 1849 में स्थापित महाराष्ट्रीय नवजागरण की सबसे पहली संस्था परमहंस सभा का नाम तुकाराम के एक अभंग से लिया गया था— परमहंस तारी जाने सहजा वरमा, तेथे याती कुला धर्मा नाहीं। तुकाराम ने परमहंस उस व्यक्ति को कहा था जो जातिभेद और पारिवारिक प्रथाओं के बंधनों के ऊपर उठ चुका हो। डाडोबा की इस संस्था में सिर्फ ऐसे ही लोग सदस्य बन सकते थे जो जातिबंधनों को तोड़ने में विश्वास करते हों। कहने की ज़रूरत नहीं कि इस लिहाज़ से परमहंस सभा वास्तव में परवर्ती प्रार्थना समाज से कहीं ज़्यादा साहसी थी। तुकाराम से डाडोबा इतने गहरे प्रभावित थे कि उन्होंने अपनी कई कविताएँ तुकाराम के अभंगों के ढर्रे पर लिखीं। संतों की परम्परा के बाद आधुनिक महाराष्ट्र में अभंग सबसे पहले नवजागरण के इन सुधारकों ने ही लिखे। परमहंस सभा के सदस्य बंगाल के डिरोज़ियोपंथियों की तरह जातिबंधन के झूठे संस्कारों को तोड़ने की भावना से प्रेरित होकर किसी दलित के हाथ की बनी रोटी या फिर पुर्तगाली नानबाई से खरीदी पावरोटी खाते थे। फ़र्क इतना ही था कि डिरोज़ियोपंथी यह काम खुले बाज़ार में करते थे जबकि परमहंस सभा के अनुयायी इसे गुप्त रूप से आयोजित अपनी सभाओं में करते थे। बंगाली भद्रवर्गीय समाज में जब यह बात और इसी तरह की कुछ और बातें फैलीं तो डिरोज़ियोपंथियों के संबंध अपने परिवारों से तल्ल हो गये और कुछ एक को अपना घर भी छोड़ना पड़ा। लेकिन महाराष्ट्र में जब इन गुप्त सभाओं की जानकारी सामने आयी और सभा के सदस्यों के नाम बाहर उजागर हो गये तो परमहंस सभा को ही तोड़ना पड़ गया। महाराष्ट्र की तुलना में बंगाल के डिरोज़ियोपंथियों में पुराने बंधनों के खिलाफ़ विद्रोह का भाव ज़्यादा उग्र था और इसके लिए वहाँ गुंजाइश भी महाराष्ट्र के मुकाबले ज़्यादा थी।

देखें : अरविंद घोष, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, कुमारन् आशान्, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, फ़कीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चटर्जी, बंगाल का नवजागरण, बाल गंगाधर तिलक भारतेन्दु हरिश्चंद्र, भारतीय आधुनिकता, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राजा राममोहन राय, युरोपीय पुनर्जागरण, रवींद्रनाथ ठाकुर, विवेकानंद, हिंदी नवजागरण।

संदर्भ

1. महादेव गोविंद रानाडे (1961), *राइज़ ऑफ़ मराठा पॉवर*, युनिवर्सिटी ऑफ़ बाम्बे, मुम्बई.
2. चार्ल्स हिमसेथ (1964), *इण्डियन नैशनलिज़म ऐंड हिंदू सोशल रिफॉर्म*, प्रिंस्टन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंस्टन.
3. जे.वी.नाइक (1997), 'द प्रार्थना समाज ऐंड इट्स क्रिटीक', *वेस्टर्न इण्डिया : हिस्ट्री, सोसाइटी ऐंड कल्चर*, इतिहास शिक्षक महामण्डल, कोल्हापुर.

— वीरभारत तलवार

महाराष्ट्र में सुधारणा-2

प्रार्थना समाज, तुकाराम और रामदास

(Sudharna in Maharashtra-2)

1866 में भंग कर दी गयी परमहंस सभा के बिखर गये सदस्यों में से कुछ एक ने 1866 में मुम्बई पधारे केशवचंद्र सेन के व्याख्यानों से प्रेरित होकर फिर से अपना संगठन खड़ा किया। इस बार उसका नाम 'प्रार्थना समाज' रखा गया जिसमें एल्फिंस्टन कॉलेज से निकले नये स्नातकों की संख्या काफ़ी थी। लेकिन इस बार इसमें जातिप्रथा के बंधनों को तोड़ने का उत्साह कम था। उग्रता की जगह उदारता ने ले ली थी। दिलचस्प बात यह है कि तुकाराम के उग्र जाति-विरोध को छोड़ने के बावजूद उनका प्रभाव प्रार्थना समाज पर कम नहीं था। प्रार्थना समाज के सुधारकों का प्रोफ़ेसर अलैंगेण्डर ग्रांट के प्रति काफ़ी आदरभाव था। ग्रांट प्रांत के शिक्षा विभाग के निदेशक थे और मुम्बई विश्वविद्यालय उन्हीं के कार्यकाल में खुला। अरस्तू के दर्शन के अनुयायी ग्रांट भी तुकाराम से प्रभावित थे। यह प्रभाव ऐसा था कि *तुकारामगाथा* पहले से प्रकाशित होने के बावजूद ग्रांट ने इसका एक ज़्यादा सटीक और प्रामाणिक संस्करण सरकार की ओर से निकालने के लिए खुद गवर्नर को चिट्ठी लिखी। भारी सरकारी अनुदान से प्रार्थना समाज के दो सदस्यों विष्णु परशुराम पण्डित और शंकर पांडुरंग द्वारा सम्पादित *तुकारामगाथा* का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हुआ तो मराठी प्रकाशन के इतिहास में इसका स्थान उतना ही महत्त्वपूर्ण माना गया जितना बीसवीं सदी में भंडारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट से प्रकाशित *महाभारत* के प्रामाणिक संस्करण का। सदानंद मोरे के मुताबिक प्रार्थना समाज के सुधारक जस्टिस रानाडे, आर.जी. भण्डारकर, एन.जी. चंदावरकर और बी.ए. मोदक आदि तुकाराम से सिर्फ़ प्रेरणा ही नहीं लेते थे बल्कि अपने जीवन को भी उनके

अभंगों के मुताबिक जीने की कोशिश करते थे। इन सुधारकों के लिए तुकाराम उनके मित्र, पथप्रदर्शक और दार्शनिक, तीनों थे। रानाडे और चंदावरकर ने तुकाराम के अभंगों पर कई व्याख्यान दिये जबकि भंडारकर, मोदक और विट्टल रामजी शिंदे तुकाराम के अभंगों पर कीर्तन किया करते थे। गौरतलब है कि ये सुधारक खुद को तुकाराम का आधुनिक अनुयायी और अपने धर्म को नवभागवत धर्म कहते थे।

सबसे ख़ास बात यह है कि इन सुधारकों ने अपने संतों को उन पश्चिमी विचारकों के मुकाबले खड़ा किया जिनका प्रभाव नवजागरण के दौर में हर जगह नज़र आता था। उदाहरण के लिए रानाडे ने सुधारकों की नयी पीढ़ी, जिसके प्रतिनिधि गोपाल गणेश आगरकर थे, का मिल और स्पेंसर के पीछे भागना पसंद नहीं किया और उसके मुकाबले अरस्तू और तुकाराम का समन्वय करते हुए भागवत धर्म की अपने ढंग से व्याख्या की और नयी पीढ़ी के आनंदवादी जीवन दर्शन की जगह जीवन की सभी सम्भावनाओं के पूर्ण विकास का दर्शन पेश किया। नवजागरण से होते हुए तुकाराम का प्रभाव आधुनिक मराठी साहित्य तक पहुँचा। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के कई आधुनिक मराठी साहित्यकारों जैसे केशवसुत, बालकवि, गडकरी और बी.एस. मर्ढेकर पर तुकाराम का गहरा प्रभाव पड़ा। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में दिलीप चित्रे ने तुकाराम को आधुनिकता से जोड़ते हुए मराठी आलोचना में तुकारामकेंद्रित आलोचना-सिद्धांतों की चर्चा की और तुकाराम की कविताओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद करके उन्हें विश्व साहित्य का अंग बना दिया।

संतों के आंदोलन के प्रति सिर्फ़ प्रार्थना समाज के उदार ब्राह्मण सुधारक ही मुख़ातिब नहीं थे, उनका विरोध करने वाले परम्परानिष्ठ ब्राह्मण और ग़ैर-ब्राह्मण सुधारक भी उतने ही मुख़ातिब थे। संतों के आंदोलन और उनके भागवत धर्म की व्याख्या करना उन्नीसवीं सदी के महाराष्ट्र में उभरी हरेक विचारधारा के लिए ज़रूरी था, क्योंकि उससे किसी न किसी रूप में जुड़ कर ही वे महाराष्ट्रीय समाज में अपने लिए वैधता और प्रामाणिकता हासिल करते थे। संतों की परम्परा के प्रति उनका रवैया आलोचनात्मक भी था। वे अपने विरोधियों से होड़ करते हुए, उनकी व्याख्या को चुनौती देते हुए, संत आंदोलन की व्याख्या अपने-अपने ढंग से अपने पक्ष में करते थे। उदाहरण के लिए उन्नीसवीं सदी में परम्परानिष्ठ



समर्थ गुरु रामदास

ब्राह्मणों की धारा ने प्रार्थना समाज के उदार ब्राह्मणों की व्याख्या को नामंजूर करते हुए संत आंदोलन के एक दूसरे ही पक्ष को सामने लाकर उससे अपना संबंध जोड़ा। चिपलूणकर से शुरू हुई परम्परानिष्ठ ब्राह्मण सुधारकों की परम्परा में विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े सबसे प्रबल और प्रतापी विद्वान हुए। उन्होंने प्रार्थना समाज के सुधारकों द्वारा ज्ञानेश्वर, नामदेव और तुकाराम जैसे वरकरी संतों की प्रशंसा और भागवत धर्म के गुणगान को स्वीकार नहीं किया और इनकी जगह सत्रहवीं सदी के संत स्वामी रामदास को आगे बढ़ाया। राजवाड़े ने रानाडे वगैरह का विरोध करते हुए वरकरी संतों पर जनता को दुर्बल, अकर्मण्य और भाग्यवादी बनाने का दोष लगाया। बाद में अपने मूल्यांकन में थोड़ा सुधार करते हुए उन्हें भी हिंदू धर्म की रक्षा करने का कुछ श्रेय दे दिया। लेकिन यह आरोप क़ायम रखा कि वरकरी संतों ने सब कुछ विठोबा पर छोड़ दिया और अपनी ज़िम्मेदारियों से मुक्त हो गये। राजवाड़े ने वरकरी संतों को ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का महत्त्व घटा कर समाज में अराजकता फैलाने का दोषी ठहराते हुए उन्हें एकांगी बतलाया। वरकरी संतों की तुलना में रामदास को समाज के सभी अंगों पर ध्यान देने वाला, लोगों को कर्मठ, पुरुषार्थी बनाने और समाज की समुचित व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने की मंत्रणा देने वाला बतलाया। वरकरी संतों से रामदास का फ़र्क़ दिखाते हुए राजवाड़े ने लिखा : 'रामदास इतिहास तत्त्व निरूपण करने वाले प्रथम महाराष्ट्र ग्रंथकार हैं। एकनाथ, तुकाराम आदि साधु संत नीति तथा भक्ति की ओर अधिक उन्मुख थे। नीति तथा भक्ति के गीत गाने वाले साधु-संतों ने भी महाराष्ट्र का अत्यंत हित किया है, इसमें संदेह नहीं परंतु राष्ट्रीय और राजनीतिक दिशा में विचार करने का महत्त्व उन्होंने नहीं जाना। रामदास और उनके पूर्ववर्ती संतों में सबसे बड़ा भेद यही है। पूर्ववर्ती साधु संत एकदेशीय थे, रामदास सार्वदेशिक संत थे। इसके अतिरिक्त एक अंतर यह भी है कि पहले संतों ने ब्राह्मणों के दोष दिखलाने का मानो व्रत लिया था। उनकी रचनाओं एवं युक्तियों का परिणाम यह हुआ कि चातुर्वर्ण्य घटित महाराष्ट्रीय समाज के नेता ब्राह्मणों का महत्त्व कम होने लगा। स्वजनों के दोषों को उजागर करना बुरा काम नहीं, पर दोष दिखाने वालों का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व सही मार्ग दिखलाना और अपने आचरण द्वारा उसकी सत्यता सिद्ध करना होता है। इस उत्तरदायित्व के अज्ञान एवं दोषाविष्करण से मनोभंग तथा मानभंग हुआ और समाज में अराजकता छा गयी, बिखराव चारों ओर दिखाई देने लगा। संतों की एकांतिकता का यही पर्यवसान था जिसका

प्रतिकार रामदास की सार्वदेशिकता ने किया।'

राजवाड़े ने लिखा है कि रामदास की विशेषता यह थी कि उन्होंने समाज में दोष तो दिखाया ही, साथ ही वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत सभी वर्णों के प्रति करुणा का भाव रखते हुए उनके लिए भी सही मार्ग बतलाया। राजवाड़े वर्ण-व्यवस्था को समाज में संतुलन बनाये रखने के लिए बहुत जरूरी समझते थे। उन्हें लगता था कि युरोप के विद्वान भी अपने समाज की समस्या का हल निकालने के लिए वर्णाश्रम धर्म की ओर झुक सकते हैं : 'हज़ारों वर्षों का हमारा इतिहास चातुर्वर्ण्य का अस्तित्व पूरी तरह स्वीकार कर देश के हितैषियों को दोष तथा उनके परिहार का मार्ग दिखलाना चाहिए। युरोपीय समाज का असंतोष तथा 'सोशललिस्टिक' झुकाव देखते हुए यदि वहाँ के दूरदर्शी विद्वान विचार कर रहे हों कि उनके समाज को प्रायः चातुर्वर्ण्य का आश्रम कभी न कभी लेना पड़ेगा तो हम अपने यहाँ की संतोषप्रवण संस्था को तोड़ कर असंतुष्ट समाज वाली स्थिति की ओर उन्मुख हों तो उससे देश का कल्याण नहीं हो सकता। इसी महत्त्वपूर्ण पार्श्वभूमि पर रामदास ने अपने उपदेश का सूत्र प्रस्तुत किया।'

भागवत धर्म, वरकरी संतों और रामदास की भूमिका के बारे में प्रार्थना समाज के उदार ब्राह्मण सुधारकों और उनके विरोधी परम्परानिष्ठ ब्राह्मणों की परस्पर विरोधी व्याख्याओं और रवैये से अलग एक तीसरा रवैया गैरब्राह्मण सुधारकों का था जिसके सबसे बड़े प्रतिनिधि ज्योतिराव गोविंदराव फुले थे। फुले प्रार्थना समाज के उदार सुधारकों के कड़े आलोचक और परम्परानिष्ठ ब्राह्मणों के विरोधी थे। उन्होंने संतों के आंदोलन से अपना संबंध जोड़ते हुए उसके प्रति आलोचनात्मक रवैया अपनाया। दलितों शूद्रों के प्रति वरकरी सम्प्रदाय के ब्राह्मण संतों की उदारता को फुले ने संदेह की नज़रों से देखा। उनका संदेह इस बात को लेकर था कि वरकरी संतों ने भागवत धर्म के नाम पर असल में उस वैदिक धर्म को ही आदर दिया था जो समाज में वर्ण-व्यवस्था को बनाये रखने का आग्रह करता है। फुले ने वरकरी के ब्राह्मण संतों द्वारा दलित-शूद्रों को सिर्फ धर्म और भक्ति के क्षेत्र में स्थान देने (और बाकी समाज में वर्णाश्रम धर्म को जारी रखने) के प्रयत्न को इसके ऐतिहासिक संदर्भ में देखा तो उन्हें लगा कि इस उदारता के पीछे एक कारण इसलाम है। फुले ने भागवत धर्म के आंदोलन में मुसलमान विरोध को छुपा हुआ देखा और दलित-शूद्रों के प्रति ब्राह्मण संतों की उदारता को उनकी धूर्तता बतलाया।

इस ऐतिहासिक संदर्भ का जिक्र करते हुए उन्होंने पूछा कि जब देश में मुसलमान आये और इसलाम फैलने लगा, सिर्फ तभी इन ब्राह्मण साधुओं को दलित-शूद्रों की याद क्यों आयी? उससे पहले कभी क्यों नहीं आयी? फुले ने लिखा है कि मुसलमानों का शासन क्रायम हो जाने के बाद 'उस समय बहुत ही चतुर मुकुंदराज, ज्ञानेश्वर, रामदास आदि ब्राह्मण धूर्त

संतों ने काल्पनिक भागवतग्रंथ के धोखेबाज़ अष्ट पहलू वाले कृष्ण ने कुतर्क से भरी गीता में पार्थ को जो उपदेश दिया था, उसी का विश्लेषण किया और उस उपदेश का समर्थन करने के लिए उन्होंने प्राकृत भाषा में *विवेकसिन्धु*, *ज्ञानेश्वरी*, *दासबोध* आदि जैसे कई पाखण्डी ग्रंथों की रचना की और सभी ग्रंथों की कारिस्तानी के जाल में अनपढ़ शिवाजी जैसे महावीरों को फँसा कर उसको मुसलमानों के पीछे लगने के लिए मजबूर किया। इसी की वजह से मुसलमान लोगों को सभी महाधूर्त ब्राह्मणों के बारे में सोचने-समझने का समय ही नहीं मिला। यदि ऐसा न कहा जाए तो मुसलमान लोगों के इस देश में आने के संक्रातिकाल में धूर्त ब्राह्मण मुकुंदराज को शूद्रादि अतिशूद्रों पर दया क्यों आयी और उसके लिए *विवेकसिन्धु* नाम का ग्रंथ उसी समय क्यों लिखा? इसके पीछे ... अनपढ़ शूद्रादि-अतिशूद्र के मुसलमान हो जाने का डर था और तब धूर्त ब्राह्मणों के मतलबी धर्म की बेइज्जती होनी थी।' फुले के मुताबिक देश में मुसलमान विरोधी भावनाएँ फैलाने में भी इन्हीं का हाथ था। ब्राह्मण संतों ने 'अपने उन ग्रंथों के द्वारा किसानों के मन इतने गुमराह कर दिये कि वे कुरान और मुहम्मदी लोगों को नीच मानने लगे हैं, उनसे नफ़रत करने लगे हैं।'

फुले ने जिस तरह प्रार्थना समाज के उदार ब्राह्मणों और उनके विरोधी परम्परानिष्ठ ब्राह्मणों के बीच कोई बुनियादी फ़र्क नहीं किया, उसी तरह उन्होंने इनके आदर्श ज्ञानेश्वर और रामदास के बीच भी कोई बुनियादी फ़र्क नहीं किया। फुले ने सबका नाम एक ही साथ लिया। फुले की नज़रों में स्वामी रामदास ने शिवाजी के ज़रिये महाराष्ट्र में ब्राह्मण का राज चलाये रखना सुनिश्चित किया। परम्परानिष्ठ ब्राह्मणों के इस आदर्श संत के खिलाफ़ टिप्पणी करते हुए साफ़ लफ़्ज़ों में लिखा : 'रामदास धूर्त आर्य ब्राह्मण था जिसने शूद्र राजा शिवाजी की, उनके अनपढ़ होने की वजह से, चापलूसी की।'

वास्तव में फुले ने किसी भी ब्राह्मण संत पर विश्वास नहीं किया और पाँच सौ सालों तक चले संतों के आंदोलन में से जिस एक संत का नाम श्रद्धा से लिया, वह संत तुकाराम थे, जो मराठी भाषियों के बीच सबसे आदरणीय और लोकप्रिय थे। फुले की नज़र में तुकाराम एकमात्र ऐसे संत थे जो दलितों-शूद्रों को ब्राह्मण धर्म के आध्यात्मिक और कर्मकाण्डी प्रपंचों से बाहर निकलने का रास्ता दिखाते हैं। अगर कोई संत शूद्रों के अनपढ़ राजा शिवाजी का सच्चा हितैषी था तो वह तुकाराम ही थे। फुले ने लिखा : 'तुकाराम नाम का एक साधु पुरुष किसान के घर में पैदा हुआ। वह किसानों को उनके जाल से मुक्त कर देगा, इस डर की वजह से भट्ट ब्राह्मणों के अटल वेदांती रामदास स्वामी ने महाधूर्त गंगाभट्ट के सहयोग से अनपढ़ शिवाजी को गुमराह करने का

निश्चय किया। उन्होंने अज्ञानी शिवाजी और निर्विकार तुकाराम का स्नेह संबंध बढ़ने नहीं दिया।'

देखें : अरविंद घोष, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, कुमारन् आशान्, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, फ़क़ीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चटर्जी, बंगाल का नवजागरण, बाल गंगाधर तिलक भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतीय आधुनिकता, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राजा राममोहन राय, युरोपीय पुनर्जागरण, रवींद्रनाथ ठाकुर, विवेकानंद, हिंदी नवजागरण।

संदर्भ

1. आर.एन. डांडेकर (1999), 'राइटर्स, एडीटर्स एंड रिफ़ार्मर्स', एन.के. बागले (सम्पा.), मनोहर, नयी दिल्ली, 1999 में संकलित निबंध)
3. तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी (सम्पा.) (2000), राजवाड़े लेख संग्रह, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.

— वीरभारत तलवार

महाराष्ट्र में सुधारणा-3

महाराष्ट्र धर्म की व्याख्याओं के अंतर्विरोध

(Sudharna in Maharashtra-3)

तुकाराम का महत्त्व समझने के लिए एक बार फिर तुकारामात्म्या पडवल की चर्चा करना ज़रूरी है जो परमहंस सभा के सदस्य और फुले के मित्र थे। सदानंद मोरे ने एक हिंदू के नाम से पडवल की लिखी किताब *जातिभेद विवेकसरा* की चर्चा की है जिसने उन्नीसवीं सदी के महाराष्ट्रीय भद्रवर्ग में खलबली मचा दी थी। मोरे ने लिखा है कि इस किताब को खुद फुले पुणे में बेचा करते थे। इस किताब में जातिप्रथा की विस्तार से आलोचना करते हुए पडवल तुकाराम के दृष्टिकोण से काफ़ी प्रभावित दिखते हैं। इस किताब में उन्होंने जातिप्रथा के खिलाफ़ कई उद्धरण बौद्ध लेखक अश्वघोष के संस्कृतग्रंथ *वज्रसूची* के मराठी अनुवाद से दिये थे। ब्राह्मणों के वर्णाश्रम धर्म की तीखी आलोचना करने वाले इस ग्रंथ का संस्कृत से मराठी में अनुवाद खुद तुकाराम के आदेश पर उनकी ब्राह्मणी शिष्या बहिणाबाई ने किया था। तुकाराम की रचनाओं की खोज में पडवल जब तुकाराम के गाँव देहू गये तो उनके साथ फुले भी गये थे। पडवल द्वारा संकलित सम्पादित *तुकारामगाथा* की खास बात यह है कि इसमें तुकाराम की कुछ ऐसी कविताएँ पहली बार

शामिल की गयी थीं जो ब्राह्मणों के आचार विचार की तीखी आलोचना करने के कारण वरकरी या किसी भी परम्परा में पहले शामिल नहीं की गयी थीं।

गौरतलब है कि फुले के ज्यादातर अनुयायी बुनियादी तौर पर वरकरी पृष्ठभूमि वाले ही थे और वे उन्हीं इलाकों से थे जहाँ तुकाराम का प्रभाव खासतौर पर था। मोरे का दावा है कि वरकरी सम्प्रदाय की आलोचना करते रहने पर भी फुले ने वरकरी द्वारा उठाये गये मुद्दों को ही आगे बढ़ाया। लेकिन ऐसा दावा करते हुए मोरे उन मुद्दों पर वरकरियों से फुले की व्याख्या और दृष्टिकोण के भेद पर पूरा ध्यान नहीं देते। फिर भी भक्ति के क्षेत्र में वरकरी संतों का उदार और काफ़ी हद तक जनवादी दृष्टिकोण फुले के दृष्टिकोण से हूबहू मिलता नहीं, तो उसके करीब ज़रूर था। शायद इसी कारण फुले की भाषा में वरकरियों की शब्दावली और बिम्बों की पर्याप्त उपस्थिति मिलती है। मोरे ने लिखा है कि प्रार्थना समाज से असंतुष्ट होकर जब फुले ने सत्यशोधक समाज बना लिया तो उसमें उनके एक सहयोगी कृष्णराव भालेकर एक वरकरी ही थे जिन्होंने सत्यशोधक समाज को आगे बढ़ाने के लिए वरकरियों की डिण्डी (अभंग गाते हुए पंढरपुर जाने वाले तीर्थयात्रियों के जुलूस की प्रथा) का इस्तेमाल किया।

उन्नीसवीं सदी के महाराष्ट्रीय नवजागरण में भागवत धर्म को लेकर जैसा घमासान चलता दिखाई देता है, वैसा महाराष्ट्र धर्म को लेकर भी चला। संतों के आंदोलन में महाराष्ट्र धर्म शब्द का प्रयोग सत्रहवीं सदी में समर्थ रामदास ने शिवाजी के पुत्र सम्भाजी को लिखे एक पत्र में किया था। यह गौरतलब है कि रामदास ने सम्भाजी को हिंदू धर्म के पालन के लिए नहीं कहा, वैदिक पौराणिक या सनातन धर्म की वृद्धि करने के लिए नहीं कहा। इन सब धर्मों से अलग यह महाराष्ट्र धर्म क्या है? यह प्रामाणिक रूप से स्पष्ट नहीं है। उन्नीसवीं सदी के महाराष्ट्र में प्रभावशाली तीनों धाराओं के प्रतिनिधि इसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से करते हुए इसका इस्तेमाल अपनी-अपनी सामाजिक राजनीतिक विचारधारा के पक्ष में करते हैं। बहुत स्पष्ट रूप से पारिभाषित न होने के बावजूद इतिहास में संतों के जमाने से लेकर आज तक की राजनीति में महाराष्ट्र धर्म की अवधारणा लगातार मौजूद रही है। इस पर सबसे ज्यादा विमर्श उन्नीसवीं सदी के नवजागरण में हुआ और महाराष्ट्र में राष्ट्रवादी राजनीति की कोई भी धारा इससे जुड़े बिना अपना अस्तित्व सार्थक नहीं कर सकती थी। राजेंद्र वोरा ने अपने एक लेख में दिखलाया है (काफ़ी सतही ढंग से) कि महाराष्ट्र धर्म पर सबकी सहमति है। वोरा के विवेचन में रानाडे, तिलक और राजवाड़े के विचारों के बीच के फ़र्क को बहुत कम करके आँका गया है।

महाराष्ट्र धर्म अपने मूल रूप में धर्म (हिंदू धर्म) की रक्षा के लिए महाराष्ट्रियों के स्वाधीन राज्य (स्वराज्य) कायम

करने और इससे संबंधित उनके राष्ट्रीय कर्तव्यों की अवधारणा प्रतीत होता है। यह अवधारणा पहली बार शिवाजी के द्वारा स्थापित मराठा राज्य में मूर्त हुई थी। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक समुदाय अपनी विचारधारा के अनुसार इसकी व्याख्या करते हुए, अक्सर इसे संकुचित, विस्तृत या विकृत करते रहे हैं। उन्नीसवीं सदी के नवजागरण और राष्ट्रवाद के प्रसंग में इस अवधारणा की पहली महत्वपूर्ण व्याख्या रानाडे ने अपनी किताब *राइज़ ऑफ मराठा पॉवर* में की : 'इसने लोकभाषाओं में मूल्यवान साहित्य रचा। इसने पुरानी जातिप्रथा की कठोर संरचना में सुधार किया। इसने शूद्रों को आध्यात्मिक शक्ति और सामाजिक महत्त्व की उस हैसियत तक पहुँचाया जो क़रीब-क़रीब ब्राह्मणों के बराबर थी। इसने पारिवारिक संबंधों को पवित्रता प्रदान की और स्त्री की दशा में सुधार किया। इसने मराठी जाति (राष्ट्र) को ज़्यादा मानवीय बनाया, साथ ही उन्हें सहिष्णुता के ज़रिये ज़्यादा एकजुट किया। इसने मुसलमानों के साथ मेलजोल का रास्ता दिखलाया और कुछ हद तक ऐसा मेलजोल क़ायम भी किया। इसने बहुदेववाद की बुराइयों को कम किया। इन सब तरीकों से इसने मराठा जाति को विचार और कार्य के स्तर पर ऊँचा उठाया और विदेशी प्रभुत्व की जगह एक देशी सत्ता फिर से क़ायम करने के लिए इसे इस तरह तैयार किया जैसा और किसी भी तत्कालीन भारतीय प्रदेश में नहीं दिखता है। ये सब महाराष्ट्र धर्म की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ हैं जिन्हें ध्यान में रख कर रामदास ने शिवाजी के पुत्र को अपने पिता के चरण-चिह्नों पर चलने को कहा था और खुद इस धर्म का प्रचार किया था जो एक ही साथ सहिष्णु और सुदृढ़ है, आध्यात्मिक है और किसी दूसरे की निंदा भी नहीं करता है।' रानाडे का यह विवेचन महाराष्ट्र में उभरने वाले एक आधुनिक राष्ट्रीय आंदोलन का आदर्श रूप प्रतीत होता है। लेकिन इस विवेचन में एक गम्भीर गड़बड़ी है। इस पूरे उद्घरण में रानाडे ने वरकरी संतों के भागवत धर्म और रामदास के महाराष्ट्र धर्म के बीच कोई फ़र्क न करते हुए उन दोनों की विशेषताओं को आपस में मिला दिया है। यही वजह है कि *राइज़ ऑफ मराठा पॉवर* के सम्पादकों ने किताब के परिचय में रानाडे के इस विवेचन को तथ्यों की दृष्टि से सही नहीं माना है।

अंतर्विरोध के कारण : वरकरी संतों के उदार मूल्यों से रानाडे के उदार राष्ट्रवाद का एक सहज और स्वाभाविक संबंध था। रानाडे उसे किसी भी तरह छोड़ नहीं सकते थे। साथ ही वे रामदास द्वारा प्रतिष्ठित महाराष्ट्र धर्म की भी उपेक्षा नहीं कर सकते थे जो कि मराठा राज्य और मराठा राष्ट्रवाद के मूलमंत्र जैसा था। रानाडे मानते थे कि महाराष्ट्रियों में राष्ट्रीय चेतना अंग्रेज़ी राज से बहुत पहले सत्रहवीं सदी में पैदा हुई थी। मराठा स्वराज्य को जन्म देने वाली इस राष्ट्रीय चेतना

की पृष्ठभूमि, रानाडे के मुताबिक, संतों के भागवत धर्म ने ही तैयार की थी। इस तरह रानाडे संतों के आंदोलन और मराठा स्वराज्य के बीच, भागवत धर्म और महाराष्ट्र धर्म के बीच एक संबंध होने का दावा करते हैं। सभी महाराष्ट्रियों की तरह वे भी शिवाजी द्वारा स्थापित मराठा राज्य पर गर्व करते थे और नयी दिल्ली के तख़्त पर मराठों की सत्ता क़ायम होने की सम्भावना का उत्साहपूर्वक उल्लेख करते थे।

लेकिन महाराष्ट्र धर्म में सिर्फ़ इतना ही नहीं था। रामदास द्वारा निरूपित महाराष्ट्र धर्म में भक्ति के क्षेत्र में और बाक़ी समाज में भी वर्णाश्रम धर्म का कड़ई से पालन करने और ब्राह्मणों के नेतृत्व में आस्था रखने का आग्रह भी प्रबल रूप से मौजूद था जिसके साथ सत्रहवीं सदी के शासकवर्गीय मराठा सरदारों ने एक हद तक समझौता कर लिया था। ऐसे प्रबल आग्रह से वरकरी संतों के भागवत धर्म की उदारता का मेल नहीं बैठता था। रामदास के महाराष्ट्र धर्म के पालन करने वाले को गौ और ब्राह्मण का प्रतिपालक होना भी अनिवार्य था। रानाडे के उदार मूल्य महाराष्ट्र धर्म के इन पक्षों से टकराते थे। भागवत धर्म और महाराष्ट्र धर्म के बीच इन अंतर्विरोधों का समाधान करना रानाडे जैसे उदार ब्राह्मण सुधारकों के लिए मुमकिन नहीं था। लिहाज़ा महाराष्ट्र धर्म के इन पक्षों को छोड़ देने और उन पर चुप्पी साध लेने के सिवा रानाडे के पास और कोई चारा नहीं था। गं.बा. सरदार ने इसे नोट किया है कि भागवत धर्म और महाराष्ट्र धर्म के बीच के अंतर्विरोधों को रानाडे ने स्पष्ट नहीं किया। इसके बावजूद जब सरदार यह लिखते हैं कि रानाडे ने 'भागवत धर्म और महाराष्ट्र धर्म का सफलतापूर्वक सामंजस्य बैठाया' तो यह संदेह होता है कि वह सामंजस्य सफल हुआ। खुद गं.बा. सरदार जैसे वामपंथी लेखक भी अपनी किताब में किसी जगह भागवत धर्म और महाराष्ट्र धर्म के बीच विरोध बताते हैं तो दूसरी जगह उन्हें परस्पर पूरक या अ-विरोधी भी बतलाते हैं। यह अंतर्विरोध उनकी पूरी किताब में मौजूद है। रानाडे और गं.बा. सरदार के उदाहरण बतलाते हैं कि महाराष्ट्र में उन्नीसवीं सदी के उदार ब्राह्मण सुधारकों से लेकर बीसवीं सदी के उत्तरार्ध के वामपंथी ब्राह्मण लेखक तक पश्चिमी शिक्षा के ज़रिये आये पश्चिमी ढंग के राष्ट्रवाद को आत्मसात् कर लेने के बावजूद अपनी परम्परागत प्रादेशिक राष्ट्रवाद की धारा से जुड़े रहना गर्व की बात समझते रहे हैं।

लेकिन इस मजबूरी के दबाव से पूरी तरह मुक्त परम्परानिष्ठ ब्राह्मणों ने भागवत धर्म और महाराष्ट्र धर्म को दो ध्रुवों की तरह पेश किया और सवाल पूछा कि भागवत धर्म या महाराष्ट्र धर्म? इस धारा के सबसे प्रखर प्रतिनिधि काशीनाथ राजवाड़े ने महाराष्ट्रीय इतिहास से संबंधित अपने ग्रंथ के चौथे खण्ड में रामदास की रचना *दासबोध* को सामने रख कर मराठों के राजनीतिक इतिहास के संदर्भ में महाराष्ट्र

धर्म का जो विवेचन किया है, उसका रानाडे के विवेचन से फ़र्क बहुत साफ़ है। राजवाड़े के विचार से महाराष्ट्र धर्म की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वह थी जब 'महाराष्ट्र का अधिकांश प्रदेश म्लेच्छ संस्कृति द्वारा ग्रस्त किया जा चुका था।' बाक्री बचे हुए महाराष्ट्र को लक्ष्य कर रामदास ने हिंदुओं को अपने धर्म की रक्षा में प्राण देने के लिए ललकारा कि 'कुत्तों को मार भगाओ और स्वराज्य कायम करो।' जाहिर है, जब रानाडे महाराष्ट्र धर्म की मुख्य-मुख्य विशेषताओं के प्रसंग में हिंदू-मुसलमानों के मेलजोल का रास्ता स्थापित करने की बात कर रहे थे तो वे उन्नीसवीं सदी के उदार राष्ट्रवाद की ज़रूरतें ही पूरी कर रहे थे। रामदास द्वारा निरूपित महाराष्ट्र धर्म से उसका दूर-दूर का भी संबंध नहीं था।

राजवाड़े ने दो टूक शब्दों में 'हिंदू धर्म की प्रस्थापना, गौ, ब्राह्मण की रक्षा, स्वराज्य की स्थापना, मराठों का एकीकरण और नेतृत्व' को 'महाराष्ट्र धर्म का प्रमुख अंग' बताया। यही शिवाजी और दूसरे मराठा शासकों के प्रेरणा स्रोत थे। उन्नीसवीं सदी की विभिन्न राष्ट्रवादी धाराओं की विशेषता यह है कि वे महाराष्ट्र धर्म को रामदास के निरूपण और शिवाजी के शासन तक सीमित न रख कर मराठा राज्य के मराठा साम्राज्य में बदलने तक के पूरे इतिहास पर लागू करती हैं। इसकी कल्पना शायद रामदास ने भी नहीं की होगी। यह विशेषता उस उग्र-राष्ट्रवादी धारा में, जिसके प्रतिनिधि राजवाड़े थे, खास तौर पर दिखाई देती है। राजवाड़े महाराष्ट्र धर्म को एक बिल्कुल ठोस राजनीतिक एजेण्डे की तरह पेश करते हैं और फिर उसे तारीख़वार मराठा इतिहास पर लागू करते चलते हैं। उन्होंने तारीख़ दी है कि 'सन् 1720 ई. के लगभग महाराष्ट्र में महाराष्ट्र धर्म की पूर्णरूपेण स्थापना हुई' क्योंकि इस समय तक 'स्वराज्य की स्थापना' हो गयी थी और गौ, ब्राह्मण तथा हिंदू धर्म की दीनता का सदा के लिए अंत' हो चुका था। लेकिन तब तक महाराष्ट्र धर्म सिर्फ़ महाराष्ट्र प्रदेश के अंदर ही लागू हुआ था, बाक्री भारत के लोगों में अभी अपने धर्म की रक्षा और स्वराज्य कायम करने का सामर्थ्य नहीं था। लिहाज़ा उसके लिए मराठों को महाराष्ट्र से बाहर निकलना पड़ा। उन्होंने 'समस्त भारत को यवनों के चंगुल से मुक्त करके उसे अपने अधिकार में लाने तथा हिंदू धर्म एवं गौ, ब्राह्मण का प्रतिपालन करने का निश्चय किया।' मराठों ने महाराष्ट्र से बाहर जितने भी इलाक़े जीते और अपनी सत्ता कायम की, वह सब महाराष्ट्र धर्म का ही प्रचार प्रसार करना था। इसके लिए राजवाड़े सबूत देते हैं कि विभिन्न लड़ाइयों में पराजित शासकों से मराठों ने जो संधियाँ की, उन संधियों में बकायदे 'धर्म, गौ, ब्राह्मण तथा स्वराज्य की संरक्षा से संबंधित अनुच्छेद हैं।' इन्हीं लड़ाइयों और साम्राज्य के विस्तार के जरिये 'सन् 1646 से 1796 तक' महाराष्ट्र धर्म का प्रसार हो रहा था 'जिसमें भिन्न-भिन्न जातियाँ मराठों का

नेतृत्व कर रही थीं।'

राजवाड़े के मुताबिक़ मराठा स्वराज्य कायम करने से लेकर मराठा साम्राज्य के फैलने तक शिवाजी, राजाराम, शाहू और बालाजी विश्वनाथ ने प्रयत्न किया। इस तरह हिंदू पद पादशाही अस्तित्व में आयी। राजवाड़े इस हिंदू पद पादशाही को ब्राह्मण पद पादशाही भी कहते हैं, क्योंकि यह पेशवा बालाजी बाजीराव के नेतृत्व में आयी थी। कुनबी मराठों को राजवाड़े रामदास द्वारा वर्णित क्षत्रिय वर्ण जैसा मान कर, ताकि रामदास द्वारा निरूपित महाराष्ट्र धर्म सही-सही लागू हो सके, वे इस मराठा राज्यसत्ता को भोंसले कुल पादशाही और भट्ट कुल पादशाही भी कहते हैं, क्योंकि यह भोंसले मराठों और भट्ट ब्राह्मण पेशवाओं, दोनों के नेतृत्व में चली। इस तरह पूरे भारत में हिंदू स्वराज्य और वर्णाश्रम धर्म कायम करने के लक्ष्य को केंद्र में रख कर राजवाड़े ने दो बातों पर जोर दिया। पहली यह कि रामदास ने उस सहिष्णु हिंदू धर्म की वकालत नहीं की जिसके गीत वरकरी संत गाते थे, बल्कि युद्ध के लिए तैयार हिंदू धर्म के गीत गाये। यानी इस हिंदू धर्म को मानने वाले योद्धा होंगे जो पूरे भारत को जीतने के लिए लड़ेंगे। दूसरी विशेषता यह है कि ऐसा हिंदू स्वराज्य कायम करने के लिए सिर्फ़ प्रतिरक्षा नहीं, बल्कि आक्रमण की रणनीति को अपनाना होगा। रामदास ने कहा कि धर्म की रक्षा के लिए सिर्फ़ प्राण देना ही काफी नहीं है, बल्कि शत्रुओं के प्राण लेने भी हैं।

इस तरह रामदास के महाराष्ट्र धर्म ने एक हमलावर हिंदू की छवि को आदर्श रूप में पेश किया। उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के शुरू के दशकों में महाराष्ट्रीय इतिहास का विवेचन करते हुए राजवाड़े इसी हमलावर हिंदू छवि को आगे बढ़ाते रहे। तत्कालीन युवा मराठी पीढ़ी को यह छवि रानाडे के उदार राष्ट्रवाद की तुलना में कहीं ज़्यादा आकर्षित करती है। वासुदेव बलवंत फ़डके, चापेकर बंधु और वीर सावरकर इसी छवि को अपने मन में बसा कर राष्ट्रीय संग्राम में कूदे। आगे चल कर सावरकर इसी विचारधारा के सिद्धांतकार बने और *हिंदू पद पादशाही* और *सिक्स ग्लोरियस इपोक्स ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री* नामक किताबें लिखीं। इन किताबों में रामदास द्वारा निरूपित महाराष्ट्र धर्म का ही प्रतिपादन राष्ट्रवादी आंदोलन के संदर्भ में किया गया है। मराठा इतिहास को हिंदू पद पादशाही का नाम देते हुए सावरकर ने उन्हीं बातों को दोहराया जिन्हें रामदास की व्याख्या करते हुए राजवाड़े ने कहा था : जैसे महाराष्ट्रीय सिर्फ़ अपने घर, ज़मीन या खेत के लिए नहीं लड़े थे। वे लड़े थे पूरे भारत में धर्म की स्थापना के लिए। मराठों का असली पथ-प्रदर्शक सिद्धांत रक्षा नहीं, आगे बढ़ कर हमला करना था। इन विचारों को अमली रूप देने के लिए 1904 में सावरकर ने 'अभिनव भारत' नाम से एक संगठन भी खड़ा किया।

देखें : अरविंद घोष, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, कुमारन् आशान्, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, फ़कीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चटर्जी, बंगाल का नवजागरण, बाल गंगाधर तिलक भारतेन्दु हरिश्चंद्र, भारतीय आधुनिकता, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राजा राममोहन राय, युरोपीय पुनर्जागरण, रवींद्रनाथ ठाकुर, विवेकानंद, हिंदी नवजागरण।

संदर्भ

1. एल.जी. मेश्राम और विमल कीर्ति (सम्पा.) (1996), *फुले रचनावली*, खण्ड-2, राधाकृष्ण प्रकाशन., नयी दिल्ली.
2. विनायक दामोदर सावरकर (1971), *सिक्स ग्लोरियस इपोक्स*, राजधानी ग्रंथागार, नयी दिल्ली.
3. बाल गंगाधर तिलक (2002), *श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र*, भाग एक, अनुवाद भालचंद्र सीताराम सुकंठकर, लो प्राइस पब्लिकेशन, नयी दिल्ली.

— वीरभारत तलवार

महाराष्ट्र में सुधारणा-4

गीता रहस्य का आक्रामक राष्ट्रवाद

(Sudharna in Maharashtra-4)

लेकिन महाराष्ट्र में विकसित हुए राष्ट्रीय आंदोलन के असली नेता फड़के या सावरकर नहीं, बाल गंगाधर तिलक थे, जिन्होंने कांग्रेस का नेता बन कर पूरे भारत के राष्ट्रीय आंदोलन पर अपनी छाप छोड़ी। तिलक भी रामदास के महाराष्ट्र धर्म से प्रेरित और प्रभावित थे, हालाँकि वे उस हद तक कभी नहीं गये जिस हद तक राजवाड़े या सावरकर गये। उनकी तुलना में तिलक उदार थे। तिलक की इस अपेक्षाकृत उदारता के कई कारण थे। वे सिर्फ महाराष्ट्र के नहीं, पूरे भारत के नेता थे। उन्हें जन-आंदोलन करना था जिसमें सभी धर्मों और वर्णों की एकता ज़रूरी थी। इसलिए तिलक ने वर्णाश्रम धर्म में विश्वास करते हुए भी इस पर ज़्यादा जोर नहीं दिया और न ही मुसलमान-विरोध को हवा दी। अपनी विख्यात रचना *गीता रहस्य* में उन्होंने वरकरी संतों के भागवत धर्म की तारीफ़ भी की कि इन संतों ने भक्ति के क्षेत्र में जात-पाँत का भेद नहीं किया और धर्म का रास्ता सभी के लिए समान रूप से खोल दिया। तिलक पर महाराष्ट्र धर्म का प्रभाव कुछ बारीक और उदार ढंग से पड़ा।

तिलक के राजनीतिक दर्शन का मूल आधार ग्रंथ *गीता रहस्य* ही है। महाराष्ट्र में गीता की व्याख्या करते हुए

सिद्धांत-निरूपण की परम्परा तेरहवीं सदी से चली आ रही थी। ज्ञानेश्वर, एकनाथ और रामदास ने भी अपने सिद्धांतों का निरूपण गीता की व्याख्या के जरिये ही किया था। महाराष्ट्रीय संतों की इसी परम्परा में तिलक ने भी गीता की व्याख्या की और वहीं से सामग्री ले कर ब्रिटिश उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में अपने राजनीतिक दर्शन के बुनियादी सिद्धांतों का प्रतिपादन किया।

गीता रहस्य में तिलक ने सबसे पहले यह साफ़ कर दिया कि गीता में कर्म शब्द का मतलब सिर्फ कर्मकाण्ड या श्रुतियों और स्मृतियों में बताये कर्मों से न होकर किसी भी तरह के काम से है। यह काम सामाजिक या राजनीतिक भी हो सकता है। इसके बाद तिलक ने आलोचना की कि अतीत में प्रचलित भागवत धर्म के कारण गीता के मूल संदेश के चार तत्वों ज्ञान, कर्म, भक्ति और वैराग्य में कर्म का स्थान गौण और भक्ति की प्रधानता होती गयी। इसी तरह आगे बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से इसके चार तत्वों में से एक वैराग्य या संन्यास ही सबसे प्रमुख तत्व बन गया। शताब्दियों तक इसे ही गीता का मूल संदेश समझा जाता रहा। इसलिए आज की नयी परिस्थितियों में गीता के मूल सत्य को फिर से उजागर करने की ज़रूरत है।

तिलक के अनुसार गीता मनुष्य को ज्ञान, कर्म, वैराग्य और भक्ति के बीच सामंजस्य बैठाते हुए मूलतः उचित कर्म करने का उपदेश देती है जिसे कर्मयोगशास्त्र कहा जा सकता है। *गीता रहस्य* के ग्यारहवें और बारहवें अध्याय में तिलक ने समर्थ गुरु रामदास का हवाला देते हुए इस मूल प्रश्न को उठाया है कि जिस व्यक्ति ने इस संसार के सत्य को जान लिया है, उसे सांसारिक कर्म करने चाहिए कि नहीं? इसका उत्तर देते हुए तिलक ने लिखा कि गीता कर्म पर जोर देती है। सिद्ध और ज्ञानी व्यक्ति भी अगर निष्काम भाव से कर्म करता है तो वे कर्म उसके बंधनों का कारण न बन कर लोक का कल्याण करेंगे। इसी प्रसंग में उन्होंने लोकसंग्रह शब्द का कई बार प्रयोग किया और कहा कि ज्ञानी पुरुष लोकसंग्रह की भावना से कर्म करता है। कौन सा कर्म उचित या अनुचित है— इस पर तिलक ने लिखा है कि गीता के मुताबिक कर्मों का औचित्य कर्ता के विवेक और उद्देश्य पर निर्भर करता है। नैतिकता सिर्फ कार्य के बाहरी स्वरूप में निहित नहीं होती, वह कर्ता के विवेक और उद्देश्य से तय होती है। इसलिए जिस व्यक्ति ने सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जिसका विवेक शुद्ध है, वह कभी अनुचित कार्य अथवा पाप कर्म कर ही नहीं सकता।

तिलक यह भी कहते हैं कि इस सर्वोच्च ज्ञान की आदर्श स्थिति प्राप्त करने का इंतजार किये बिना भी निःस्वार्थपूर्ण ढंग से सभी कार्य करने चाहिए। इससे मनुष्य का विवेक शुद्धतर होता है और वह सर्वोच्च आदर्श तक

पहुँच पाता है। तिलक ने यह भी लिखा कि जब तक समाज में अनीतिवान लोग हैं, तब तक नीतिवानों द्वारा उन्हें दण्डित किये जाने की ज़रूरत बनी रहेगी। बुरे या अनीतिपूर्ण कार्य करने वालों की हत्या करने से भी अहिंसा का सिद्धांत उसी तरह खण्डित नहीं होता जैसा बुराई करने वाले को दण्डित करने से सभी को आत्मवत् समझने का संतों का सिद्धांत खण्डित नहीं होता। रामदास को उद्धृत करते हुए तिलक लिखते हैं कि दुष्टों को दण्ड देने में कुछ भी अनुचित नहीं है और अगर कोई दूसरों के साथ बुराई करता है तो उसके भी साथ बुराई करने में कुछ भी गलत नहीं है। गीता की व्याख्या के जरिये और संतों के समर्थन से तिलक की ये सारी स्थापनाएँ निश्चय ही उनके उस राजनीतिक दर्शन का अंग थीं जिसके आधार पर वे भारत में ब्रिटिश शासन के अन्याय और दमन के खिलाफ एक शक्तिशाली राष्ट्रीय आंदोलन खड़ा करना चाहते थे। उनकी स्थापनाओं का निहितार्थ राष्ट्रीय संग्राम में देशभक्ति से प्रेरित होकर, स्वराज्य के महान लक्ष्य के लिए, अपने प्राण देने और शत्रुओं के प्राण लेने वालों को नैतिक दार्शनिक समर्थन देना था। विदेशी सरकार के खिलाफ होने वाले संघर्ष को हिंसक और प्रतिशोधपूर्ण होने पर भी वैधता प्रदान करना था। तिलक की इन स्थापनाओं का संदर्भ बीसवीं सदी में उभरा उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन ज़रूर था, लेकिन इन स्थापनाओं की जड़ें मराठी संतों के आंदोलन में थीं। इन सभी स्थापनाओं को महाराष्ट्र धर्म के आधार पर खड़ा किया जा सकता है, हालाँकि तिलक खुद उतनी दूर तक नहीं जाते जहाँ तक जाने की महाराष्ट्र धर्म इजाज़त या आदेश देता है। वास्तव में ये स्थापनाएँ रामदास के महाराष्ट्र धर्म से पहले के वरकरी संत एकनाथ में भी मिल जाएँगी। जैसे लोकसंग्रह की धारणा। मराठी भाषा में इसका पहला प्रयोग एकनाथ ने ही अपने ग्रंथ *एकनाथी भागवत* में किया था जिसमें कृष्ण अपने सखा उद्धव से कहते हैं कि तीनों लोकों में मुझे कोई भी कर्म करने की अनिवार्यता न होने पर भी मैं लोक के लिए कर्म करता हूँ। ज्ञान, भक्ति और वैराग्य के प्रति सच्चे रह कर लोक को प्रबुद्ध करना ही लोकसंग्रह है। एकनाथ ने यह भी कहा कि शुद्ध हृदय और निःस्वार्थ भाव से किये गये सांसारिक कर्म भी आध्यात्म की कोटि में आते हैं। एकनाथ के इन सभी विचारों को रामदास ने अपने व्यवहार धर्म के रूप में आगे बढ़ाया। व्यवहार धर्म यानी परिवार, समाज और राज्य के प्रति हर व्यक्ति के कर्तव्य।

गं.बा. सरदार ने लिखा कि रामदास के युग की कई विशेषताएँ एकनाथ के समाज में अपने प्रारम्भिक रूप में मिल जाती हैं। एकनाथ ने अपने साहित्य में ऐसी कई बातों पर ध्यान दिया है जिनसे रामदास का रास्ता आसान हो गया। जैसे व्यवहार धर्म पर जोर, राम को नायक बना कर बुराई का प्रतिरोध करने पर जोर, समाज और लोक के प्रति जागरूकता, परम्परा का आदर और ब्राह्मण की प्रशंसा। ये सभी बातें जो

एकनाथ में सौम्य रूप में आयी हैं, रामदास में काफी उग्र रूप में प्रकट होती हैं।

तिलक की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने महाराष्ट्र धर्म को विचारों के स्तर से आगे बढ़ा कर ठोस राजनीतिक आंदोलन का अंग बनाया जो रानाडे नहीं कर सके थे। 1895 में उन्होंने अपने पत्र *क्रेसरी* में शिवाजी स्मारक क्रायम करने का आंदोलन चलाया और 1896 में शिवाजी महोत्सव का सिलसिला शुरू करके शिवाजी को महाराष्ट्र में आधुनिक आंदोलन का सबसे बड़ा प्रेरणापुरुष बना दिया। राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के लिए महाराष्ट्रियों को शिवाजी से कैसी प्रेरणा मिलती रही होगी, इसे वही लोग ठीक से समझ सकते हैं जिन्हें महाराष्ट्रियों के हृदय में बसे वीर शिवाजी के और मराठा स्वराज्य के प्रति उनके गर्व का कुछ अंदाजा हो।

तिलक की तुलना में गाँधी, जो गुजराती वैष्णव संतों से प्रभावित थे और इसलिए ज्ञानेश्वर जैसे उदार वरकरी संतों के मूल्यों के करीब थे, महाराष्ट्र की राष्ट्रवादी राजनीति में लोकप्रिय नहीं हो सके। तिलक जहाँ बुरे लोगों को दण्डित करने के समर्थक थे, गाँधी यह मानते ही नहीं थे कि हममें से किसी को भी यह अधिकार है कि हम दूसरों को दण्ड देने का फ़ैसला करें। गाँधी की अहिंसा का महाराष्ट्र धर्म में कोई स्थान नहीं था। तिलक के मित्र और अनुयायी एन.सी. केलकर ने गाँधी के नेतृत्व का विरोध करते हुए शिवाजी को राष्ट्रीय आंदोलन का प्रतीक बनाने पर जोर दिया। गाँधी की हत्या भी आखिरकार सावरकर के एक अनुयायी नाथूराम गोडसे ने की। महाराष्ट्र धर्म की जड़ें महाराष्ट्रीय इतिहास और उसकी राजनीतिक परम्पराओं में इतनी गहरी थीं कि महाराष्ट्र धर्म वहाँ महाराष्ट्रीय राष्ट्रवाद का दूसरा नाम हो चुका था। उसकी उपेक्षा करना महाराष्ट्र के गाँधीवादियों के लिए भी सम्भव नहीं था। इसलिए गाँधी के युवा अनुयायी विनोबा भावे ने 1923 में जब अपना पहला मराठी पत्र निकाला तो उन्होंने उसका नाम *महाराष्ट्र धर्म* ही रखा।

महाराष्ट्रीय नवजागरण की तीसरी धारा यानी ग़ैर-ब्राह्मण धारा ने भी अपना नाता महाराष्ट्र धर्म से जोड़ा। शिवाजी के अपने शासन में ब्राह्मणों के अलावा कायस्थ-प्रभुओं, कुनबियों, रमोशी, महारों और मातंगों को भी शामिल किया गया था। शिवाजी खुद कुनबी थे और चितपावन ब्राह्मणों की नज़र में शूद्र थे। इसलिए महाराष्ट्र की सभी ग़ैर-ब्राह्मण जातियाँ भी शिवाजी के राज्य को अपना राज्य मान कर गर्व करती थीं। अक्सर यह गर्व उसी अनुपात में होता था जिस अनुपात में राज्य में उनकी जाति की हिस्सेदारी होती। जैसे कुनबी मराठे सरदारों और कायस्थ फ़ौजी अफसरों को ब्राह्मणों के साथ राज्य में ऊँचे ओहदे मिले हुए थे, इसलिए शिवाजी के राज्य पर गर्व भी इन्हीं जातियों को सबसे ज़्यादा

था। दलितों और दूसरी पिछड़ी हुई शूद्र जातियों के ओहदे और गर्व, दोनों का स्थान इसके बाद था। इसी वजह से गैर-ब्राह्मण आंदोलन के अंदर भी थोड़ा फ़र्क था। फिर भी उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ज्योतिबा फुले ने महाराष्ट्र की सभी गैर-ब्राह्मण जातियों को एक अस्मिता और रैडिकल विचारधारा के तहत गोलबंद करने की कोशिश की। फुले ने रामदास द्वारा प्रचारित महाराष्ट्र धर्म का नाम नहीं लिया, लेकिन महाराष्ट्र धर्म के मूर्त प्रतीक शिवाजी के राज्य को शूद्रों के राज्य के रूप में गर्व से याद करते हुए शिवाजी को 'कुनबी कुलभूषण' कहा। फुले द्वारा शिवाजी को कुनबी कुलभूषण कहना बहुत अर्थपूर्ण था। ऐसा कह कर फुले ब्राह्मणों द्वारा झूठी वंशावली तैयार करके शिवाजी को क्षत्रिय घोषित करने के पाखण्ड को अमान्य करते हैं। फुले ने शिवाजी को वैसा अवतारी पुरुष भी नहीं माना जैसा तिलक आदि ब्राह्मण नेता मानते थे। इसके बजाय फुले ने शिवाजी को शूद्र कुनबियों में श्रेष्ठ रत्न मानते हुए उनके प्रति एक आत्मीय लेकिन आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखा।

देखें : अरविंद घोष, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, कुमार आशान्, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, फ़कीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चटर्जी, बंगाल का नवजागरण, बाल गंगाधर तिलक भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतीय आधुनिकता, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राजा राममोहन राय, युरोपीय पुनर्जागरण, रवींद्रनाथ ठाकुर, विवेकानंद, हिंदी नवजागरण।

संदर्भ

1. एल.जी. मेश्राम और विमल कीर्ति (सम्पा.) (1996), *फुले रचनावली*, खण्ड-2, राधाकृष्ण प्रकाशन., नयी दिल्ली.
2. विनायक दामोदर सावरकर (1971), *सिक्स ग्लोरियस इपोक्स*, राजधानी ग्रंथागार, नयी दिल्ली.
4. बाल गंगाधर तिलक (2002), *श्रीमद्भगवतगीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र*, भाग एक, अनुवाद भालचंद्र सीताराम सुकेंठकर, लो प्राइस पब्लिकेशन, नयी दिल्ली.

— वीरभारत तलवार

महाराष्ट्र में सुधारणा-5

उदार ब्राह्मण, कट्टर ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण धाराओं का संघर्ष

(Sudharna in Maharashtra-5)

फुले के सामने सबसे बड़ा सवाल यह था कि वे महाराष्ट्र धर्म के सबसे बड़े प्रतीक शिवाजी को ब्राह्मणों के चंगुल से कैसे छुड़ाएँ? इसके लिए फुले ने तीन महत्वपूर्ण स्थापनाएँ कीं। सबसे पहले उन्होंने सत्रहवीं सदी के उस पूरे दृश्य से मुसलमान को अगर हटाया नहीं, तो उसे गौण ज़रूर कर दिया। मुसलमान को गौण कर देने का मतलब मुसलमानों की उस तथाकथित धर्मनाशी भूमिका को खारिज कर देना था जिसकी ब्राह्मण सबसे ज़्यादा दुहाई देते थे। फुले का यह काम बहुत बुनियादी महत्त्व का था क्योंकि इससे उस युग का परिप्रेक्ष्य ही बदल जाता था। उन्होंने स्थापित किया कि उस समाज का मुख्य अंतर्विरोध मुसलमान और हिंदू के बीच नहीं बल्कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था और व्यापक गैर-ब्राह्मण जनता (मुख्यतः दलित-शूद्रों) के बीच था। होता यह था कि मुट्टी-भर ब्राह्मण अपने और मुसलमानों के बीच के अंतर्विरोध को पूरे समाज का मुख्य अंतर्विरोध बताते हुए लाखों-लाख गैर-ब्राह्मण जातियों, खासकर दलित शूद्रों-के साथ अपने व्यापक अंतर्विरोध को छुपा लेते थे।

इसके बाद फुले ने शिवाजी के मराठा राज्य के साथ ब्राह्मण वर्ग के इस बहुप्रचारित संबंध को खारिज किया कि एक ब्राह्मण रामदास शिवाजी के गुरु थे और मराठा राज्य कायम होने का मुख्य श्रेय रामदास के उपदेशों को ही मिलना चाहिए। फुले ने रामदास को शिवाजी का गुरु मानने से इनकार किया। वैसे भी यह एक विवादास्पद धारणा थी। ऐतिहासिक रूप से अभी तक प्रमाणित नहीं हुआ है कि रामदास शिवाजी के गुरु या सलाहकार थे। इससे भी आगे बढ़ कर फुले ने रामदास और शिवाजी के दूसरे ब्राह्मण मंत्रियों की प्रचारित भूमिका को भी उलट दिया और उसकी जगह वास्तविकता का दूसरा पहलू पेश किया। फुले के मुताबिक ये ब्राह्मण वास्तव में गुरु नहीं, गुरुघंटाल थे, जिन्होंने शिवाजी का भला करने के बजाय बुरा किया। इन चालाक ब्राह्मणों ने शूद्र और अनपढ़ राजा शिवाजी के राज्य में सभी ऊँचे पदों पर बैठ कर उस राज्य का इस्तेमाल ब्राह्मणों की सत्ता को और मज़बूत करने में किया। इस तरह फुले ने उन्नीसवीं सदी के नवजागरण में मराठा राज्य को लेकर चल रहे उस पूरे विमर्श को उलट दिया जिस पर कट्टर और उदार, दोनों क्रिस्म के ब्राह्मणों ने अपना क्रब्जा जमा रखा था। दलित-शूद्रों के दृष्टिकोण से वे सत्य को इस रूप में पेश करते हैं कि गैर-

ब्राह्मण जातियों और खासकर दलित-शूद्रों ने अपने साहस, शौर्य और अपने बीच के एक रत्न शिवाजी के जरिये जिस महान मराठा राज्य को क्रायम किया था, उसे ब्राह्मणों ने अपनी धूर्तता से हड़प लिया।

फुले के नेतृत्व में महाराष्ट्रीय नवजागरण की गैर-ब्राह्मण धारा ने ब्राह्मणों, सुधारकों और परम्परानिष्ठों से समाज, संस्कृति और इतिहास के हर मुद्दे पर लोहा लिया। ब्राह्मणों की हर बात को काटते हुए, उनका तुर्की ब तुर्की जवाब देते हुए अपनी स्वतंत्र स्थापनाएँ रखीं। अगर ब्राह्मण ज्ञानदेव को *ज्ञानेश्वरी* का रचयिता मानते हैं तो गैर-ब्राह्मणों ने कहा कि ज्ञानदेव कोई और थे और *ज्ञानेश्वरी* के रचनाकार ज्ञानेश्वर कोई और। ब्राह्मणों ने गर्व के साथ एक ब्राह्मण रामदास को शिवाजी का गुरु बताया। गैर-ब्राह्मणों ने इस दावे को बिल्कुल खारिज कर दिया। कुछ एक ने तो इसके उल्टे रामदास को औरंगजेब का भेदिया तक कहा। शूद्र जाति से आये संत तुकाराम की मृत्यु को ब्राह्मण स्वाभाविक मानते हैं। गैर-ब्राह्मणों ने कहा कि तुकाराम की हत्या की गयी थी। (अमरावती के सुदामा सावरकर ने 1960 के दशक में *तुकाराम : खून की वैकुण्ठगमन* नामक किताब लिख कर यह स्थापित करने की कोशिश की है कि तुकाराम का खून किया गया था। इसके लिए लेखक ने कई सबूत भी दिये।) मराठा राज्य के पतन का कारण ब्राह्मण मुख्यतः सैन्यशक्ति की कमजोरी को मानते हैं तो गैर-ब्राह्मणों की नज़र में मराठा राज्य के पतन के असली जिम्मेदार खुद धूर्त ब्राह्मण थे।

ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मण के बीच हर एक मुद्दे पर विरोध और तीखा विचारधारात्मक संघर्ष एक ऐसे नवजागरण का चरित्र सामने लाता है जो सिर्फ ऊपर-ऊपर नहीं था, बल्कि महाराष्ट्र के सामाजिक जीवन और ऐतिहासिक अनुभवों में काफ़ी गहरे धँसा हुआ था। उन्नीसवीं सदी के महाराष्ट्रीय नवजागरण में इतिहास और संस्कृति को लेकर, संतों के आंदोलन और मराठा राज्य को लेकर जो तीखा वैचारिक संघर्ष चला, वह वास्तव में ब्रिटिश राज की बदली हुई परिस्थितियों में विभिन्न सामाजिक वर्गों के द्वारा अपने-अपने वर्ग-हितों और सांस्कृतिक अस्मिता को प्रतिष्ठित करने की लड़ाई थी। दूसरे शब्दों में सामाजिक वर्ग या समुदाय अपने वर्गीय हितों और विचारधारा की लड़ाई महाराष्ट्रीय इतिहास और संस्कृति के अखाड़े में लड़ रहे थे।

रोजालिंद ओ हानलीन ने अपने एक निबंध में इसे अच्छी तरह दिखलाया है। उन्होंने इस ओर ध्यान खींचा है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में मराठी भाषा में शिवाजी तथा मराठा इतिहास के दूसरे वीर नायकों पर साहित्य रचने की प्रबल लहर चल पड़ी थी। इसमें मुख्य विधा पँवाड़ों की यानी वीरगाथाओं की थी। शिवाजी पर पँवाड़े पहले से प्रचलित थे, लेकिन मौखिक रूप में थे। नये लिखित पँवाड़ों की मुख्य

विशेषता यह थी कि इनमें शिवाजी और मराठा राज्य के इतिहास की व्याख्या करने के बहाने से विभिन्न सामाजिक वर्गों ने एक दूसरे को चुनौती देते हुए अपनी-अपनी सामुदायिक अस्मिता प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। शिवाजी से संबंधित ऐसी तीन रचनाओं को लेकर रोजालिंद ने दिलचस्प तुलनात्मक अध्ययन किया।

इनमें पहला पँवाड़ा 1869 में लिखा गया जिसमें जोतिबा फुले ने शिवाजी और मराठा राज्य के पूरे इतिहास की गैर-ब्राह्मणी व्याख्या को बहुत प्रभावशाली ढंग से स्थापित करने की कोशिश की। इसके मुताबिक आर्यों की वर्णाश्रम संस्कृति से पहले का राजा बली श्रम करने वाले शूद्र किसानों का प्रिय राजा था। फुले ने खेत को क्षेत्र और इसलिए खेती करने वालों को क्षत्रिय कहा, जो उनके मुताबिक इन शूद्रों को पहले से कहा जाता था। बली का राज्य हर तरह से धनधान्य से भरा हुआ था, उनकी प्रजा खुशहाल थी। तब उत्तर से आर्य ब्राह्मण वामन का रूप धारण करके आये जिन्होंने छल-कपट से बली का राज्य हड़प लिया और खुद राजा बन बैठे। उनके राज्य में शूद्र क्षत्रियों (किसानों) का भयानक शोषण-उत्पीड़न शुरू हुआ। वे गुलाम बना लिये गये और गरीबी की बुरी दशा में पहुँच गये। फुले के मुताबिक प्राचीन राजा बली के राज्य को वामन रूप धारण करके हड़पने का इतिहास मानो शिवाजी और उनके मराठा राज्य के अपहरण के रूप में फिर से दोहराया गया। शिवाजी शूद्रों के राजा थे। शूद्र सैनिकों के बल पर उन्होंने शूद्रों के कल्याण के लिए जो राज्य खड़ा किया था, उसे पेशवा ब्राह्मणों ने हड़प लिया। शूद्रों की ताकत से खड़े हुए मराठा राज्य में शूद्र फिर से गुलामी की दशा में पहुँच गये। इस पँवाड़े में फुले ने ब्राह्मणों द्वारा प्रचारित इस कहानी को खारिज कर दिया कि शिवाजी ने अपना राज्य गौ और ब्राह्मण के प्रतिपालन के लिए क्रायम किया था। फुले ने एक ओर मराठा राज्य के पतन और उसके बाद शूद्रों की बदहाली के लिए ब्राह्मणों को जिम्मेदार ठहराया, दूसरी ओर बली और शिवाजी के राज्य को शूद्रों के ऐसे गौरवपूर्ण इतिहास के रूप में पेश किया जिससे प्रेरणा लेकर वे फिर से खड़े होने और अपनी वर्तमान हालत को बदलने की लड़ाई लड़ सकते हैं।

1869 में जब यह पँवाड़ा प्रकाशित हुआ, तब इस पर उस समय के ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया कैसी थी? इस प्रसंग में रोजालिंद ने उस समय की एक साहित्यिक पत्रिका *विविध अध्ययनी विस्तार* का जिक्र किया है जिसमें फुले की किताब समीक्षा के लिए आयी थी। पत्रिका के चितपावन ब्राह्मण सम्पादक ने अपनी टिप्पणी में लिखा : 'छत्रपति राजा शिवाजी पर पँवाड़े की एक प्रति हमारे पास आयी है। इसका लेखक कोई जोतिराव गोविंद राव फुले या कोई है। जब हमने पुस्तक को पढ़ा तो पाया कि इसे स्वीकार करना महान साहसी राजा शिवाजी की गरिमा और समस्त हिंदू जाति की गरिमा

को नीचे गिराना होगा। हमारे पास लेखक का कोई पता नहीं है, इसलिए हम इसे वापस भेजने में भी असमर्थ हैं।'

शिवाजी के बारे में दूसरी रचना 1898 में प्रकाशित राजाराम शास्त्री भागवत की *शिवाजी चरित्र* है। भागवत सेंट जेवियर कॉलेज में संस्कृत के प्रोफ़ेसर और एक उदार ब्राह्मण सुधारक थे जो दलितों-शूद्रों की दशा सुधारने के लिए काम करते थे। *शिवाजी चरित्र* के अलावा उन्होंने महाराष्ट्रीय इतिहास पर दो किताबें और भी लिखी थीं : *महाराष्ट्र धर्म* (1895) और *मराठ्या संबंधी चार उद्गार* (1895)। रोजालिंद के मुताबिक भागवत ने अपनी रचनाओं में इस बात पर ज़ोर दिया कि मराठा राज्य महाराष्ट्र की सभी जातियों के द्वारा मिलजुल कर कायम किया गया था। विभिन्न जातियों के बावजूद महाराष्ट्र की संस्कृति और धर्म सदा से एक रहा है और उनका एक ही समुदाय है जिसे महाराष्ट्र मण्डल कह सकते हैं। भागवत के मुताबिक महाराष्ट्रियों की यह एकता मराठी संतों के धार्मिक आंदोलन की देन थी। संतों ने सभी मराठी भाषियों को एक धर्म के सूत्र में बाँध कर उनके अन्दर एक महाराष्ट्रपन की भावना पैदा की। भागवत ने शिवाजी के ब्राह्मण सलाहकारों को भी काफ़ी महत्त्व दिया।

शिवाजी से संबंधित तीसरी रचना *शिवाजी महाराज को दादोजी कोंडदेव की सलाह* 1877 में छपी। इसके लेखक एकनाथ अनाजी जोशी एक परम्परानिष्ठ ब्राह्मण और इंदौर के एक अंग्रेजी स्कूल में सहायक हैडमास्टर थे। उनकी किताबों को दक्षिण प्राइज फण्ड से पुरस्कार भी मिला था। अपनी रचनाओं में उन्होंने शिवाजी को पूरे भारत में प्रचलित हिंदू धर्म का रक्षक नेता बतलाया। फुले की सरल और किसानों के बीच प्रचलित मराठी के उल्टे जोशी की भाषा संस्कृतनिष्ठ थी और श्लोकों में लिखी गयी थी। जोशी के शिवाजी गौ, ब्राह्मण और हिंदू धर्म की रक्षा के लिए लड़ते हैं। जोशी हिंदुओं के प्राचीन रामराज्य की चर्चा करते हैं और उसे स्वर्णयुग बताते हैं जिसे मुसलमान हमलावरों ने आकर बर्बाद कर दिया। शिवाजी ने उस राज्य को मुसलमानों के अत्याचारों से मुक्त कराया। ग़ौरतलब है कि जोशी के रामराज्य का ब्राह्मण ही फुले के बली राज्य को हड़पता है और खुद राजा बली ब्राह्मणों के पुराण में एक दैत्य के रूप चित्रित हैं। जोशी ने शिवाजी को क्षत्रिय दिखाया है, लेकिन फुले के किसान के अर्थ में नहीं बल्कि वर्णाश्रम धर्म के अर्थ में क्षत्रिय कहा है जो ब्राह्मणों की सलाह से राज्य चलाते हैं। दिलचस्प बात यह है कि जोशी की रचना में ब्राह्मण दादोजी राजा शिवाजी को बड़े-बड़े जनसम्मेलन आयोजित करने, जनसभाएँ बुलाने और उन सभाओं सम्मेलनों में सभी लोगों से विचार-विमर्श करके उन्हें बड़ी कार्यवाइयों के लिए मानसिक रूप से तैयार करने की सलाह देते हैं जो निश्चित रूप से आधुनिक औपनिवेशिक काल की राजनीतिक विशेषता थी।

इस तरह उन्नीसवीं सदी के महाराष्ट्रीय नवजागरण में मौजूद उदार ब्राह्मण, कट्टर ब्राह्मण और ग़ैर-ब्राह्मण, ये तीनों धाराएँ एक दूसरे के खिलाफ़ तीव्र विचारधारात्मक संघर्ष में उलझी हुई दिखाई देती हैं। इन तीनों धाराओं से जुड़ी जातियों और सामाजिक राजनीतिक समुदायों की अस्मिता की जड़ें महाराष्ट्रीय इतिहास में धँसी हुई थीं। ऐसा संघर्ष करते हुए दरअसल वे अपने वर्तमान सामाजिक राजनीतिक हितों और दावों की लड़ाई ही लड़ रहे थे। आज महाराष्ट्रीय समाज जिस भी रूप में है, उसमें विभिन्न जातियों और राजनीतिक समुदायों के बीच जो शक्ति समीकरण है, उसके पीछे संतों के आंदोलन, मराठा राज्य और महाराष्ट्रीय नवजागरण की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

राजनीतिक-सांस्कृतिक संघर्ष में अतीत के नायकों का इस्तेमाल महाराष्ट्रीय समाज की ऐसी विशेष परम्परा रही है जो आज भी किसी न किसी रूप में देखने को मिल जाती है। लोकतांत्रिक संवैधानिक महाराष्ट्रीय सरकार द्वारा हर साल मनाया जाने वाला राजा शिवाजी का जन्मदिन, बाल ठाकरे की शिवसेना, मालेगाँव में बमकाण्ड करने वाले हिंदू आतंकवादियों का संगठन 'अभिनव भारत' और मराठी मानुस के नाम पर चलने वाली राजनीति, यह सब भी बदले हुए संदर्भों में किसी न किसी रूप में उसी ऐतिहासिक परम्परा के राजनीतिक इस्तेमाल से जुड़े रूप हैं।

संदर्भ

1. गं.बा. सरदार (1969), *संत पोएट्स ऑफ़ महाराष्ट्र : दियर इम्पैक्ट ऑन सोसाइटी*, ओरिएंट लॉंगमेन, नयी दिल्ली.
2. गणेश तुलसीराम अप्ठेकर (1980), *मराठी संत कवियों की सामाजिक भूमिका*, पंचशील प्रकाशन, जयपुर.
3. रोजालिंद ओ हानलीन (1983), 'मराठा हिस्ट्री एज़ पॉलिमिक्स : लो कास्ट आइडियोलॉजी ऐंड पॉलिटिकल डिबेट इन लेट नाइनेटीथ सेंचुरी वेस्टर्न इण्डिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़*, खण्ड 17, अंक 1.

— वीरभारत तलवार

महावीर प्रसाद द्विवेदी

(Mahavir Prasad Dviwedi)

आधुनिक हिंदी के युग-प्रवर्तक महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938) के ही प्रयत्नों से हिंदी गद्य और पद्य की पक्की व्यवस्था तैयार हुई। द्विवेदी और उनके साथियों का महत्त्व हिंदी के नये निर्माण के लिए प्रचुर और अनेकमुख सामग्री भेंट करने में है। उन्होंने हिंदी के लिए भाषा संबंधी नया प्रतिमान विकसित किया। साहित्य के क्षेत्र में किसी एक व्यक्ति पर इतना बड़ा उत्तरदायित्व इतिहास की शक्तियों ने पहली बार रखा था, जिसका द्विवेदी द्वारा सफल निर्वहन किया गया। उनके द्वारा सम्पादित पत्रिका *सरस्वती* तत्कालीन हिंदी-समाज के लिए ज्ञान की वाहक और प्रचार-प्रसार का माध्यम थी। इस पत्रिका का स्वरूप और उद्देश्य देश-विदेश के ज्ञान-विज्ञान से हिंदी क्षेत्र को परिचित कराना था। किसी प्राचीन रचनाकार या रचनाओं के उद्धरण, हिंदीतर किसी अन्य भाषा के लेखकों पर लेख, इतिहास के किसी काल विशेष का खोजपूर्ण उल्लेख, किसी समृद्ध राजवंश का परिचय, प्राचीन कलाओं का सचित्र विवरण, भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति पर सुदूर देशों का प्रभाव, प्राच्य या पाश्चात्य दार्शनिक वाद का परिचय, प्राचीन स्मारकों, यात्राओं, प्राकृतिक सौंदर्य स्थलों का वर्णन, राजनीतिक-आर्थिक प्रश्नों और समस्याओं पर सरकार से अपील, हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए लेख, महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षाएँ, समसामयिक साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों की ओर ध्यान आकृष्ट करना, विशिष्ट तेवर की कविता-कहानियों का प्रकाशन— यह सब महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में 1901 से 1920 तक की *सरस्वती* का अनिवार्य अंग था। हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' छाप कर दलित पीड़ा को अभिव्यक्ति देने का काम महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ही किया था।

अवध प्रांत के दौलतपुर गाँव में जन्मे महावीर प्रसाद ने बचपन से दरिद्रता देखी इसलिए शिक्षा की अच्छी व्यवस्था नहीं हो सकी। फिर भी उर्दू-फ़ारसी की शिक्षा पाठशाला में मिली और घर पर ही 'शीघ्रबोध' वाली संस्कृत का अभ्यास किया। दरिद्रता भी इतनी अधिक थी कि आगे पढ़ना बेहद कठिन था। बालक महावीर पंद्रह मील दूर रायबरेली पैदल पढ़ने के लिए जाता था। अक्सर फ़ीस न दे पाने की नौबत आती थी। पढ़ाई-लिखायी का क्रम ठीक से न चलने के कारण वे पिता के पास मुम्बई चले गये। इसी बीच उन्होंने किसी तरह अंग्रेज़ी के साथ मराठी-गुजराती का ज्ञान प्राप्त किया। मुम्बई में रहते हुए तार का काम सीखा और जीआईपी रेलवे में तार बाबू हो गये। कार्य में लगन और एकाग्रता के कारण उन्हें टेलीग्राफ़ इंस्पेक्टर बना कर झाँसी भेजा गया।

बांग्ला भाषा सीखी और तार संबंधी कामकाज पर अंग्रेज़ी में एक पुस्तक भी लिखी।

रामविलास शर्मा ने 1857 के संग्राम को हिंदी नवजागरण का पहला युग, भारतेंदु युग को दूसरा और महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके साथियों-सहयोगियों के काल को तीसरा युग करार दिया है। 1900 में *सरस्वती* पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ और 1920 तक वह द्विवेदी के सम्पादन में चली। कथा-साहित्य में द्विवेदी-युग की मुख्य देन हैं— प्रेमचंद। आलोचना में रामचंद्र शुक्ल और कविता में सूर्यकांत त्रिपाठी निराला। *सरस्वती* ने इतिहासकार काशीप्रसाद जायसवाल को खूब छपा, लेकिन जायसवाल ने जब *भारत-भारती* का विरोध किया तो द्विवेदी उससे सहमत नहीं हुए। कामताप्रसाद गुरु भी मैथिलीशरण गुप्त की तरह *सरस्वती* के प्रिय लेखकों में थे। महावीर प्रसाद द्विवेदी 'शुद्ध हिंदी' के पक्षपाती नहीं थे। उनकी पुस्तक *हिंदी भाषा की उत्पत्ति* हिंदी में जबरन संस्कृत के शब्द चुसेड़ने की प्रवृत्ति का कड़ा विरोध करती है। स्वाधीनता आंदोलन का यह युग स्वेदशी वस्तुओं के व्यवहार तथा विदेशी माल के बहिष्कार की चेतना का दौर था। अर्थशास्त्र के अध्ययन के साथ द्विवेदी जी ने राजनीतिक विषयों का अध्ययन किया और संसार भर की राजनीतिक घटनाओं पर लेख लिखे। उन्होंने आधुनिक विज्ञान की प्रगति, समाजशास्त्र, इतिहास, प्राचीन दर्शन और विज्ञान का अध्ययन किया। एक सम्पादक और चिंतक के रूप में यह तैयारी हिंदी में पहली बार दिखाई देती है। इसी परिश्रम के परिणामस्वरूप हिंदी प्रदेशों में नवीन सामाजिक-राजनीतिक चेतना का प्रकाश फैला।

रामविलास शर्मा ने लिखा है कि 'साहित्य क्षेत्र में उन्होंने तय कर लिया था कि हिंदी गद्य का विकास करना है। आधुनिक हिंदी को विविध विषयों के विवेचन का माध्यम बनाना है, कविता में ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करना है और साहित्य से रीतिवाद को निकाल कर बाहर करना है। लगभग 20 वर्ष तक एकाग्र मन से इस निश्चित उद्देश्य की सिद्धि में वे लगे रहे और उन्हें सफलता प्राप्त हुई।' द्विवेदी ने हिंदी भाषा के विकास के अनेक पक्षों पर ध्यान दिया। भारत में अंग्रेज़ी की स्थिति, भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की समस्या, भारतीय भाषाओं के बीच सम्पर्क भाषा की समस्या, हिंदी-उर्दू में भेद और आपसी समानता, हिंदी व जनपदीय भाषाओं के संबंध आदि पर उन्होंने गहराई से विचार किया। उन्हें 'भाषा परिष्कारक' के रूप में सीमित करना उचित नहीं है। वे व्यापक स्तर पर साहित्यकार-सम्पादक थे। द्विवेदी युग केवल इतिवृत्तात्मक-उपदेशात्मक साहित्य का युग नहीं है। वह कई अर्थों में साहित्य के सीमांतों को व्यापकता प्रदान करने वाला साहित्य है। उन्होंने बराबर ध्यान दिलाया कि भारत ने विदेशी गुलामी का ठेका नहीं ले रखा है और भारतीय

नवजागरण एशियाई नवजागरण का अंग है। द्विवेदी के लेखों से यह भी संकेत मिलता है कि हिंदी का नवजागरण बांग्ला, गुजराती, मराठी जैसा नहीं है। उसकी अपनी भिन्न विशेषताएँ हैं। उसका अपना साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र है। यह चरित्र भारतेंदु-युग, द्विवेदी-युग और छायावादी-युग में मुक्त भाव से सामने आता है।

द्विवेदी की रचना *सम्पत्तिशास्त्र* किसी भी हिंदी लेखक द्वारा लिखी गयी अर्थशास्त्र पर पहली पुस्तक है। यह अंग्रेजी साम्राज्यवाद द्वारा लूट और तबाही को ले कर लिखी गयी यह पहली पुस्तक भी है। यह अर्थशास्त्र की नयी-पुरानी सामग्री का पिष्टपेषण नहीं है— इसका उद्देश्य है ब्रिटिश साम्राज्यवादी लूट के दिनों में भारतीय अर्थतंत्र का अध्ययन। आज भी जो लोग भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद की भूमिका समझना चाहते हैं— उनके लिए इस पुस्तक में ज्ञान का खजाना है। *सम्पत्तिशास्त्र* में द्विवेदी दिखाते हैं कि किस तरह अंग्रेजों ने आकर भारत के अर्थतंत्र में बुनियादी परिवर्तन किये। भारत की पूरी ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर लिया। यह नये तरह का सामंतवाद क़ायम करना था। इससे पहले 'हर आदमी अपनी-अपनी ज़मीन का मालिक था। राजा सिर्फ़ उससे उसकी ज़मीन की पैदावार का छठा हिस्सा ले लिया करता था। बस, सिर्फ़ राजा का इतना ही हक़ था। वह एक प्रकार का कर था, ज़मीन का लगान नहीं।' द्विवेदी कर और लगान का भेद समझाते हैं— कर वह लेगा जो ज़मीन का मालिक नहीं है। लगान वह लेता है जिसने ज़मीन पर अपना प्रभुत्व क़ायम कर लिया है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आड़ में ब्रिटिश सरकार किसानों से ज़बरन लगान लेती थी। लगान न देने पर ज़मीन से किसान को बेदखल किया जा सकता था और उसकी ज़मीन छीनकर किसी ज़मींदार को दी जा सकती थी। मनमाने लगान का नतीजा यह हुआ कि अन्नदाता किसान अन्न के लिए तरसते हुए क़र्ज़ के बोझ से लदने लगा। अंग्रेजी राज में अकाल पड़ता था तो जनता भिखारी बन कर दर-दर की ठोकरें खाती थी। इतना ही नहीं अंग्रेज़ राज्य-व्यवस्था का सारा खर्च भी किसानों से ही वसूलते थे।

द्विवेदी ने दिखाया कि अंग्रेज़-नीतियों ने भारत के व्यापार और उद्योग-धंधों को चौपट कर दिया। वे यहाँ अपने देश का माल बेचने वाले व्यापारी बनकर नहीं, बल्कि हमारे यहाँ का माल ले जाकर अपने देश में बेचने वाले व्यापारी बन कर आये। युरोप के देशों में इस बात को लेकर काफ़ी खींचातानी रही कि भारत के व्यापार पर किस का क़ब्ज़ा हो। भारत इस समय माल का निर्यात करने वाला प्रमुख



महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938)

औद्योगिक देश था, और बाहर का माल बहुत कम ख़रीदता था। लेकिन अंग्रेज़ों ने भारत के उद्योग धंधों का नाश किया। यहाँ के व्यापार और बाज़ार पर अधिकार क़ायम करके भारत को महज़ एक खेतिहर देश में तब्दील कर दिया। कारीगर-जुलाहे भूखों मरने लगे। कला-कौशल ख़त्म होने की कगार पर आ गया। अंग्रेज़ों ने भारतीय अर्थतंत्र की रीढ़ तोड़कर रख दी। व्यापारी लोग भारत से गुलाम ख़रीद कर विदेशी बाज़ारों में बेचने लगे। भारतीयों को फुसला कर कुली बना कर कलकत्ता से रवाना किया जाने लगा। प्रथम विश्व-युद्ध में अंग्रेज़ों ने भारत के किसानों का ही धन खर्च किया। *सम्पत्तिशास्त्र* इसी व्यथा-कथा का ऐतिहासिक दस्तावेज़ है।

द्विवेदी ने राजनीतिक-आर्थिक चेतना के साथ आधुनिक विज्ञान की ओर भी ध्यान दिया। वे समाज-व्यवस्था की कुरीतियों को नष्ट और धार्मिक अंधविश्वास को निर्मूल करना चाहते थे। भारत में बृहस्पति और चार्वाक की चिंतन-धारा रही है जो वर्ण-व्यवस्था और पुरोहितवाद की तीखी आलोचना करती है। द्विवेदी ने अपने लेख 'निरिश्चरवाद' में चार्वाकी *सर्वदर्शन संग्रह* से अनेक श्लोक उद्धृत किये और भारतीय तर्क पर खड़े विवेकवाद को आदर दिया। कबीर में यही विवेक परम्परा है। द्विवेदी ने 'श्री हर्ष का कलियुग' जैसा लेख लिख कर नैषधीय परम्परा का स्मरण कराया।

द्विवेदी कविताएँ भी लिखते थे, पर उन्होंने ज़्यादातर उपदेशात्मक कविताएँ लिखीं। 'कालिदास की निरंकुशता', 'हिंदी भाषा की उत्पत्ति', 'मिश्रबंधु का हिंदी कवित्व', 'तिलक का गीताभाष्य' और ऐसे अनेक लेख और टिप्पणियों से उन्होंने हिंदी के मौलिक समीक्षाशास्त्र का शिलान्यास किया। उस युग का शायद ही कोई लेखक हो जिस पर द्विवेदी के विचारों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव न पड़ा हो।

द्विवेदी का प्रबल विचार था कि वेदों को ईश्वर ने नहीं मानवों ने रचा है। यह अनुपम मानव-सृष्टि है। वे आर्यभट्ट के गणित और ज्योतिष पर किये गये कार्य के प्रशंसक थे। द्विवेदी ने 1908 की *सरस्वती* में 'मुग्धावालाचार्य' शीर्षक विस्तृत लेख प्रकाशित किया, साथ ही डार्विन के विकासवाद पर कई लेख प्रकाशित किये। द्विवेदी का पूरा चिंतन आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुवाद *विश्व प्रपंच* की भूमिका का ध्यान दिलाता है कि भारत कोरा अध्यात्मवादी देश नहीं रहा। यहाँ तर्क और वैज्ञानिक सोच का निरंतर प्रवाह रहा है।

द्विवेदी ने अंग्रेजी के विरुद्ध हिंदी या देशी भाषाओं की

हिमायत का कोई मौक़ा नहीं छोड़ा। मातृभाषा में शिक्षा की महत्ता और अपने साहित्य की महत्ता को उन्होंने बार-बार लेख लिख कर जनता को समझाया। द्विवेदी ने हिंदी के साहित्यालोचन का नवीकरण किया। रामविलास शर्मा ने माना है कि द्विवेदी सीमित अर्थों में साहित्यकार नहीं हैं— उनका उद्देश्य साहित्य जगत में एक नयी तरह की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न करना था। वे मानते थे कि जैसे अनेक जातियों से मिलकर भारत एक राष्ट्र बना है, वैसे ही विभिन्न जातीय साहित्यों से मिलकर भारतीय साहित्य बना है। द्विवेदी जाति और साहित्य के संबंध को बराबर जोड़ते रहे हैं। वे कहते हैं— 'साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पायी जाती।' इस तरह साहित्य मुर्दों को जिंदा करने वाली संजीवनी औषधि है। साहित्य की परम्परा को पहचानते हुए उन्होंने उसे रस-अलंकार की रूढ़ियों से मुक्त किया। उन्होंने भक्त-कवियों और नायिका-भेदी रीतिवादी कवियों को एक-दूसरे से अलग किया। 1901 में *सरस्वती* में द्विवेदी का 'नायिका-भेद' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। इसके बाद से रीतिकाल की कविता को हाशिये पर डालने का जो सिलसिला शुरू हुआ, वह आज तक नहीं थमा है।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेज़ी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायलॉगिसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, मीरांबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफ़ीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. भारत यायावर (1995), *महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली*, खण्ड 1-17, किताबघर, नयी दिल्ली.
2. रामविलास शर्मा (1977), *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. नंदकिशोर नवल (1990), *महावीर प्रसाद द्विवेदी*, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.
4. नंददुलारे वाजपेयी (1976), *हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद.

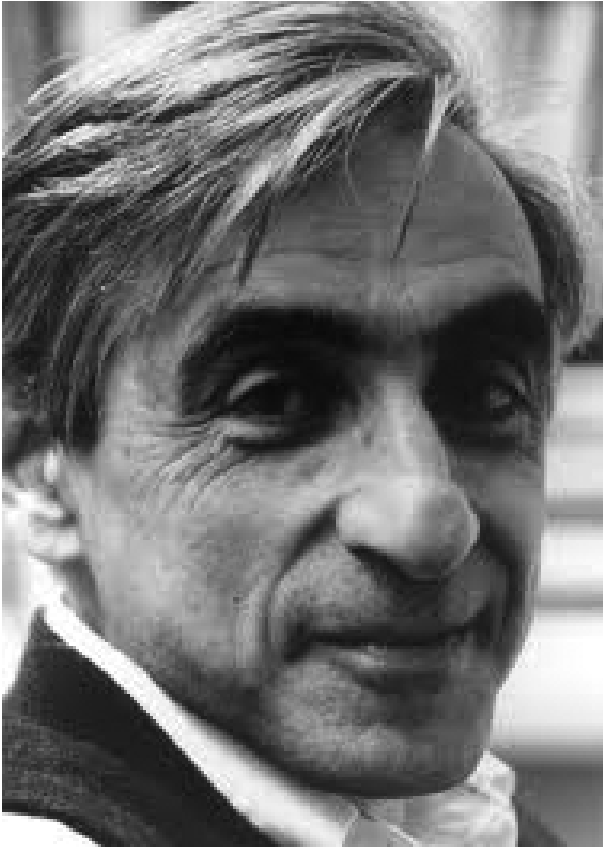
— कृष्णदत्त पालीवाल

माइकल वाल्ज़र

(Michael Walzer)

अमेरिका के प्रसिद्ध समुदायवादी राजनीतिक दार्शनिक माइकल वाल्ज़र (1935-) अपनी इस मान्यता के लिए जाने जाते हैं कि राजनीतिक सिद्धांतों को निश्चित तौर पर विशिष्ट समाजों की परम्पराओं और संस्कृति पर आधारित होना चाहिए। उन्हें माइकल सैण्डल और एलिस्टेयर मैकेंटायर के साथ अस्सी के दशक में उभर कर आये समुदायवादी स्कूल से जोड़ा जाता है। वाल्ज़र ने जॉन रॉल्स की विख्यात रचना *अ थियरी ऑफ़ जस्टिस* (1971) में पेश किये गये न्याय के विचारों की आलोचना की। उनकी आलोचना का मुख्य आधार रॉल्स (और अन्य उदारवतावादियों) द्वारा किया जाने वाला सार्वभौमिकता का दावा था। वाल्ज़र के विचार उनकी किताब *स्फ़ियर्स ऑफ़ जस्टिस* में व्यक्त हुए हैं। वाल्ज़र का बुनियादी तर्क यह है कि किसी भी व्यवस्था को अपने-आप में न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण नहीं माना जा सकता है। सिर्फ़ किन्हीं वस्तुओं से जुड़े सामाजिक अर्थ के आधार पर किसी व्यवस्था का मूल्यांकन करना मुमकिन है। वाल्ज़र प्रिंसटन के इंस्टीट्यूट ऑफ़ एडवांस्ड स्टडीज में प्रोफ़ेसर एमरेट्स हैं। वे एक पत्रिका *डिसेंट* के सह-सम्पादक भी हैं। इस पत्रिका से उनका जुड़ाव अपने छात्र जीवन से ही है। वाल्ज़र ने 1956 में ब्रैंडिस विश्वविद्यालय से स्नातक की परीक्षा पास करके केम्ब्रिज और हार्वर्ड विश्वविद्यालय में आगे की पढ़ाई जारी रखी। 1961 में उन्होंने हार्वर्ड से पीएचडी की। वाल्ज़र ने राष्ट्रवाद, जातीयता, आर्थिक न्याय, सामाजिक आलोचना, रैडिकलवाद, सहिष्णुता और दायित्व जैसे बहुत से अलग विषयों पर किताबों और निबंधों की रचना की है।

अपने केंद्रीय तर्क के संदर्भ में वाल्ज़र ने जाति-व्यवस्था पर आधारित समाज का उदाहरण दिया है जिसके तहत किसी व्यक्ति का पवित्र या दूषित (या अछूत) होना उसके जन्म के आधार पर तय होता है। ऐसे समाज में व्यक्ति की पानी, ज़मीन या शिक्षा जैसी वस्तुओं तक पहुँच उसके जन्म के आधार पर तय होती है। वाल्ज़र तर्क देते हैं कि जब तक किसी समाज के सदस्य जाति-व्यवस्था के सामाजिक अर्थ को स्वीकार करते हैं तब तक न्याय का तात्पर्य यह होगा कि इसके अनुसार होने वाले वितरण को स्वीकार किया जाए। इस तरह वस्तुओं के विशिष्ट सामाजिक अर्थ को समझे बिना उनके वितरण का फ़ैसला नहीं किया जा सकता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वस्तुओं के विशिष्ट अर्थ का निर्माण सामाजिक रूप से होता है। ये अर्थ व्यक्ति के कार्यों या विचारों की जगह समुदाय, उसके व्यवहार और संस्थाओं में समाहित होते हैं। इसलिए न्याय के किसी भी सिद्धांत का



माइकल वाल्ज़र (1935-)

निर्माण करते वक़्त वस्तुओं के सामाजिक अर्थ पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

विल किमलिका जैसे उदारतावादियों ने वाल्ज़र पर उदारतावाद के बुनियादी मूल्यों को सही तरीके से न समझने का आरोप लगाया है। किमलिका का मानना है कि उदारतावाद का बुनियादी मूल्य यह नहीं है कि किसी वस्तु का मूल्य सार्वभौमिक रूप से तय होना चाहिए। उदारतावाद का बुनियादी मूल्य यह है कि हर समाज में व्यक्ति के पास यह स्वायत्तता होनी चाहिए कि वह अपने लिए उत्तम जीवन का चुनाव कर सके। इसमें यदि उसे कोई भी चीज़ बाधक लगती है तो उसके पास उसे नकारने की स्वायत्तता भी होनी चाहिए।

माइकल वाल्ज़र ने समानता या संसाधनों के वितरण के सार्वभौमवादी सिद्धांतों को नकारते हुए जटिल समानता का विचार पेश किया है। वाल्ज़र समतावादी हैं, लेकिन उनका मानना है कि समानता को कल्याण, संसाधन या क्षमता जैसी किसी एक विशेषता पर ही ध्यान नहीं देना चाहिए। वाल्ज़र मानते हैं कि इस तरह का बौद्धिक उद्यम समानता के पूरे अर्थ को अभिव्यक्त करने में नाकाम है। इसका कारण यह है कि ये संकल्पनाएँ सिर्फ़ एक ही बिंदु पर ज़ोर देती हैं। ये सभी सिर्फ़ समतावादी वितरण व्यवस्था की बहुलता तक पहुँच को सुनिश्चित करना चाहती हैं। लेकिन होता यह है कि सामान्य

तौर पर वस्तुओं का वितरण करने की कोशिश में हम वितरण के सिद्धांत पर बहुत ज्यादा और वस्तुओं के गुणों पर बहुत कम ध्यान देते हैं।

वाल्ज़र का तर्क है कि पहले लोग वस्तुओं को कल्पित करते हैं और फिर उनका निर्माण करते हैं। इसके बाद वे इन वस्तुओं का आपस में वितरण करते हैं। यह बेहद महत्वपूर्ण है कि हम वस्तुओं के वितरण की जगह उनकी संकल्पना और उनके निर्माण पर अपना ध्यान केंद्रित करें। वस्तुओं के वितरण के संबंध में विशिष्ट बात यह है कि जब विभिन्न समाजों में वस्तुओं को अलग-अलग अर्थ दिये जाते हैं तो हर समाज में उनका वितरण भी स्वायत्त रूप से ही होना चाहिए। वस्तुओं का हर समूह वितरण के एक विशिष्ट दायरे का निर्माण करता है। इस दायरे में वितरण की एक निश्चित कसौटी ही सही होती है।

अर्थशास्त्रियों का यह मानना सही हो सकता है कि बाज़ार में लोगों के व्यवहार में एक निश्चित स्तर की तार्किकता और संग्रहण की प्रवृत्ति होती है। वाल्ज़र दिखाते हैं कि लेकिन इस बात को सभी सामाजिक क्षेत्रों के बारे में सच नहीं माना जा सकता है। यह माना जाता है कि माता-पिता को स्नेही, विश्वासी, देखभाल करने वाला और निःस्वार्थी होना चाहिए। नागरिकों के बारे में माना जाता है कि उन्हें समान, निष्पक्ष और सामूहिक शुभ के नज़रिये से प्रेरित होना चाहिए। परिवार में संसाधनों का वितरण वेतन के रूप में नहीं किया जाता है। एक लोकतंत्र में राजनीतिक पदों को रिश्तेदारों के बीच नहीं बाँटा जाना चाहिए। वाल्ज़र का मानना है कि यह उम्मीद करने का कोई कारण नहीं है कि सामाजिक जीवन के सभी 'दायरों' में वितरण का एक जैसा मानक होना चाहिए। जैसे, बाज़ार और राजनीतिक सत्ता के दो दायरे अलग-अलग हैं। एक दायरे के भीतर वस्तुओं का वितरण उसका आंतरिक मसला है और आदर्श रूप में इसे किसी दूसरे दायरे को प्रभावित नहीं करना चाहिए। हालाँकि आलोचक यह तर्क दे सकते हैं कि ऐसा कहना आसान है, लेकिन इसे व्यावहारिक रूप में लागू करना बहुत ही मुश्किल है। निश्चित रूप से आर्थिक जीवन की असमानताएँ राजनीतिक जीवन को प्रभावित करती हैं। इसी तरह राजनीतिक जीवन की असमानताएँ आर्थिक जीवन को प्रभावित करती हैं। पैसे की ताक़त से वोट को ख़रीदा जा सकता है। दूसरी ओर चुने हुए प्रतिनिधि अपने पद का दुरुपयोग करते हुए अपने व्यापारिक हितों को बढ़ावा दे सकते हैं। दूसरी ओर चुने हुए प्रतिनिधि अपने पद का दुरुपयोग करते हुए अपने व्यापारिक हितों को बढ़ावा दे सकते हैं। वाल्ज़र यह मानते हैं कि ऐसा नहीं होना चाहिए। कई राष्ट्रों ने कई तरह के क़ानूनों के द्वारा राजनीतिक सत्ता के उपयोग में सम्पत्ति के प्रभाव को रोकने की कोशिश की है, हालाँकि

इसमें उन्हें सीमित सफलता ही मिली है।

वालज़र के अनुसार हर दायरे के भीतर असमानता हो सकती है और इस तरह की असमानता होने में कुछ भी ग़लत नहीं है। मान लीजिये कि आर्थिक क्षेत्र में वितरण का नियम विभिन्न व्यक्तियों की कोशिशों को महत्त्व देता है। इस कारण मेहनती और आलसी लोगों के बीच असमानता उत्पन्न होती है। मेहनती लोग ज़्यादा मेहनत से काम करते हैं, जबकि आलसी लोग काम नहीं करते ऐसी स्थिति में मेहनती और आलसी लोगों के बीच की असमानता को ग़लत नहीं माना जा सकता है। लेकिन यदि ज़िंदगी के दूसरे क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण हैसियत होने के कारण किसी व्यक्ति को आर्थिक दायरे में उसकी मेहनत के अनुपात से ज़्यादा फ़ायदा होता है, तो इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण सवाल यह पूछा जा सकता है कि क्या काम के लिए मिलने वाला इनाम धार्मिक निष्ठा से जुड़ा हुआ है। वालज़र स्पष्ट रूप से मानते हैं कि ऐसा नहीं है। लेकिन यदि ऐसा है, तो क्या किया जा सकता है। यह तानाशाही को आगे बढ़ायेगा। तानाशाही में विभिन्न दायरों की विशिष्टता और उनके आंतरिक नियमों का उल्लंघन किया जाता है। इस कारण असमानताओं में बहुत ज़्यादा बढ़ोतरी होती है। कुछ समूह वस्तुओं की ख़ास श्रेणी पर अपना एकाधिकार क़ायम कर सकते हैं। फिर, वे इसे एकाधिकार के द्वारा अपने लिए दूसरी वस्तुओं का असमान वितरण हासिल कर सकते हैं। यह प्रभुत्व को जन्म देगा। वालज़र कहते हैं कि हमारी कोशिश होनी चाहिए कि प्रभुत्व में कटौती हो। समानता के लिए ज़रूरी है कि वितरण की कसौटियों में विविधता हो। साथ ही वितरण की कसौटियों की इस विविधता के साथ सामाजिक वस्तुओं की विविधता भी जुड़ी होनी चाहिए।

वालज़र द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत जटिल समानता तानाशाही के विपरीत है। उनके शब्दों में 'यह इस तरह के संबंधों को स्थापित करता है, जिसमें प्रभुत्व नामुमकिन हो जाता है। औपचारिक शब्दों में, जटिल समानता का यह अर्थ है कि किसी नागरिक की एक सामाजिक दायरे में स्थिति या एक सामाजिक वस्तु के संदर्भ में स्थिति किसी दूसरे सामाजिक दायरे या किसी दूसरी सामाजिक वस्तु के संदर्भ में उसकी स्थिति में कटौती नहीं करेगी।' जटिल समानता का विचार समानता के मापन के संदर्भ में आपस में टकराने वाले विभिन्न दृष्टिकोणों की तुलना में एक अलग दृष्टिकोण पेश करता है। इसमें एक नयापन है।

वालज़र के महत्त्वपूर्ण बौद्धिक योगदानों में न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण युद्ध के बारे में उनकी विवेचना भी शामिल है। उन्होंने सेंट थॉमस एक्विना के न्यायपूर्ण युद्ध के सिद्धांत को वर्तमान संदर्भ में पेश किया और युद्ध के दौरान भी नैतिकता के महत्त्व पर ज़ोर दिया। वालज़र ने मैकियावेली के विचारों में निहित 'डर्टी हैंड' के विचार को भी नये संदर्भों में

पेश किया। वालज़र के अनुसार राजनीतिज्ञ कुछ ऐसी जटिलताओं के बीच काम करते हैं कि कई दफ़ा लोगों की ज़्यादा बड़ी भलाई करने के लिए उन्हें कुछ ग़लत काम भी करने पड़ते हैं। इस तरह के ग़लत कामों को स्वीकार किया जा सकता है, लेकिन शर्त यह है कि राजनेताओं को यह अहसास हो कि वे ग़लत कर रहे हैं। इस तरह के कामों की मात्रा भी न्यूनतम होनी चाहिए और ऐसा करते वक़्त कुछ बुनियादी नैतिकताओं का भी ख़याल रखा जाना चाहिए।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज़्याँ जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल ओकशॉट, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकार और सरकारियत-1 और 2.

संदर्भ

1. माइकेल वालज़र (1983), *स्प्रिफ़र्स ऑफ़ जस्टिस: अ डिफेंस ऑफ़ प्लूरलिज़्म ऐंड इक्वालिटी*, बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क.
2. अशोक आचार्य (2011), 'समानता', अशोक आचार्य और राजीव भार्गव (सम्पा.), *राजनीति सिद्धांत : एक परिचय* (अनु. कमल नयन चौबे) पियर्सन, नयी दिल्ली.
3. विल किमलिका (2010), *समकालीन राजनीति दर्शन : एक परिचय*, (अनुवाद: कमल नयन चौबे), पियर्सन, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

माइकेल जोसेफ ओकशॉट

(Michael Joseph Oakeshott)

ब्रिटिश दार्शनिक और राजनीतिक सिद्धांतकार माइकेल जोसेफ ओकशॉट (1901-1990) को मुख्यतः उनके दो अवदानों के लिए जाना जाता है। एक दार्शनिक के तौर पर उनकी मान्यता थी कि मानवीय अनुभव को इतिहास, विज्ञान, आचरण और कविता से हासिल किये गये दृष्टिबिंदुओं से समझने की कोशिश करनी चाहिए। उनका विचार था कि अनुभव को समझने की ये चारों विधियाँ अपने-आप में अनूठी, स्वतःपूर्ण लेकिन अनिवार्यतः सीमित हैं। ये विचार 1933 में प्रकाशित उनके क्लासिक ग्रंथ *एक्सपीरिएंस ऐंड*



माइकेल जोसेफ ओकशॉट (1901-1990)

इट्स मोड्स में दर्ज हैं। राजनीतिक सिद्धांतकार के रूप में उनका कहना था कि किसी समुदाय की परम्पराओं और रिवाजों की पृष्ठभूमि को नज़रअंदाज़ करके राजनीतिक गतिविधि को सही ढंग से नहीं समझा जा सकता। राजनीति समस्याओं का हल कुछ इस तरह से निकालती है कि उसके ज़रिये इंड्रियानुभववाद की संकीर्णता और बुद्धिवाद के अमूर्त रवैये से कतरा कर निकला जा सकता है।

ओकशॉट मानते थे कि राजनीतिक जीवन के दो केंद्रीय आयामों, समय और ज्ञान, को समझने में ये दोनों दर्शन नाकाम रहे हैं। इस लिहाज़ से राजनीति न तो सामूहिक मुक्ति की परियोजना है, और न ही किसी अमूर्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिए की जाती है। ओकशॉट के मुताबिक राजनीति तो एक ऐसे अथाह सागर में डूबने से किसी तरह बचे रहने का प्रयोजन है जहाँ न किसी को किनारा मिलता और न किसी लंगर का सहारा। चूँकि इस सागर का न कोई प्रारम्भ है और न कोई अंत, इसलिए राजनीति ज्यादा से ज्यादा 'बिगड़े हुए की मरम्मत करने की कला' भर है। ओकशॉट के अधिकतर राजनीतिक सूत्रीकरण निबंधों की शकल में सामने आये। 1962 में उनके निबंधों का संकलन *रैशनलिज़म इन पॉलिटिक्स* का प्रकाशन हुआ। 1975 में प्रकाशित *ऑन ह्यूमन कण्डक्ट* को ओकशॉट के राजनीतिक दर्शन सबसे बेहतरीन

नमूना माना जाता है। उन्हें हॉब्स के दर्शन पर विशेष महारत हासिल थी। ओकशॉट की भूमिका के साथ प्रकाशित हुआ *लेवायथन* का संस्करण राजनीतिशास्त्र के अध्येताओं के बीच सबसे ज्यादा लोकप्रिय माना जाता है।

ओकशॉट की दार्शनिक कृति *एक्सपीरिएंस ऐंड इट्स मोड्स* एक बेहद जटिल किताब है। पेचीदगी के कारण प्रकाशन के तुरंत बाद इसका कोई खास स्वागत नहीं हुआ और उसका पहला संस्करण करीब तीस साल में बिक सका। ओकशॉट के मुताबिक हम अनुभव को तब तक नहीं समझ सकते जब तक उसे सम्पूर्णता में और उसकी अपनी शर्तों पर न ग्रहण किया जाए। उनके लिहाज़ से सम्पूर्णता दो पक्षों (मस्तिष्क या आत्मनिष्ठ और बाह्य-विश्व यानी वस्तुनिष्ठ) से मिल कर बनती है। आम तौर से लोग अपने दैनंदिन अनुभव को आंशिक और सीमित दृष्टिबिंदु से ग्रहण कर पाते हैं। ओकशॉट का कहना था कि मानवीय अनुभव विमर्श के तीन स्वतंत्र दायरों (इतिहास, विज्ञान और आचरण) की विभिन्नता में समझा जा सकता है। बाद में ओकशॉट ने इसमें विमर्श का एक चौथा कविता का दायरा भी जोड़ दिया। इतिहास को उन्होंने अतीत के आयाम के तहत किये गये यथार्थ के अनुभव की संज्ञा दी। विज्ञान को उन्होंने ज्ञान के किसी सम्प्रभु और श्रेष्ठतर रूप की तरह मानने से इनकार करते हुए मात्रा के आयाम के तहत किये जाने वाला अनुभव क्रार दिया। व्यावहारिक आचरण को ओकशॉट ने स्वेच्छा के आयाम तहत होने वाले अनुभव के नाम से पुकारा। कविता उनके लिए सौंदर्यमूलक अनुभव की श्रेणी थी। दर्शन को वे एक ऐसी गतिविधि मानते थे जो अनुभव के इन सभी आयामों से अलग और ऊपर है। इसीलिए दर्शन के माध्यम से अनुभव की इन विविध ध्वनियों को सुना जा सकता है। शिक्षा वह प्रक्रिया है जो सिखाती है कि अनुभव के इन आयामों के आपसी संवाद को कैसे सुना जाए। 1989 में प्रकाशित एक रचना *द वॉयस ऑफ लिबरल लर्निंग* में ओकशॉट ने प्रशिक्षण और शिक्षा में अंतर करते हुए कहा कि ट्रेनिंग केवल एक ही आवाज़ सुनने की क्षमता पैदा करती है।

ओकशॉट आचरण यानी व्यावहारिक अनुभव के दायरे को ही राजनीति कहते हैं। अपने पहले दार्शनिक ग्रंथ की व्यावसायिक विफलता के बाद उन्होंने अपना ध्यान राजनीतिक सैद्धांतिकी की ओर मोड़ा। इंड्रियानुभववाद की आलोचना करते हुए ओकशॉट ने कहा कि उसके लिए समय परस्पर विच्छिन्न क्षणों की शृंखला मात्र और ज्ञान सूचनाओं के एक बंडल की तरह है। इसी तरह बुद्धिवाद समय को अवास्तविक मानता है और ज्ञान को कालातीत सत्य की तरह पेश करता है। ये दोनों दर्शन किसी समुदाय के लिए परम्परा की केंद्रीय अहमियत समझने के लिए तैयार नहीं हैं। जबकि किसी भी समुदाय के लिए समय ऐतिहासिक निरंतरता का

दूसरा नाम है; और अपने संचालन के लिए हर समुदाय को व्यावहारिक और ठोस ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है।

ओकशॉट का कहना था कि राजनीतिक दर्शन का उद्देश्य आम तौर पर मानवीय आचरण के और खास तौर पर नागरिक एसोसिएशन के आदर्श चरित्र और आधारतत्त्वों का विश्लेषण होना चाहिए। मानवीय साहचर्य के लिए बनी कोई भी संस्था आचरणगत ढाँचे पर टिकी होती है। ये आचरण या तो विवेक-आधारित होते हैं या नैतिक। विवेकसम्मत आचरणों से साझा तात्त्विक उद्देश्यों की प्राप्ति की जाती है, जबकि नैतिक आचरणों की प्रकृति प्रयोजनमूलक नहीं होती।

राजनीतिक समाज को ओकशॉट दो क्रिस्मों में बाँट कर देखते हैं : टेलियोक्रैटिक और नोमोक्रैटिक। यूरोप में समय-समय पर दोनों तरह के राज्य उभरते रहे हैं। टेलियोक्रैटिक समाज से उनका मतलब है किसी खास सामूहिक लक्ष्य को वेधने के लिए आयोजित किये जाने वाली राज्य-व्यवस्था। इस तरह के राज्य के ऊपर ओकशॉट नोमोक्रैटिक समाज को प्राथमिकता देते हैं जो उनके मुताबिक किसी विशेष लक्ष्य से बँधे हुए नहीं होते। उनके तहत आयोजित की जाने वाली राज्य-व्यवस्थाएँ मूल्य-तटस्थ ढाँचे पर टिकी होती हैं और उनमें व्यक्ति को अपनी प्राथमिकता के अनुसार अपना रास्ता चुनने की स्वतंत्रता होती है। ओकशॉट के अनुसार ऐसी ही राज्य-व्यवस्थाएँ उदारतावादी स्वभाव के अनुकूल होती हैं। इस लिहाज से वे टी.एच. ग्रीन, ईसैया बर्लिन और कार्ल पॉपर जैसे चिंतकों के नजदीक बैठते हैं। ओकशॉट नोमोक्रैटिक समाज को आचरण की नैतिक प्रकृति पर टिके मानवीय साहचर्य से निर्मित मानते थे। उनके खयाल से ऐसे समाज के सदस्यों के बीच मित्रता सरीखे रिश्ते होने चाहिए। इस तरह का नागरिक एसोसिएशन समतामूलक वितरण या रैडिकल सुधारों के माहौल में नहीं पनप सकता।

केंट में जन्मे माइकेल ओकशॉट ने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में इतिहास के अध्ययन से अपनी शिक्षा शुरू की, लेकिन साथ में वे दर्शन और राजनीतिक सैद्धांतिकी पर भी ध्यान देते रहे। इसी विश्वविद्यालय में उन पर भाववादी दार्शनिक जॉन मैकटैगार्ट के विचारों का असर पड़ा। ओकशॉट जिस बेहतरीन गद्य-लेखन के लिए जाने जाते हैं, उस पर भी मैकटैगार्ट का प्रभाव माना जाता है। बीस के दशक में वे जर्मनी गये और मारबुर्ग और ट्युबिंगन विश्वविद्यालयों में धर्मशास्त्र की दार्शनिक शिक्षा ली। 1933 में जब उनकी पहली किताब *एक्सपीरिएंस ऐंड इट्स मोड्स* का प्रकाशन हुआ तो ब्रिटेन में दर्शन के हलकों में तर्कशास्त्र और भाषा के विश्लेषण का फ़ैशन था। इसलिए भी उनकी पुस्तक पर ज़रूरी ध्यान नहीं दिया गया, लेकिन बाद में वह क्लासिक मानी गयी। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान उन्होंने कुछ दिन तक ब्रिटिश खुफ़िया विभाग का काम भी किया। युद्ध के बाद

वे फिर केम्ब्रिज लौटे। 1951 में उन्हें लंदन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स में राजनीतिशास्त्र का प्रोफ़ेसर नियुक्त किया गया जहाँ वे अवकाश प्राप्त होने तक रहे।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन और सुशासन, फ़ासीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल वालज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकार और सरकारियत-1 और 2, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. पी. फ़्रैंको (1990), *द पॉलिटिकल फ़िलॉसफी ऑफ़ माइकेल ओकशॉट*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैविन, सीटी.
2. डब्ल्यू.एच. ग्रीनलीफ़ (1966), *ओकशॉट्स फ़िलॉसफ़िकल पॉलिटिक्स*, लॉगमैन, लंदन.
3. एम.जे. ओकशॉट (1933), *एक्सपीरिएंस ऐंड इट्स मोड्स*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
4. एम.जे. ओकशॉट (1975), *ऑन ह्यूमन कण्डक्ट*, क्लैरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

माइकेल मधुसूदन दत्त

(Michael Madhusudan Datt)

साहित्य के क्षेत्र में बंगाल के नवजागरण को रचनात्मक विश्वास देने का श्रेय माइकेल मधुसूदन दत्त (1824-1873) को जाता है। आधुनिक भारतीय साहित्य के प्रमुख निर्माताओं में से एक माइकेल एक ऐसे विद्रोही रचनाकार थे जिन्होंने परम्परागत साहित्यिक मूल्यों से समझौता नहीं किया। उन्होंने उन तमाम चिंतन-परम्पराओं की अवहेलना की जो रचनाकार को लकीर का फ़कीर बनाती हैं। माइकेल ने स्वयं को युरोपीय परम्पराओं में संस्कारित किया फिर भी वह भारतीय बना रहा। माइकेल पहले कवि हैं जिन्होंने एशिया में, विशेषकर भारत में अंग्रेज़ी पद्धति के अनुसार मुक्त-छंद में काव्य-सृजन की शुरुआत की। उनके बाद भारतीय साहित्य में कई कवियों ने मुक्त-छंद की क्रांतिकारी भूमिका पहचान



माइकेल मधुसूदन दत्त (1824-1873)

कर नये काव्य प्रयोग किये। उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना *मेघनाद वध* ने काव्य-सृजन की एक पूरी परम्परा को पलटते हुए नवीन मानसिकता के लिए मौलिकता के द्वार खोल दिये। उन्होंने रामायण-कथा की घटनाओं, चरित्रों तथा प्रकरण-वक्रताओं की परम्परा से हट कर नयी व्याख्या की और महाकाव्योचित औदात्य का एक नया रूप-स्वरूप भारतीय साहित्य को दिया। इस तरह माइकेल मधुसूदन दत्त के सृजन-कर्म से एक अभिनव सांस्कृतिक नवजागरण अवरित हुआ। माइकेल मधुसूदन दत्त की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है *मेघनाद-वध* (1860)। मैथिलीशरण गुप्त ने माइकेल की जिन तीन कृतियों का हिंदी में विशिष्ट भूमिका के साथ अनुवाद प्रस्तुत किया है उनमें *ब्रजांगना* और *वीरांगना* के साथ *मेघनाद वध काव्य* भी शामिल है।

इसके प्रकाशित होते ही बांग्ला साहित्य में भूचाल आ गया। विधोत वाहिनी सभा ने कलकत्ता में माइकेल का सम्मान किया और सम्मान समारोह में बड़े-बड़े नामी लोग सम्मिलित हुए। लेकिन सम्मान के बाद भी माइकेल को विरोध झेलना पड़ा। निंदकों ने उनके मुक्त-छंद को छछूँदर छंद करार दिया। बचपन में माँ से सुनी गयी कृतिवास की *रामायण* के संस्कार से माइकेल को यह महाकाव्य लिखने की प्रेरणा मिली और उन्होंने युद्ध में मेघनाद की मृत्यु का प्रसंग चुना। यह वाल्मीकि रामायण का लगभग अछूता प्रसंग था। बांग्ला के

मात्रिक छंद (आठ और छह मात्रा के) और पयार छंद (एक पारम्परिक छंद) में लिखा होने पर भी यह रचना किसी भी भारतीय भाषा और साहित्य में मुक्त-छंद का अपूर्व प्रयोग थी। उनकी सर्जनात्मक भाव-भूमि इतनी नयी और प्रयोगात्मक थी कि पुराने संस्कारों की पीढ़ी को समझ में नहीं आ रहा था कि माइकेल राम तथा लक्ष्मण को पीछे धकेल कर मेघनाद को क्यों सामने ला रहे हैं? इस काव्य के राक्षस प्राचीन राक्षसों से भिन्न हैं। वे हमारी तरह ही मनुष्य हैं लेकिन मनुष्य से अधिक बलिष्ठ। *मेघनाद-वध* के कपि भी बालों वाले पशु नहीं हैं, साधारण मनुष्य हैं। राम-सीता भी अवतार नहीं हैं— साधारण नर-नारी गण के समान हैं। केवल उनकी मनुष्य से अलग एक विशेषता है कि वे तपोबल से देवताओं को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इस काव्य में नौ सर्ग हैं और तीन दिनों और दो रातों की घटनाओं का वर्णन है। वीर रस प्रधान यह कृति काव्यात्मकता में अद्भुत है। मेघनाद की पत्नी सुलोचना का मनोहर चरित्र आत्मत्याग की पराकाष्ठा है। इस कृति के नवम् सर्ग में करुण-रस की पराकाष्ठा है। राम-लक्ष्मण की अपेक्षा मेघनाद के चरित्र का उत्कर्ष दिखाया गया है। आर्य-वंश से ज़्यादा अनार्यवंश का पक्ष लिया गया है।

बांग्ला में माइकेल के विरोधी व्यंग्य में पूछते थे कि आमित्राक्षर छंद क्या हैं? सिरफिरे का संगीत है! एक समय था जब ईश्वर चंद विद्यासागर और प्रसिद्ध बांग्ला विद्वान श्रीचंद विद्यारत्न भी आमित्राक्षर का विरोध करते थे। लेकिन इन सभी ने अपनी राय बदली और माइकेल को सराहने लगे। आमित्राक्षर छंद से कवि माइकेल ने छंद की अधीनता न करके छंद को ही अपने अनुकूल बना लिया। रामकृष्ण परमहंस ने कहा कि 'मेघनाद-वध जैसा काव्य बांग्ला में तो है ही नहीं, भारतवर्ष में भी दुर्लभ है। तुम्हारे देश में यदि कोई कुछ नया काव्य करता है तो तुम उसकी हँसी उड़ाकर उसका अपमान करते हो।'

माइकेल राजनारायण दत्त तथा जाह्नवी देवी के इकलौते पुत्र थे। उनका जन्म सागरदांरी गाँव के दत्त परिवार में हुआ। आज यह गाँव बांग्लादेश के जैसोर जनपद में है। सम्पन्नता के कारण माइकेल को बचपन में ग़रीबी का कोई अनुभव नहीं हुआ। गाँव के स्कूल में संस्कृत-बांग्ला के साथ फ़ारसी पढ़ी। मधुसूदन की शिक्षित माँ प्रतिदिन रामायण-महाभारत का पाठ करती थीं, जिसका उनकी सर्जनात्मकता पर गहरा प्रभाव पड़ा। माँ उन्हें मुकुंदराम लिखित *चंडीमंगल* तथा भारतचंद्र रचित *अन्नदामंगल* पढ़ कर सुनाया करतीं। इससे इन कथाओं के कई प्रकरण मधुसूदन को याद हो गये। परिस्थितिवश माइकेल के पिता गाँव छोड़ कर कलकत्ता में बस गये जहाँ उनकी गिनती मशहूर वकीलों में थी। माइकेल एक ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली वाले ग्रामर स्कूल पढ़ने गये। पाँच

वर्ष तक वहाँ पढ़ने के बाद हिंदू कॉलेज कलकत्ता में पढ़ने भेजे गये। नवजागरण में कलकत्ता के हिंदू कॉलेज की विशेष भूमिका थी। हिंदू कॉलेज में माइकेल फ़ारसी की गज़लें गाते थे और बिशप कॉलेज में जाने के बाद उन्होंने फ़ारसी की कविताओं का अंग्रेज़ी अनुवाद भी किया। हालाँकि माइकेल तो हिंदू कॉलेज में डिरोज़ियो के कई वर्ष बाद गये थे लेकिन डिरोज़ियन असर वहाँ था। इसी प्रभाव में उस ज़माने में युवकों के बीच जातिवाद, देवपूजा, देशभक्ति आदि पर बहसों और हिंदू-धर्म परम्पराओं का विरोध होता था। इस परिवेश ने माइकेल को विद्रोही बना दिया। हिंदू-कॉलेज में माइकेल ने अंग्रेज़ी तथा गणित में प्रवीणता हासिल की। अपने अध्यापक डेविड लेस्टर रिचर्डसन के प्रभाव में मधुसूदन ने अंग्रेज़ी कविताएँ *द बंगाल स्पेक्टेटर*, *लिटरेरी ग्लीनर*, *कलकत्ता लिटरेरी गज़ट* आदि प्रमुख पत्रिकाओं में छपवानी शुरू कीं। सॉनेट लिखने का अभ्यास किया। वड्सवर्थ और बायरन को पढ़ा और सत्रह वर्ष की उम्र में ही नामी कवि बन गये।

मधुसूदन ने कॉलेज की पढ़ाई छोड़ने के बाद 1840 में ओल्ड मिशन चर्च में ईपायी धर्म स्वीकार कर लिया। धर्मांतरण की खबर ने बंगाली हिंदुओं में खलबली मचा दी। माता-पिता भी इस घटना से काफ़ी कष्ट में रहे। माइकेल ने 'द एंग्लो सैक्सन ऐंड द हिंदू' लेख में कहा है कि 'हिंदू पतित हो चुका है— कभी वह फूल-फल वाला छायादार वृक्ष था पर अब उस पर गाज़ गिर गयी है।' यह निबंध उन्होंने धर्मांतरण के काफ़ी समय बाद 1854 में लिखा। अपने एक बहुचर्चित लेख 'इम्पोर्टेंस ऑफ़ एजुकेटिड हिंदू फ़्रीमेल्स' में उन्होंने कहा कि हिंदू धर्म में महिलाओं की स्थिति केवल काम-पूति कराने वाली तक रह गयी है। इस स्थिति को बदलना होगा। उन दिनों वे इंग्लैण्ड जाने के लिए बेहद उत्सुक थे और भारत की हर समस्या का हल युरोपीकरण में खोजने लगे थे। एक दिन उन्होंने बिशप कॉलेज के दक्षिण भारतीय छात्रों के साथ मद्रास जाने का निर्णय ले लिया। वे समुद्र के रास्ते चार दिनों की यात्रा के बाद मद्रास पहुँचे। ईसाई घर में रहने की जगह मिल गयी और फ़्रीडे स्कूल में नौकरी का बंदोबस्त हो गया। वे द्वितीय शिक्षक नियुक्त किये गये। 1848 में रेबेका से शादी की और चार संतानों के पिता बने। उन्होंने रेबेका पर कविताएँ लिखी और कहा, 'उस हँसी को निरखना कितना मधुर है।' कविताओं में वे अब तक मुक्त छंद का प्रयोग करने लगे थे। उन्हें सॉनेट लिखने के लिए जाना जाता था। अंग्रेज़ी में लिखी उनकी सर्वाधिक चर्चित कविता 'द कैप्टिव लेडी' (संयोगिता स्वयंवर) है। इस कविता में पाँच-पाँच पंक्तियों के ग्यारह पद हैं और आरम्भ में 615 चतुष्पदी पंक्तियाँ हैं। आठ वर्ष तक वहाँ रहने के बाद उन्होंने मद्रास छोड़ने का निर्णय लिया।

कलकत्ता लौटने पर माइकेल को रेवरेंड के.एम. बनर्जी का आतिथ्य स्वीकार करना पड़ा। उनके संबंधियों ने ज़मीन-जायदाद पर क़ब्ज़ा कर लिया। माइकेल के मन में गाँव की हुड़क थी और पुराने मित्रों से सम्पर्क की उतावली। उनके पुराने मित्र कलकत्ता के पुलिस मजिस्ट्रेट किशोरी चंद्र मित्र ने उन्हें अपने कार्यालय में लिपिक के रूप में नियुक्त दे दी। यह कार्य उन्होंने काफ़ी दक्षता से किया। उनमें रचनात्मकता का जोर भी कम नहीं हुआ था। वे अपनी मातृभाषा में लिखने का मन बनाने लगे। उसी समय उन्हें पता चला कि वाहकवाड़ा के राजा और उनके भाई का लगाव नाटक से है। श्री हर्ष के नाटक *रत्नावली* का इन भाइयों ने पण्डित रामनारायण तर्करत्न से बांग्ला में अनुवाद कराया था और मंचन से पहले नाटक का अंग्रेज़ी अनुवाद करवाना चाहते थे। इस पृष्ठभूमि में इस नाटक का अंग्रेज़ी अनुवाद माइकेल ने किया। अनुवाद के दौरान उन्हें स्वयं भी नाटक लिखने की प्रेरणा हुई। इससे पहले वे मद्रास में *रज़िया द इम्प्रेस ऑफ़ इण्डिया* नाटक लिख चुके थे। इस बार माइकेल ने एकाग्र मन से अपना बांग्ला नाटक *शर्मिष्ठा* (1859) लिखा कुछ समय बाद खुद ही उसका अंग्रेज़ी अनुवाद किया। कुछ विद्वानों ने *शर्मिष्ठा* नाटक पर 'विदेशीपन' का आरोप लगाया तो माइकेल ने उसका प्रतिवाद किया। इस नाटक को लेकर एक लम्बा संघर्ष चला। इसके बाद आम आदमी की भाषा में लिखने का मन बनाकर *अललेर घरेर दुलार* की रचना बोलचाल की शैली में की।

कलकत्ता के परिवेश में रचनात्मकता का उत्साह था। इस समय वे *मेघनाद-वध* की सर्जनात्मकता में तन्मय थे। इसी तन्मयता के क्षण में उन्होंने अपना दूसरा नाटक *पद्मावती* (1839) लिखा। यह नाटक एक यूनानी पुराण-गाथा से प्रभावित है। इस नाटक में कवि ने मुक्त छंद के प्रयोग किये। इसके बाद दो नाटक और लिखे *एकेई कि बोले सभ्यता* तथा *बूढ़ी शालिकेर घरे रन*। माइकेल के नाटक मंचित होते तो दर्शकों की भीड़ उमड़ पड़ती थी। नाटकों का व्यंग्य दर्शकों को बहुत भाया। इसी प्रेरणा में 1856 में *तिलोत्तमा सम्भव काव्य* की रचना की। यह काव्य महाभारत की कथा के एक प्रकरण शृंड-उपशृंड राक्षसों पर केंद्रित है। ये दोनों भाई सुंदरी तिलोत्तमा को प्राप्त करने के लिए लड़ते हैं। नाटक में पहली बार मुक्त-छंद का प्रयोग किया गया था। वे अपना अधूरा नाटक *रज़िया बेगम* पूरा करना चाहते थे, लेकिन यह सम्भव नहीं हो सका। मुसलमान रज़िया के नाम पर बंगालियों को भड़कता देखकर उन्होंने *कृष्ण कुमारी* नाटक की रचना की। यह पाँच अंकों का राजपूती (राजस्थानी) नाटक है। इस नाटक के दस वर्षों के बाद *मायाकानन* नाटक लिखा, जिसका मंचन उनकी मृत्यु के बाद ही हो सका। कहते हैं उन्होंने एक नाटक *विष का धनुर्गुण* और लिखा था, जिसे

आर्थिक कष्ट के बाद उन्हें बेचना पड़ा। 1858 से 1862 तक उन्होंने अद्भुत सर्जनात्मकता का परिचय दिया। शर्मिष्ठा (1859) से लेकर *वीरांगना* (1862) तक का यह सृजन-दौर भारतीय साहित्य में उन्हें अमर बनाने के लिए काफ़ी है।

1862 में बैरिस्टरी की परीक्षा देने के लिए माइकेल समुद्र के रास्ते यूरोप गये और ग्रेज इन में प्रवेश लिया। चूँकि वकालत के प्रति आंतरिक अनुराग न था इसलिए सफल नहीं हुए। विदेश जाकर फ्रेंच, इतालवी, लैटिन, ग्रीक और पोर्तुगीज़ भाषाओं में प्रवीणता प्राप्त की, लेकिन उनका उपयोग न हो सका। इंग्लैण्ड में विषाद भरा जीवन जिया और कलकत्ता आकर भी आपदाओं में जिये। विपत्ति में मधुसूदन दत्त ने तमाम जगहों से उधार लिया। फ्रांस गये तो जेल भोगनी पड़ी और परिवार को अनाथालय में आश्रय लेना पड़ा। मधुसूदन ने अंततः ईश्वर चंद्र विद्यासागर को करुण-पत्र लिखा। विद्यासागर ने तत्काल धन भेजकर उन्हें बचाया और वे स्वदेश आ सके। कलकत्ता में कुछ दिन हाईकोर्ट में बैरिस्टरी की पर सफल नहीं हुए। यूरोप से लौट कर वे छह वर्ष जीवित रहे पर कोई सृजन कार्य नहीं कर सके। बांग्ला के रचनाकारों ने माइकेल पर नौ सौ पृष्ठों में मधुस्मृति ग्रंथ का प्रकाशन किया। योगेंद्रनाथ बसु ने उनका जीवन चरित लिखा। *मेघनाद-वध* इतना समादृत हुआ कि एक वर्ष में ही इस जीवन चरित की एक हज़ार प्रतियाँ बिक गयीं।

देखें : अरविंद घोष, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, क्राजी नज़रुल इसलाम, कुमारन् आशान्, गजानन माधव मुक्तिबोध, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, जय प्रकाश नारायण, प्रेमचंद, फ़कीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारतेंदु हरिश्चंद्र, महादेव गोविंद रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रवींद्रनाथ ठाकुर, राजा राममोहन राय, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, रुक्मिणी देवी अरुंडेल, लेव निकोलाइविच तॉल्स्तॉय, विनोबा भावे, वल्लतोल, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, सर्वोदय, सुब्रह्मण्य भारती, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

संदर्भ

1. अमलेंदु बोस (1983), *माइकेल मधुसूदन दत्त*, भारतीय साहित्य के निर्माता, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.
2. डेविड कौफ़ (1965), *ब्रिटिश ओरिएंटलिज़म ऐंड द बंगाल रिनेसाँ*, कलकत्ता.
6. सुरेश प्रसाद नियोगी (1973), 'मधुसूदन द लाइट ऑफ़ न्यू पैकेट', *चतुष्कोण*, मई.

— कृष्णदत्त पालीवाल

माओ त्से-तुंग

(Mao Tse-tung)

चीन की कम्युनिस्ट क्रांति के प्रमुख नेता, चीन लोक गणराज्य के आजीवन अध्यक्ष, राजनीतिक विचारक, दार्शनिक और कवि माओ त्से-तुंग (1893-1976) बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में चले तीसरी दुनिया के राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों के सैद्धांतिक प्रेरणा-स्रोत माने जाते हैं। हालाँकि 1917 फ़रवरी और अक्टूबर में हुई दोनों क्रांतियों में मजदूरों और किसानों का संयुक्त मोर्चा क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर चुका था, लेकिन माओ से पहले मार्क्सवादी-लेनिनवादी राजनीति आम तौर पर शहरी औद्योगिक समाज में होने वाली रैडिकल गतिविधियों के आइने में ही देखी जाती थी। केवल शहरी औद्योगिक मजदूरों को ही क्रांतिकारी एजेंसी से सम्पन्न माना जाता था। इसके मुताबिक क्रांति को शहरों में सम्पन्न होने के बाद देहात की तरफ़ प्रस्थान करना था। लेकिन, माओ ने इस क्रम को पलट दिया। उन्होंने किसानों में क्रांतिकारी एजेंसी रेखांकित की, उनकी विद्रोही प्रवृत्तियों को मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अनुकूल पाया और छापामार लड़ाई पर आधारित दीर्घकालीन लोक-युद्ध की फ़ौजी रणनीति सूत्रबद्ध करते हुए दिखाया कि ग्रै-औद्योगिक समाजों में क्रांति की अग्रगति देहातों से शहरों की तरफ़ होती है। साठ और सत्तर के दशकों में वियतनाम, लाओस और कम्बोडिया में हुए सत्ता परिवर्तनों पर माओ के विचारों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन में तेलंगाना किसान संघर्ष के जमाने से ही माओ त्से तुंग का प्रभाव दिखने लगा था जिसकी चरम परिणति 1967 में नक्सलवादी आंदोलन के रूप में सामने आयी। माओवाद के नाम पर आदिवासी इलाकों में पनप रहा हथियारबंद आंदोलन आज भी भारतीय राज्य के लिए कड़ी चुनौती पेश कर रहा है। नेपाली कम्युनिस्ट आंदोलन में तो माओ के विचारों की स्थिति केंद्रीय है। पेरू के शाइनिंग पाथ नामक आंदोलन ने भी अपनी प्रेरणाएँ माओ से ही ग्रहण की हैं।

माओ से पहले किसी मार्क्सवादी चिंतक ने क्रांतिकारी राजनीति के फ़ौजी पहलुओं पर सैद्धांतिक रोशनी नहीं डाली थी, और न ही क्रांति को राष्ट्रवादी संघर्ष के साथ जोड़ कर देखा था। चीन में क्रांति की सफलता के बाद माओ की प्रेरणाओं से समाजवाद के निर्माण का जो रास्ता चुना गया, वह भी समाजवाद-निर्माण के प्रचलित मार्क्सवादी प्रयोगों से भिन्न था। इसी प्रक्रिया में माओ ने सरकार का नेतृत्व करने वाली कम्युनिस्ट पार्टी, व्यापक समाज, सशस्त्र सेना और बुद्धिजीवियों के बीच संबंधों के पूरी तरह से नये विन्यास की वकालत की जिसके केंद्र में सतत क्रांति का आग्रह था।



माओ त्से-तुंग (1893-1976)

मार्क्सवादी सिद्धांतकार के तौर पर माओ का सर्वप्रमुख योगदान यह थीसिस है कि क्रांति न तो किसानों-मजदूरों के राजनीतिक प्रतिनिधियों द्वारा सत्ता हस्तगत कर लेने से खत्म होती है, और न ही समाजवाद के निर्माण की किसी मंजिल पर पहुँचने से। क्रांति को लगातार चलाते रहने की माओवादी धारणा के आधार में द्वंद्वत्मक भौतिकवाद के तहत अंतर्विरोधों की एक भिन्न समझ है। माओ ने अंतर्विरोध को एक-दूसरे के विरोध में खड़े दो असंगत प्रत्ययों के संबंध की तरह नहीं देखा, बल्कि किसी भी शै या किसी भी हालात के भीतर हमेशा और हर समय मौजूद रहने वाले दो घटकों के रूप में उसकी शिनाख्त की। चाहे वह भौतिकी का कोई नियम हो, या कोई सामाजिक परिघटना हो, या फिर मानवीय विचार-प्रक्रिया हो, माओ ने अंतर्विरोध को किसी भी यथार्थ की बुनियादी प्रकृति अर्थात् शुरुआत से अंत तक उसके अस्तित्व की शर्त की तरह परिभाषित किया। अंतर्विरोधों के बाह्य और आंतरिक रूपों में से माओ ने आंतरिक अंतर्विरोध को प्रमुखता दी और स्पष्ट रूप से कहा कि किसी भी चीज के विकास को समझने के लिए उसके भीतरी अंतर्विरोधों और दूसरी चीजों से उनके संबंध का अध्ययन ज़रूरी है। माओ का कहना था कि अंतर्विरोध सार्वभौम होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति विशिष्ट और पारिवेशिक होती है। अंतर्विरोध का विशिष्ट सार ग्रहण कर लेने से जाना जा सकता है कि एक चीज दूसरे से किस तरह से अलग है। लुई अलथुसे के

अनुसार माओ के विचार से 'समग्र' महज़ एक अंतर्विरोध के दो पहलुओं के द्वंद्व से विकसित नहीं होता, बल्कि उसमें कई अंतर्विरोध सक्रिय रहते हैं और उनके आपसी रिश्ते बदलते रहते हैं। आज जो प्रधान अंतर्विरोध है, मुमकिन है कि कल वह पीछे चला जाए और कोई और उसकी जगह ले ले।

क्रांति की रणनीति और समाजवादी समाज की रचना के संदर्भ में माओ का एक युगांतरकारी योगदान मास लाइन या जन-दिशा के रूप में जाना जाता है। किसानों के बीच राजनीतिक काम करते हुए माओ ने निष्कर्ष निकाला था कि क्रांतिकारी सामूहिक चेतना, नैतिक प्रेरणाओं और जनता के उत्साह पर भरोसा करते हुए की जाने वाली गोलबंदी से किसी भी तरह के लक्ष्य वेधे जा सकते हैं। न केवल क्रांतिकारी संघर्षों में वर्ग-दुश्मनों को परास्त किया जा सकता है, बल्कि सोवियत शैली के अनुरूप पार्टी-अभिजनों और नौकरशाहों के मार्गदर्शन के बिना भी साम्यवाद की तरफ तेज़ी से बढ़ा जा सकता है। इस लिहाज़ से माओ को क्रांतिकारी जन-इच्छा का सिद्धांतकार भी कहा जा सकता है। माओ के इन विचारों के परिणामस्वरूप आगे चल कर चीनी और सोवियत कम्युनिस्ट पार्टियों के बीच समाजवाद के निर्माण के प्रश्न पर सैद्धांतिक वाद-विवाद हुआ जिसे विश्व-कम्युनिस्ट आंदोलन में 'महान बहस' के नाम से जाना जाता है। जन-दिशा की इसी अवधारणा के सहारे माओ ने अर्थव्यवस्था के रूपांतरण का खाका खींचा और राजनीतिक प्रणाली दुरुस्त करने का अभियान चलाया।

26 दिसम्बर, 1893 को हूनान के एक मध्यवर्तीय किसान परिवार में पैदा हुए माओ त्से-तुंग की शुरुआती शिक्षा चांगशा के मिडिल स्कूल में हुई। उनके पिता कनफ्यूशस के अनुयायी और माँ बौद्ध थीं। जिस समय वे केवल 17 साल के थे, चीन सुन यात-सेन के नेतृत्व में 1911 की राष्ट्रवादी क्रांति के दौर से गुज़रा। क्रांति के कारण मंचू वंश का पतन हो गया और इसके कारण हुई वैचारिक उथल-पुथल के परिणामस्वरूप बहुत से चीनी युवक, छात्र और बुद्धिजीवी पश्चिमी विचारों के प्रभाव में आये। माओ भी उनमें से एक थे। वे पढ़ाई छोड़ कर क्रांतिकारी सेना में भर्ती हो गये। लेकिन यह फ़ौजी नौकरी महज़ छह महीने चली और उन्होंने अपनी शिक्षा पूरी करने का फैसला किया। अध्यापकों को प्रशिक्षित करने वाले एक स्कूल में माओ को न्यू पीपुल्स स्टडी सोसाइटी के साथ जुड़ने और पश्चिमी राजनीतिक विचारों में पारंगत कुछ विद्वानों की सोहबत का मौक़ा मिला। चीन के क्लासिक उपन्यासों और कविताओं का व्यापक अध्ययन वे पहले ही कर चुके थे।

स्नातक बनने के बाद वे पेकिंग गये और वहाँ के विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में सहायक बन गये। यहीं उनका सम्पर्क प्रोफ़ेसर चेन तु-हिसुई और प्रोफ़ेसर ली ता-चाओ से

हुआ। चीनी मार्क्सवाद के संस्थापकों के रूप में इन दोनों ने लेनिन और काउत्स्की की रचनाओं का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया था। चैन तो बाद में लम्बे अरसे तक चीनी पार्टी के महासचिव भी रहे। इन्हीं दोनों के सम्पर्क में माओ ने कनफ्यूशसवाद को आलोचना की कसौटी पर कसा। यही वह समय था जब माओ का मानस बुद्धिवादी, लोकतांत्रिक और अंतर्राष्ट्रीयतावादी विचारों से अनुप्राणित हुआ। 1919 में चार मई आंदोलन के फूटने से पहले माओ पूरी तरह कम्युनिस्ट बन चुके थे, और उनकी पहली रचना 'ऑन द इम्पोर्टेंस ऑफ़ फ़िज़िकल एजुकेशन' प्रकाशित हो चुकी थी।

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना (1921) के समय माओ उसके 12 शुरुआती सदस्यों में से एक थे। पार्टी की सांगठनिक जिम्मेदारियाँ निभाते हुए उन्होंने 1925 तक पूरे चीन की व्यापक यात्राएँ कीं और उनका ज़्यादातर समय शहरों और गाँवों के बीच बँटता रहा। उन्होंने हूनान के खान, रेलवे और छापाखाना मज़दूरों को भी संगठित किया। चीनी क्रांति के इस पहले चरण में कोमिंटर्न के निर्देशों के तहत कम्युनिस्ट पार्टी वहाँ के राष्ट्रवादी दल कुओमिंगतांग के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की नीति पर चल रही थी। माओ और उनके साथी कम्युनिस्ट नेता आंदोलन की ज़रूरतों के मुताबिक इस या उस पार्टी के साथ जुड़ कर काम कर रहे थे। इसी दौरान माओ ने कृषक-प्रश्न में रुचि लेनी शुरू की। 1925 में सुन यात-सेन की मृत्यु के बाद माओ को पहले कुओमिंगतांग के किसान आंदोलन संबंधी विभाग और फिर कम्युनिस्ट पार्टी की किसान शाखा का नेतृत्व करने का मौका मिला। 1926 के दिसम्बर में वे हूनान के किसान विद्रोह का अध्ययन करने के लिए भेजे गये। अगले साल उन्होंने अपनी रपट तैयार करके पार्टी को सौंपी। इस रपट का एक प्रमुख निष्कर्ष यह था कि किसानों में चीन के किसी भी वर्ग के मुकाबले अधिक क्रांतिकारी सम्भावनाएँ हैं। इसी वर्ष माओ का लेख 'एनालिसिस ऑफ़ क्लासिज़ इन चाइनीज़ सोसाइटी' प्रकाशित हुआ जिसके विश्लेषण से स्पष्ट था कि किसानों की विद्रोही चेतना की उपेक्षा करना चीनी सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ की उपेक्षा करना है।

1927 में कोमिंटर्न के निर्देशों पर चीनी कम्युनिस्टों ने शंघाई, नानकिंग और नानचांग में विद्रोह किये जिनका कुओमिंगतांग के वामपंथी और च्यांग काई शेक के नेतृत्व वाले दक्षिणपंथी धड़ों ने मिल कर निर्मम दमन किया। परिणामस्वरूप हज़ारों कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं को जान से हाथ धोना पड़ा। संयुक्त मोर्चे का अंत कर देने वाले च्यांग के इस हमले से कम्युनिस्ट पार्टी की तक्ररीबन कमर ही टूट गयी। पहलक़दमी वापस जीतने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी ने चार प्रांतों में किसान विद्रोहों की योजना बनायी। माओ को हूनान के किसानों का नेतृत्व करने के लिए भेजा गया। लेकिन हूनान में कम्युनिस्ट फ़ौज को बुरी तरह से पराजित होना पड़ा। माओ किसी तरह

बच निकले और बची हुई फ़ौज के साथ चिंगकांगशान की पहाड़ियों में शरण लेने में कामयाब रहे। अगले साल चू तेह की फ़ौजों के साथ मिल कर माओ ने कियांगसी सोवियत की स्थापना की। अपने इसी तजरूबे के आधार पर माओ की दो मशहूर रचनाएँ सामने आयीं : 'चीन में लाल राज-सत्ता क्यों टिक सकती है?' और 'चिंगकांग पहाड़ियों में संघर्ष'।

इसके बाद माओ ने देहाती इलाक़े से अपनी वापसी नहीं की और पार्टी की तरफ़ से दिया गया शंघाई जा कर काम करने का निर्देश टुकरा दिया। चाउ ऐन लाई और चू तेह के साथ उन्होंने पहाड़ों में अपना आधार बनाया, और दो-तरफ़ा राजनीतिक संघर्ष छेड़ा जिसमें च्यांग काई शेक के हमलों के खिलाफ़ लड़ने के साथ-साथ कोमिंटर्न द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी पर थोपे गये नेतृत्व के खिलाफ़ लड़ाई भी शामिल थी। 1928 से 1931 के बीच माओ ने कम्युनिस्टों की किसान नीति का सूत्रीकरण किया और क्रांतिकारी लाल आधार इलाक़े बनाने का आह्वान किया। कियांगसी सोवियत नष्ट करने के लिए च्यांग काई शेक द्वारा चलाई गयी पाँच घेराबंदी मुहिमों से जूझते हुए 1934 में माओ को अपनी फ़ौजें लेकर ऐतिहासिक लम्बी कूच करनी पड़ी जिसका विजयी अंत शेंसी प्रांत में येनान का आधार इलाक़ा बनाने में हुआ। अब तक माओ कम्युनिस्ट पार्टी के सर्वोच्च नेता बन चुके थे। येनान से ही उन्होंने पार्टी और लाल फ़ौज का नेतृत्व किया। इसी प्रक्रिया में माओ की कई रचनाएँ सामने आयीं। 1937 में 'अंतर्विरोधों के बारे में', 1938 में 'दीर्घकालीन लोकयुद्ध के बारे में' और 'युद्ध और रणनीति की समस्याएँ', 1940 में 'नव-जनवाद के बारे में' का प्रकाशन हुआ।

जापानी आक्रमणकारियों के खिलाफ़ राष्ट्रवाद की पताका बुलंद करते हुए कुओमिंगतांग के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने, और साथ में च्यांग काई शेक की कम्युनिस्ट विरोधी मुहिमों के खिलाफ़ लड़ते रहने की पेचीदा प्रक्रिया से गुज़रते हुए अंततः 1949 में चीन की कम्युनिस्ट क्रांति माओ के नेतृत्व में सफलता के मुक़ाम पर पहुँची। चीनी समाज और अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण के लिए शुरुआती दौर में सोवियत तर्ज़ पर केंद्रीय नियोजन, भारी उद्योगीकरण और खेती के सामूहिकीकरण का तरीक़ा अपनाया गया। लेकिन जल्दी ही साफ़ हो गया कि सोवियत संघ की मदद के दम पर चीन अपना विकास नहीं कर सकता। प्रगति की रफ़्तार तेज़ करने और जल्दी से जल्दी औद्योगिक देशों की बराबरी कर लेने के मक़सद से माओ ने 'लम्बी छलाँग' लगाने का आह्वान किया। 1958 में उन्होंने आर्थिक विकेंद्रीकरण किया और पूँजी-सघनता के बजाय श्रम-सघनता के आधार पर छोटे पैमाने के औद्योगिक उत्पादन की शुरुआत की। स्थानीय स्तर पर कम्यूनो की स्थापना की गयी। इस नीति के इच्छित नतीजे नहीं निकले, और चीन को आर्थिक धक्के के साथ-साथ एक भीषण अकाल से भी गुज़रना पड़ा। साल के आख़िर में पार्टी

ने लम्बी छलाँग की नीति वापिस ली, और माओ को चैंयरमेन पद से त्यागपत्र देना पड़ा। इस राजनीतिक धक्के के बावजूद माओ की निर्देशन में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने सोवियत पार्टी के साथ बहस जारी रखी जिसका अंत सोवियत संशोधनवाद की भर्त्सना सोवियत संघ को सामाजिक साम्राज्यवादी क्रार देने में निकला। माओ के नाम से एक तीन दुनिया का सिद्धांत भी प्रचलित है जिसमें एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के बहुत से मार्क्सवादी विश्व-क्रांति की सम्भावनाएँ देखते हैं। माओ ने इस विषय में कोई सुचिंतित लेख नहीं लिखा था। इधर-उधर कुछ विदेशी मेहमानों से बातचीत के दौरान कहे गये कुछ फ़िकरे जरूर देखने को मिलते हैं। समझा जाता है कि माओ को सामने रख कर शायद तेंग शिआयो पिंग ने इस सिद्धांत को प्रचारित किया है।

1966 से 1969 के बीच चीन माओ के नेतृत्व में सांस्कृतिक क्रांति की जबरदस्त उथल-पुथल से गुज़रा। इसके पीछे माओ का मक्रसद पार्टी और सरकार पर हावी होते जा रहे अभिजन और नौकरशाहाना रवैये को दुरुस्त करके जन-दिशा लागू करना था। माओ ने इसे 'मुख्यालय पर बमबारी' की संज्ञा दी। सांस्कृतिक क्रांति के तहत स्कूलों में दाखिले रोक दिये गये और शिक्षा के सम्पूर्ण सर्वहाराकरण का वायदा किया गया। बौद्धिक कार्य पर शारीरिक श्रम के महत्त्व को स्थापित किया गया। छात्र-कार्यकर्ता रेड गार्डों के रूप में संगठित किये गये। माओ ने उन्हें राजसत्ता पर कब्ज़ा करने का आदेश दिया और जन-मुक्ति सेना से उनका समर्थन करने के लिए कहा। चाऊ एन लाई को छोड़ कर पार्टी के हर बड़े नेता को रेड गार्डों ने सार्वजनिक रूप से अपनी आलोचना करने के लिए मजबूर किया। इस पूरी प्रक्रिया में माओ की हैसियत 'महान खेवनहार' के रूप में उभरी जिसका नतीजा व्यक्ति-पूजा में निकला। उनके उद्धरणों से भरी हुई लाल किताब एक धार्मिक गुटके की तरह पढ़ी जाने लगी। सांस्कृतिक क्रांति के आलोचकों का कहना है कि तीन साल की वह अवधि रेड गार्डों के आतंक, अव्यवस्था और अराजकता की थी।

सांस्कृतिक क्रांति का प्रकरण ख़त्म हो जाने के बाद माओ ने एक बार फिर सारी दुनिया का ध्यान अपनी ओर उस समय खींचा जब 1972 में उन्होंने अमेरिकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन के साथ संयुक्त विज्ञापित जारी करके सोवियत संघ विरोधी मोर्चा बना कर विश्व के शक्ति-संतुलन को एकदम बदल डाला। नौ सितम्बर, 1976 को लम्बी बीमारी के बाद माओ का निधन हुआ।

देखें : कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, चीन की कम्युनिस्ट क्रांति, नयी सदी में मार्क्सवाद-1 से 9 तक, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारत में किसान आंदोलन-1 से 4 तक, माओ त्से-तुंग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, व्लादिमिर इलीच लेनिन, सांस्कृतिक क्रांति, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3।

संदर्भ

1. फ्रेंज़ मिशेल (1981), *माओ ऐंड परपीचुअल रेवोल्यूशन*, वुडबरी, न्यूयॉर्क.
2. रेबेका ई. कार्ल (2010), *माओ त्से-तुंग ऐंड चाइना इन द ट्वेंटियथ सेंचुरी वर्ल्ड*, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम, एनसी.
3. स्टुअर्ट स्क्रेम (1966), *माओ त्से-तुंग*, पेंगुइन बुक्स, हारमंड्सवर्थ.
4. माओ त्से-तुंग (1966), *फ़ोर एसेज इन फ़िलासफ़ी*, फ़ॉरन लेंग्वेज प्रेस, पेइचिंग.

— अभय कुमार दुबे

माओ-विचार और माओवाद

(Mao Thought and Maoism)

चीनी कम्युनिस्ट क्रांति के नेता माओ त्से तुंग के साथ जुड़े होने के कारण आम बोलचाल में माओवाद और माओ-विचार को एक-दूसरे का पर्याय समझ लिया जाता है। लेकिन इन दोनों के बीच न केवल सूत्रीकरण संबंधी अंतर है, बल्कि इनके स्रोतों और उभार के कालखण्ड में भी फ़र्क है। माओ-विचार के पैरोकारों के मुताबिक यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद का एक पूरक सिद्धांत है, और माओवाद के अनुयायियों ने उसे मार्क्सवाद-लेनिनवाद की एक नयी मंज़िल मान लिया है। इस विषय में नब्बे के दशक से पहले लिखी गयी रचनाओं में अक्सर माओवाद शब्द का प्रयोग किया गया है, लेकिन उन्हें पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है कि दरअसल वे माओ-विचार की ही चर्चा कर रही हैं। हालाँकि नब्बे के दशक के बाद भी इन दोनों के बीच घालमेल की प्रवृत्ति देखी गयी है, लेकिन अब माओ-विचार और माओवाद को अलग-अलग करके देखने वाले विश्लेषण भी उत्तरोत्तर सामने आने लगे हैं।

माओ-विचार मार्क्सवाद-लेनिनवाद के चीनी परिस्थितियों में प्रयोग की देन होने के साथ-साथ तीसरी दुनिया के देशों में क्रांतियाँ करने की थियरी है। इसका सिद्धांतीकरण मुख्यतः दो अवधियों में सम्पन्न हुआ। पहला दौर 1921 में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना से लेकर 1949 में चीन लोक गणराज्य की स्थापना तक चली सशस्त्र क्रांति की दीर्घकालीन प्रक्रिया का था। इस दौर में माओ-विचार का अर्थ था औद्योगिक विकास से वंचित और उपनिवेशवाद से त्रस्त खेतिहर देश में लोकतंत्र के नये रूपों (नव-जनवाद) की स्थापना करना और मार्क्सवादी विचारधारा के दायरे में किसानों को मजदूर वर्ग के समकक्ष एक क्रांतिकारी शक्ति के रूप में

स्थापित करना। दूसरा दौर 1949 से शुरू हुआ जिसमें किसानों के देश में समाजवाद की स्थापना की रैडिकल परियोजना चलाई गयी। इस दौर में माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने समाजवाद का निर्माण करने के सोवियत तौर-तरीकों की आलोचना करते हुए अपने विशिष्ट मार्क्सवाद-लेनिनवाद का सूत्रीकरण किया। इस प्रक्रिया में साठ के दशक से मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचार के नाम से एक नयी वैचारिक प्रवृत्ति का उत्थान हुआ जिसने सारी दुनिया में यथास्थिति को चुनौती देने वाले रैडिकल और क्रांतिकारी आंदोलनों पर गहरा असर डाला। भारत में भी नक्सलवादी आंदोलन के जन्म और विकास का श्रेय इसी को जाता है।

माओ-विचार से मिलता-जुलता लेकिन कई अर्थों में भिन्न माओवाद मुख्यतः एक उत्तर-माओ परिघटना है। 1976 में माओ का देहांत हुआ। उसके बाद 1978 से चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का नया नेतृत्व क्रमशः माओ की भूमिका और विरासत से ख़ुद को दूर करता चला गया। चीनी समाजवाद के दायरे में माओ की उपस्थिति केवल तकनीकी भर रह गयी। आधुनिकीकरण के नाम पर चीन ने अर्थव्यवस्था में बाज़ार के पहलुओं का उत्तरोत्तर समावेश करना शुरू किया। इसकी प्रतिक्रिया में अस्सी और नब्बे के दशकों में दुनिया के कई देशों में ख़ुद को माओवादी कहने वाली पार्टियों की शुरुआत हुई। हालाँकि कुल मिला कर यह एक छोटी प्रवृत्ति थी, लेकिन पेरू में शाइनिंग पाथ नाम के संगठन और नेपाली कम्युनिस्टों (जिनके एक धड़े ने 1986 से ख़ुद को माओवादी कहना शुरू कर दिया था) द्वारा चलाये गये सशस्त्र संघर्ष की चमक के कारण इस रुझान को सुर्खियाँ मिलती रहीं। 12 मार्च, 1984 में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक रेवोल्यूशनरी इंटरनेशनलिस्ट मूवमेंट (आरआईएम) का गठन किया गया। इसमें ईरान, भारत, श्रीलंका, इटली, कोलम्बिया, पेरू, तुर्की, हैती, नेपाल, न्यूज़ीलैण्ड, ब्रिटेन, अमेरिका और डोमिनिकन रिपब्लिक में सक्रिय ऐसे 17 संगठन शामिल थे जिनकी मान्यता थी कि माओ का विचार आज के ज़माने में मार्क्सवाद-लेनिनवाद की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है, इसलिए अब इसे माओ-विचार की सीमाओं को लाँघ कर हमें माओवाद को विचारधारा के रूप में स्वीकृत कर लेना चाहिए। फ़िलीपीन की माओवादी कम्युनिस्ट पार्टी इसमें शामिल नहीं हुई, लेकिन आरआईएम ने इसका समर्थन किया।

1984 में आरआईएम के गठन से पहले भी माओ विचार के समर्थकों के बीच भी कभी-कभी यह बहस उठती रहती थी कि क्यों न ख़ुद को माओवादी कहा जाए। लेकिन मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओ विचार के अनुयायियों ने हमेशा

माओवाद का लक्रब अपनाने से हमेशा परहेज़ किया। इस तरह से माओ के सूत्रीकरणों को बुलंद करने का दावा करने वाली ये दो प्रवृत्तियाँ आम तौर पर अलग-अलग ही रहीं।

सूत्रीकरण के लिहाज़ से माओ-विचार एक कहीं सुसंगत धारा के रूप में सामने आता है। इसका शुरुआती रूप मास्को स्थित तीसरे कम्युनिस्ट इंटरनैशनल (कोमिंटेर्न) द्वारा थोपी गयी कार्यदिशा का माओ त्से तुंग के नेतृत्व में विरोध करते हुए चीन में क्रांति का अलग रास्ता तय करने के दौरान बना। चीन की सीमाओं से परे माओ-विचार को उसका अंतर्राष्ट्रीय रूप तब मिला जब माओ ने सोवियत मार्क्सवाद की विस्तृत आलोचना पेश करते हुए विश्व-क्रांति का एक खाका बनाया।

कोमिंटेर्न का विचार था कि च्यांग काई शेक और उनकी पार्टी कुओमिंगतांग के नेतृत्व में चीन का पूँजीपति वर्ग क्रांतिकारी चरित्र से लैस है। इसलिए कम्युनिस्टों को उसकी अगुआई में मज़दूरों और किसानों का मोर्चा बना लेना चाहिए। 1927 में च्यांग द्वारा चलाये गये कम्युनिस्ट विरोधी अभियान के कारण धक्का खाने के बाद माओ के मार्गदर्शन में कम्युनिस्ट पार्टी ने यह लाइन अस्वीकार कर दी। माओ का विचार था कि चीन जैसे पिछड़े देश में समाजवाद का निर्माण करने के लिए पूँजीपति वर्ग पर निर्भर नहीं रहा जा सकता, क्योंकि उसका चरित्र प्रतिगामी हो चुका है। इसके लिए एक नये तरह के लोकतंत्र की स्थापना करनी होगी जिसका नेतृत्व सीधे किसानों और मज़दूरों के हाथों में होगा। यह लोकतंत्र जनता की भौतिक स्थितियाँ बेहतर करने का काम करेगा ताकि समाजवादी विकास के लिए रास्ता साफ़ किया जा सके। माओ की इस थीसिस को न्यू-डैमोक्रेसी या नव-जनवाद कहा जाता है।

क्रांति करने के लिए माओ ने दीर्घकालीन लोकयुद्ध की रणनीति अख़्तियार की। इसके तहत ग्रामों में आधार इलाक़े बनाये गये, ज़मींदारों की ज़मीन पर क़ब्ज़ा करके किसानों में बाँट दी गयी, जनमुक्ति सेना के ज़रिये आज़ाद किये गये क्षेत्रों को परस्पर सहकार पर आधारित कम्यून की शक्त में आत्मनिर्भर और स्वशासित प्रदेशों की तरह संचालित किया गया, और देहाती इलाक़ों में अपनी ताक़त बढ़ाते हुए शहरों की फ़ौजी घेरेबंदी की गयी। इस पूरी प्रक्रिया में जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक संघर्ष चला, उससे माओ विचार का एक और प्रमुख सिद्धांत निकला जिसे मास लाइन या जन-दिशा के नाम से जाना जाता है। यह माओ का दूसरा विशेष योगदान था जिसके तहत लेनिनवादी सांगठनिक उसूल लोकतांत्रिक केंद्रवाद के आधार पर बनायी गयी पार्टी को जनता के साथ एकाकार होना था। इसी प्रक्रिया में माओ-विचार का तीसरा घटक सामने आया जो फ़ौजी आयाम की नुमाइंदगी करता था। माओ अपने समय

के पहले मार्क्सवादी चिंतक थे जिन्होंने फ़ौजी पहलुओं को सिद्धांतबद्ध किया। उन्होंने छापामार युद्ध की रणनीति का सूत्रीकरण किया। कम्युनिस्ट पार्टी ने जो जन-मुक्ति सेना बनायी, वह गरीब चीनी किसानों के बीच से बनायी गयी थी। इस सेना ने लम्बी कूच जैसा ऐतिहासिक युद्ध लड़ा और जापान विरोधी राष्ट्रीय युद्ध लड़ते समय कुओमिंगतांग की सेनाओं के साथ एकता और संघर्ष की जटिल रणनीति पर सफलता से अमल करके दिखाया।

क्रारीब तीस साल की लम्बी अवधि में अपनायी गयी कार्यनीतियाँ, रणनीतियाँ और विचारधारात्मक नवाचार के जरिये बना माओ-विचार चीन के भीतर ही नहीं चीन के बाहर भी क्रांतिकारी आंदोलनों का प्रेरणास्रोत उस समय बन गया जब माओ ने क्रांति के बाद चीन में समाजवाद की रचना के लिए सोवियत संघ से अलग रास्ते की तजवीज़ की। 1958 से 1976 के बीच माओ ने लम्बी छलाँग और फिर सांस्कृतिक क्रांति की परियोजनाएँ चलाई। लम्बी छलाँग का मकसद था किसान जनता की गोलबंदी करने के जरिये औद्योगिक उत्पादन में ब्रिटेन और फिर अमेरिका की बराबरी कर लेना। सांस्कृतिक क्रांति का मकसद था पार्टी के भीतर पनप रही पूँजीवादी शासकवर्गीय प्रवृत्तियों को नष्ट करने के लिए आम जनता के हाथों में सत्ता की बागडोर थमा देना। माओ ने सोवियत संघ को सामाजिक साम्राज्यवादी करार देते हुए विश्व में शक्ति संतुलन की अलग व्याख्या भी की जिसे तीन दुनिया के सिद्धांत के रूप में जाना जाता है।

माओ-विचार के विकास को सिलसिलेवार इस तरह पेश किया जा सकता है :

1. अगर कोई देश पूँजीवादी विकास के लिहाज़ से पिछड़ा है और उसकी अधिकतर जनता गरीब किसान है, तो क्रांतिकारी आंदोलन को शहरी सर्वहारा के बजाय किसानों के समर्थन आधार पर ही खड़ा होना होगा। यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद में माओ का नया योगदान था, क्योंकि पारम्परिक मार्क्सवादी चिंतन किसानों में क्रांतिकारी एजेंसी देखने के लिए तैयार नहीं था।

2. क्रांति विभिन्न चरणों में होगी, लेकिन वह परस्पर-व्यापी शैली में सतत चलती रहेगी। पूँजीपति वर्ग के नेतृत्व में जनवादी क्रांति होती है, लेकिन मजदूरों-किसानों के नेतृत्व में नव-जनवादी क्रांति होगी। इसका रास्ता और रणनीति दीर्घकालीन लोकयुद्ध होगा। गाँवों में आधार इलाके बना कर शहरों को घेरा जाएगा। इस प्रक्रिया में सच्चे साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रवाद का झण्डा बुलंद करना होगा।

3. पार्टी लोकतांत्रिक केंद्रवाद के आधार पर ही चलेगी, पर उसे जन-दिशा के साथ एकमेक किया जाएगा ताकि केंद्रवाद लोकतंत्र पर हावी न हो जाए।

4. समाज और राजनीति की समझ अंतर्विरोधों के जरिये की जानी चाहिए। अंतर्विरोधी पहलुओं के बीच संघर्ष के जरिये ही जीवन और समाज का रुख तय होता है। चूँकि अंतर्विरोध एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, इसलिए उनका हल भी अलग-अलग तरीके से होना चाहिए। जनता के बीच पाये जाने वाले अंतर्विरोधों का चरित्र मित्रतापूर्ण होता है। लेकिन जनता और जनविरोधी ताकतों के बीच पाये जाने वाले अंतर्विरोध शत्रुतापूर्ण होते हैं। अंतर्विरोधों के इन चरित्रों की पहचान करते हुए हर मौक़े पर प्रधान व गौण अंतर्विरोध में फ़र्क़ करना होगा।

5. क्रांति की सफलता के बाद सत्तारूढ़ हुई कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर नौकरशाहाना और शोषणकारी प्रवृत्तियाँ हावी हो जाती हैं। उनके खिलाफ़ लगातार संघर्ष चलाते रहना ज़रूरी है। पार्टी जनता के लिए होती है, न कि जनता पार्टी के लिए। इस अंतिम उसूल पर लगातार निगाह टिकाये रहनी होगी।

6. केवल अमेरिका ही साम्राज्यवादी नहीं है, बल्कि सोवियत संघ भी सामाजिक साम्राज्यवाद में पतित हो गया है। सारी दुनिया तीन ख़ेमों में बँटी हुई है। अमेरिका और सोवियत संघ पहले विश्व की श्रेणी में आते हैं। जापान, यूरोप के विकसित देश, ऑस्ट्रेलिया और कनाडा दूसरे विश्व हैं। ये दोनों विश्व साम्राज्यवादी हैं, पर इनमें पहला विश्व मुख्य तौर पर आक्रामक है। बाक़ी दुनिया तीसरे विश्व की श्रेणी में आती है, और साम्राज्यवाद से पीड़ित है। पहले और दूसरे विश्व की ताकतें मिल-जुल कर समाजवादी क्रांति में बाधक बनी हुई हैं। इसलिए क्रांति होने की सम्भावना तीसरे विश्व के देशों में ही है।

माओवाद खुद को माओ-विचार से भिन्न नहीं बताता, लेकिन वह उसे मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अनुषंगी सिद्धांत के रूप में न देख कर अपने-आप में एक सम्पूर्ण वाद के तौर पर देखता है। माओवाद की केंद्रीय थीसिस इस प्रकार है : वर्तमान युग साम्राज्यवाद की पूर्ण विनाश और समाजवाद की विश्वव्यापी विजय का है। तीसरी दुनिया के अर्धसामंती और अर्धऔपनिवेशिक देशों में क्रांति की परिस्थिति हमेशा तैयार रहती है। ज़रूरत केवल एक माओवादी पार्टी का गठन करके हथियारबंद क्रांति छेड़ देने की है। इस केंद्रीय थीसिस के बावजूद माओवादी संगठनों के बीच क्रांति के रास्ते को लेकर गहरे मतभेद हैं। 1984 में बने रेवोल्यूशनरी इंटरनेशनलिस्ट मूवमेंट की एकता बहुत थोड़े दिन ही कायम रह सकी। इस समय वह मतभेदों के कारण पूरी तरह से निष्क्रिय पड़ा हुआ है। 21 जुलाई, 2001 को दक्षिण एशिया की विभिन्न माओवादी पार्टियों और संगठनों ने कोआर्डिनेशन कमेटी ऑफ़ माओइस्ट पार्टीज़ ऐंड ऑर्गनाइज़ेशंस इन साउथ एशिया (कॉमपोसा) का गठन

किया। इसमें नेपाल, भारत, श्रीलंका, भूटान, बांग्लादेश के संगठन शामिल हुए। इस संगठन की बागडोर नेपाली माओवादियों के हाथों में रही। 21 सितम्बर, 2004 को भारत के माओवादी संगठनों ने मिल कर भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) का गठन किया।

मुख्य तौर पर माओवाद सशस्त्र संघर्ष को सर्वोच्च प्रमुखता देने और संघर्ष के अन्य रूपों को व्यवहार में खारिज कर देने के आग्रह के लिए जाना जाता है। भारत के माओवादी आंदोलन और नेपाल के माओवादी आंदोलन में भी लोकतांत्रिक संघर्ष और हथियारबंद लड़ाई के बीच तालमेल क्रायम करने या न करने के सवाल को लेकर गहरे मतभेद हैं। लातीनी अमेरिका के देशों की सामाजिक परिस्थिति चीन, भारत या नेपाल से भिन्न है, इसलिए वहाँ के माओवादी छापामार युद्ध की प्रेरणाओं के अलावा चीनी अनुभव से ज्यादा कुछ नहीं ले सकते। इसी तरह युरोप में खुद को माओवादी कहने वाली शक्तियाँ क्रांतिकारी शुद्धता और उसके लोकलुभावन रुझानों से अधिक प्रभावित हैं। वैसे भी वहाँ के सामाजिक हालत दक्षिण एशियाई देशों से एकदम अलग हैं। आज सोवियत संघ (जिसे माओ ने सामाजिक साम्राज्यवादी और अमेरिका से भी ताकतवर करार दिया था) दुनिया के नक्शे से मिट चुका है। एक फ्रौजी महाशक्ति के रूप में अमेरिका का अभी भी वर्चस्व है, पर एक आर्थिक महाशक्ति के रूप में उसकी ताकत प्रश्नांकित हो रही है। वित्तीय पूँजी के भूमण्डलीकरण के खिलाफ दुनिया के पैमाने पर चल रहे लोकतांत्रिक संघर्ष के लिए माओ-विचार की प्रेरणा तो तर्कसंगत लगती है, पर माओवाद की छाप वाले सशस्त्र संघर्ष के ग्लोबल विकास की सम्भावनाएँ क्षीण प्रतीत होती हैं।

देखें : कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, चीन की कम्युनिस्ट क्रांति, नयी सदी में मार्क्सवाद-1 से 9 तक, नेपाली माओवाद, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारत में किसान आंदोलन-1 से 4 तक, माओ त्से-तुंग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, व्लादिमिर इलीच लेनिन, सांस्कृतिक क्रांति, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3.

संदर्भ

1. बर्नार्ड डिमेलो (2009), 'व्हाट इज़ माओइज़म?', *मंथली रिव्यू*, 22 नवम्बर.
2. समीर अमीन (1989), *द फ्यूचर ऑफ़ माओइज़म*, रेनबो पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
3. माओ त्से तुंग (1965), *संकलित रचनाएँ (चार भाग)*, अनु. रामआसरे, करेंट बुक डिपो, कानपुर.
4. माओ त्से तुंग (1965), *चुनी हुई फ्रौजी रचनाएँ*, अनु. रामआसरे,

करेंट बुक डिपो, कानपुर.

5. तिलक दासगुप्ता (2006), 'माओइज़म इन इण्डिया : आइडियॉलॉजी, प्रोग्राम, ऐंड आर्म्ड स्ट्रगल', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 41, अंक 29.
6. प्रसन्न कुमार चौधरी (2009), 'माओवाद का वैचारिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य', *प्रभात खबर*, दीपावली अंक.

— अभय कुमार दुबे

माओवाद, नेपाल में

(Maoism in Nepal)

पिछले दो दशकों में नेपाल में माओवादियों के उभार और उनके द्वारा पूरे राज्य-तंत्र को अपनी माँगें स्वीकार करने लिए मजबूर करना सिर्फ दक्षिण एशिया ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया के लिए एक अहम घटनाक्रम है। 1995 में नेपाल में माओवादियों ने कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ नेपाल (माओइस्ट) (सीपीएन-एम) के नाम से अपनी पार्टी गठित की। इस दल ने नेपाली राजनीति की शकल ही बदल दी। नेपाल में माओवाद का प्रयोग इसलिए भी महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि प्रारम्भ में संसदीय राजनीति का विरोध करने के बाद बाद के वर्षों ने माओवादियों ने लोकतांत्रिक राजनीति की रूपरेखा को स्वीकार किया।

नेपाल की कम्युनिस्ट ताकतें कई दलों में बँटी हुई थीं। कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ नेपाल का गठन 1949 में हुआ। पहले चुनावों में इसे चार सीटों पर जीत मिली और इसी के साथ माओवादी आंदोलन की भी शुरुआत हुई। लेकिन इसका आधार बहुत सीमित था और यह कई छोटे समूहों में बँटा हुआ था। नेपाल में 1991 में एक नया संविधान अपनाया गया। इसमें बहुदलीय व्यवस्था की गारंटी दी गयी। इसके पहले तक अधिकांश कम्युनिस्ट पार्टियों ने भूमिगत रह कर ही अपनी गतिविधियाँ चलाई थीं। एक बहुदलीय विपक्ष बनाने की कोशिश में बहुत सारे कम्युनिस्ट गुटों ने मिलकर कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ नेपाल (यूनाइटेड मार्क्सिस्ट लेनिनिस्ट) यानी सीपीएन-यूएमएल का गठन किया। इसके साथ ही राजशाही के खिलाफ़ लोकतंत्र की स्थापना के लिए संघर्ष में अन्य कम्युनिस्ट पार्टियों ने मिल कर यूनाइटेड लेफ़्ट फ्रंट का गठन किया जिसने लोकतंत्र की स्थापना के संघर्ष में नेपाली कांग्रेस पार्टी के साथ मिलकर संघर्ष किया। इस संयुक्त मोर्चे के दो दलों कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ नेपाल (मार्क्सिस्ट) और कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ नेपाल (मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट) के विलय से 1991 में कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़

नेपाल का गठन हुआ।

विपक्षी दलों के लगातार आंदोलन के कारण ही नेपाल में बहुदलीय संसदीय लोकतंत्र की बहाली हुई। इसमें विभिन्न दलों के सलाह-मशविरे से 1991 में नये संविधान का निर्माण हुआ। इसके अंतर्गत स्थापित व्यवस्था में नेपाल की स्थिति लोकतंत्र स्थापना के पहले की स्थिति से काफी अच्छी बेहतर हो गयी। लेकिन संसदीय लोकतंत्र नेपाल में बहुत स्थिर नहीं हो पाया, न ही बुनियादी आर्थिक बदलाव पर केंद्रित कोई सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम लागू हो पाया। इस दौर में कम्युनिस्टों ने अपनी शक्ति में बढ़ोतरी की। यही वह समय था जब पुष्प कुमार दहल, जिन्हें प्रचंड के नाम से भी जाना जाता है, कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ नेपाल (मशाल) का नेतृत्व कर रहे थे। वे संसदीय राजनीति को ही पूरी तरह खारिज करते थे। कई कम्युनिस्ट समूहों के साथ मिलकर प्रचंड ने 1991 में यूनाइटेड कम्युनिस्ट फ्रंट (एसजेएम) की स्थापना की। यद्यपि प्रचंड संसदीय लोकतंत्र के समर्थक नहीं थे, लेकिन एसजेएम ने संसदीय चुनावों में भाग लिया और 1991 में यह तीसरे सबसे बड़े समूह के रूप में उभरा।

बहरहाल, 1993 आते-आते एसजेएम में विभाजन की शुरुआत हो गयी। प्रचंड ने 1995 में इस पार्टी को छोड़कर कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ नेपाल (माओवादी) यानी सीपीएन (एम) का गठन किया। इस पार्टी ने खुल कर और सख्ती से चुनावी और संसदीय राजनीति का विरोध किया और इसने राजसत्ता के खिलाफ गुरिल्ला युद्ध की योजनाएँ बनानी शुरू कर दीं। गौरतलब है कि 1993 से ही देश की संसदीय राजनीति में उथल-पुथल चल रही थी। 1993 में सीपीएन-यूएमएल के नेता मदन भण्डारी की हत्या हो गयी। संसदीय रास्ते पर भरोसा करने वाले कम्युनिस्टों ने इसके खिलाफ जोरदार प्रदर्शन किया। लगातार विरोध से मजबूर होकर नेपाली कांग्रेस की गिरजा प्रसाद कोईराला सरकार को इस्तीफा देना पड़ा। इसके बाद हुए चुनावों में किसी भी दल को पूर्ण बहुमत नहीं मिला। पहले सीपीएन-यूएमएल के नेतृत्व में गठबंधन सरकार बनी, जो अस्थिर साबित हुई। उसके बाद नेपाली कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व में सरकार बनी और वह भी ज्यादा दिनों तक नहीं चल पायी। 1995 में नेपाल राजनीतिक अस्थिरता का शिकार रहा। जो सरकारें बनी थीं, वे जनता के पक्ष में कुछ खास काम करने में नाकाम रहीं। प्रचंड और उनकी पार्टी सीपीएन (एम) ने इसे गुरिल्ला लोक-युद्ध शुरू करने के लिए उपयुक्त समय माना।

पार्टी की केंद्रीय समिति ने सितम्बर, 1995 में राज्य के साथ युद्ध शुरू करने का फैसला किया। पार्टी ने दावा किया

कि इस युद्ध द्वारा वह नेपाल को दमनकारी राजतंत्र से मुक्त करके नेपाल के मजदूरों और किसानों के जीवन-स्तर में सुधार करना चाहती है। माओवादियों की रणनीति थी कि वे गाँवों से आगे बढ़ते हुए राजधानी काठमांडू को घेर लेंगे तथा समाज में बदलाव करने के लिए एक लोक-युद्ध और क्रांति की शुरुआत करेंगे। लोक-युद्ध शुरू करने से पहले उन्होंने नेपाल की तत्कालीन सरकार के सामने अपनी 40 सूत्रीय माँगें भी रखीं। इन माँगों में एक प्रमुख माँग यह थी कि भारत के साथ 1950 की शांति और मित्रता संधि तथा महाकाली नदी के पानी के बँटवारे का समझौता खत्म किया जाना चाहिए। इसके अलावा उसने राजघराने के विशेषाधिकारों को खत्म करने, नयी संविधान सभा द्वारा संविधान का निर्माण करने, 'कॉम्प्राडोर (एजेंट या दलाल) और नौकरशाह पूँजीपतियों' की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करने, नेपाल को एक सेकुलर राष्ट्र घोषित करने, सभी गाँवों तक सड़क, पीने का पानी और बिजली देने और अभिव्यक्ति तथा प्रकाशन की आजादी सुनिश्चित करने की माँग की। स्पष्टतः इनकी माँगों में भारत के प्रति विरोध को रेखांकित किया जा सकता है। लेकिन ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि माओवादियों ने ग्रामीण क्षेत्रों को बुनियादी सुविधाएँ देने और राजशाही तथा



पुष्प कुमार दहल उर्फ प्रचंड (1954-)

पूँजीपतियों के विशेषाधिकार खत्म करने पर जोर दिया। उन्होंने शेर बहादुर देउबा की सरकार को इन माँगों पर कार्रवाई करने के लिए 17 फरवरी, 1996 तक का समय भी दिया। लेकिन जब सरकार ने इन माँगों पर कोई कार्रवाई नहीं की, तो उन्होंने इसके आखिरी तारीख के चार दिन पहले ही नेपाल के छह जिलों में लोक-युद्ध की घोषणा कर दी।

माओवादियों ने अपने लोक-युद्ध में गुरिल्ला हमला करने और समझौता करने की रणनीति अपनायी। अपने गुरिल्ला हमलों के कारण, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में, माओवादियों ने प्रशासन को पूरी तरह से पंगु कर दिया। जुलाई, 2001 में जब शेर बहादुर देउबा ने दुबारा प्रधानमंत्री बनने पर उनसे हथियार छोड़ कर बातचीत के लिए आगे आने का आग्रह किया, तो माओवादियों ने चार महीने के युद्ध-विराम की घोषणा कर दी। लेकिन जब उन्हें यह लगा कि सरकार बातचीत के लिए गम्भीर नहीं है, तो उन्होंने युद्ध-विराम खत्म कर दिया और सरकारी भवनों और अधिकारियों पर हमले शुरू कर दिये। इसके बाद उन्होंने अपने नेता बाबूराम भट्टाराई के नेतृत्व में पीपुल्स रेवाल्यूशनरी गवर्नमेंट की भी स्थापना कर दी। साथ ही, देश के चालीस जिलों में इन्होंने ग्राम सरकार का एक समानांतर नेटवर्क तैयार किया। यह माओवादियों के जबरदस्त प्रभाव का उदाहरण था।

माओवादी अपनी स्थिति मजबूत करने के साथ ही इस बात को भी दोहराते रहे कि सभी दलों को एक साथ मिल-बैठ कर नया संविधान बनाना चाहिए। इस बीच 29 जनवरी, 2003 से 27 अगस्त, 2003 तक इन्होंने युद्ध विराम की घोषणा की। इस दौर में माओवादियों ने अपनी शक्ति को और ज्यादा संगठित किया और इस बात को भी उजागर किया कि सरकार शांति वार्ता के लिए गम्भीर नहीं है। 2005 तक माओवादियों ने अपनी स्थिति इतनी मजबूत कर ली कि इन्होंने दस जिलों को अपना 'विशेष क्षेत्र' घोषित करते हुए यहाँ पर स्थानीय निकायों के चुनाव की घोषणा की। माओवादियों ने दूसरे दलों से भी यह आग्रह किया कि वे इन चुनावों में भाग लें। लेकिन किसी दूसरे दल ने इनमें भाग नहीं लिया।

फरवरी, 2006 में सीपीएन (एम) की राजनीति में एक महत्वपूर्ण बदलाव आया। प्रचंड ने अपनी तरफ से युद्ध-विराम की घोषणा करते हुए सरकार और दूसरे दलों से बातचीत का प्रस्ताव रखा। 26 मई, 2006 को युद्ध-विराम को सही तरह से संचालित करने के लिए सरकार और माओवादियों के बीच 25 सूत्रीय समझौते पर दस्तखत हुए। इसमें संविधान सभा के लिए चुनाव कराने के प्रति वचनबद्धता जतायी गयी। आगे चलकर सरकार और माओवादियों के बीच अपने-अपने कमांडरों की निगरानी में हथियार जमा करने का समझौता भी हुआ। 21 नवम्बर, 2006 को एक व्यापक शांति समझौते किया गया, जिसमें दस साल पुराने विद्रोही युद्ध को खत्म करने की औपचारिक घोषणा की गयी। इस समझौते के अनुसार राजा की राजनीतिक शक्तियाँ छीन ली गयीं और सार्वजनिक ट्रस्ट के अंतर्गत उसकी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करने की घोषणा की गयी। सरकार और सीपीएन (एम) के बीच इस 330 सदस्यों वाली एक अंतरिम संसद के गठन पर भी सहमति बनी। इसमें माओवादियों को 73 सीटें दी गयीं। इसके बाद प्रचंड ने अपनी पार्टी की समानांतर सरकार खत्म करने की घोषणा की और वे सरकार में भी शामिल हो गये। बाद में, उनकी पार्टी राजा के पद को खत्म करने की माँग को लेकर सितम्बर, 2007 में इस सरकार से बाहर हो गयी। लेकिन राजतंत्र को खत्म करने का समझौता हो जाने के बाद वह 30 दिसम्बर, 2007 को सरकार में शामिल हो गयी। इसके बाद अप्रैल, 2008 में संविधान सभा के चुनाव हुए।

इन चुनावों में सीपीएन (एम) सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी। इसके कुल 601 सीटों में से 220 सीटों पर जीत मिली। गौरतलब है कि यह तय किया गया था कि संविधान सभा एक निश्चित समय के लिए संसद के रूप में भी काम करेगी। सीपीएन (एम) ने राजा से अपना पद छोड़ने के लिए कहा। लेकिन एक लम्बे समय तक दूसरे दल किसी माओवादी नेता को प्रधानमंत्री स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए। आखिरकार अगस्त, 2008 में माओवादी नेता प्रचंड ने ही प्रधानमंत्री का पद संभाला। लेकिन उन्हें 25 मई, 2009

को अपने पद से हटना पड़ा क्योंकि कई दलों ने उनकी मनमानी कार्यशैली का विरोध किया। बहरहाल, नेपाल में अब भी नया संविधान नहीं बना है। लेकिन संविधान सभा में माओवादी एक महत्वपूर्ण शक्ति के तौर पर मौजूद हैं।

असल में, नेपाली माओवादी पार्टी यानी सीपीएन (एम) ने सिर्फ नेपाल की कांग्रेसी पार्टी के जनाधार को ही चोट नहीं पहुँचायी, बल्कि इसने दूसरे वामपंथी दलों के आधार को भी काफ़ी सीमित कर दिया। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि सीपीएन (एम) ने इन दलों की तरह सत्ता की राजनीति पर ध्यान न देकर ग्रामीण गरीब और अशिक्षित जनता के मुद्दों को उठाया और उनके लिए लगातार संघर्ष किया। उल्लेखनीय है कि भारत के संदर्भ में नेपाली माओवादी के उभार के कम-से-कम दो महत्वपूर्ण प्रभाव हो सकते हैं। पहला, माओवादियों की राजनीति में भारतीय वर्चस्व का विरोध एक प्रमुख कारक रहा है। ऐसे में यह मुमकिन है कि माओवादियों के उभार के बाद नेपाली राज्य भारत के प्रति ज्यादा कड़ा रुख अपनाये और उसकी विदेश नीति चीन के पक्ष में झुके। इसलिए आने वाले समय में भारत को अपनी नेपाल नीति पर संवेदनशील तरीके से पुनर्विचार करने और उपयुक्त संशोधन करने की आवश्यकता हो सकती है। दूसरा, नेपाली माओवादियों द्वारा लोकतंत्र और 'मुख्यधारा' को अपनाने को माओवाद की जीत और लोकतंत्र की जीत— दोनों ही रूपों में रेखांकित किया जा सकता। यह इस अर्थ में माओवाद की जीत है कि माओवादियों ने नेपाली राज्य को अपनी माँग मानने के लिए मजबूर किया। और यह इसलिए लोकतंत्र की जीत है, क्योंकि हिंसा का सहारा लेने के बावजूद माओवादियों को बातचीत करने और दूसरी विचारधारा के लोगों को स्वीकार करने का विकल्प अपनाना पड़ा। भारतीय राज्य भी इस अनुभव का उपयोग भारत के माओवादियों को बातचीत के लिए तैयार करने में कर सकता है।

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि नेपाली माओवादियों ने ऐतिहासिक सफलता हासिल की है। लेकिन उनके लिए असली चुनौती आगे है। यह बात साफ़ हो ही चुकी है कि वे अब सभी दलों पर अपना मनमाना एजेंडा नहीं थोप सकते हैं और उन्हें समझौते और सामंजस्य से आगे बढ़ना सीखना होगा। इसके अलावा, अभी तक उन्होंने सरकारों के सामने बहुत सी माँग रखी हैं, लेकिन उन्हें सरकार चलाकर उन माँगों को पूरा करके दिखाना होगा। माओवादी नेता प्रचंड के प्रधानमंत्री का कार्यकाल यह दिखाता है कि ये दोनों ही काम माओवादियों के लिए काफ़ी मुश्किल हैं। इसके अलावा, भ्रष्टाचार और पहचान की राजनीति जैसे मुद्दे भी उनकी मुख्य चुनौतियाँ हैं।

देखें : आजादी के लिए सशस्त्र संघर्ष-1, 2 और 3, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, दक्षिण एशियाई सहयोग संगठन (सार्क), बांग्लादेश मुक्ति-संघर्ष, म्याँमार में लोकतंत्र के लिए संघर्ष, श्रीलंका में तमिल पृथकतावाद।

संदर्भ

1. बाबूराम भट्टाराई (2005), *मोनाकी वसेंज डेमोक्रेसी : द इपिक फ़ाइट इन नेपाल*, समकालीन तीसरी दुनिया, नयी दिल्ली.
2. ए. कर्की और डी. सेल्डॉन (2003), *द पीपुल्स वॉर इन नेपाल*, लेफ़्ट पर्सपेक्टिव्ज़, नयी दिल्ली..
3. एम. हट्ट (सम्पा.) (2004), *हिमालयन पीपुल्स वार : नेपाल्स माओइस्ट रिबेलियन*, इण्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन.
4. सारा बेथ सिंडरमैन (2009). 'द फ़ॉर्मेशन ऑफ़ पॉलिटिकल कांशसनेस इन रूरल नेपाल', *डायलैक्टिकल एंथ्रोपोलॉजी*, खण्ड 33, अंक 3/4.

— कमल नयन चौबे

मार्क ब्लॉक

(Marc Bloch)

मार्क ब्लॉक (1864-1944) इतिहास-लेखन की अनाल धारा के सह-संस्थापक और प्रवर्तक थे। अनाल का लक्ष्य इतिहास के अनुशासन को प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक के कृत्रिम विभाजन तथा समाज को आदिम और सभ्य के पूर्वाग्रहजनित साँचों से मुक्त करना था। इस बौद्धिक मुहिम में ब्लॉक ल्यूसियाँ फ़ेब्र के सह-यात्री थे। इतिहास को सम्पूर्ण, अविभाजित और मानवीय बनाने के इस विख्यात प्रयोग में दोनों की समान भूमिका थी। ब्लॉक ने फ़ेब्र की इतिहास-दृष्टि अपनायी लेकिन उसे अपने विशिष्ट योगदान से इतना समृद्ध किया कि आज उत्तर-आधुनिक चिंतकों से लेकर विश्व-इतिहास लिखने के आकांक्षी इतिहासकार तक उनके कृतित्व से प्रेरणा लेते हैं। मार्क ब्लॉक को इतिहास का प्रशिक्षण विरासत में मिला था। उनके पिता गुस्ताव ब्लॉक खुद प्राचीन इतिहास के लब्धप्रतिष्ठ इतिहासकार थे। पर उनकी इतिहास-दृष्टि फ़्रांस और बेल्जियम के इतिहासकारों के बीच चलने वाले विमर्श की भी ऋणी है। उनके छात्र जीवन में चार्ल्स सेईनोबोस तथा चार्ल्स-विक्टर लांगलोई जैसे इतिहासकारों का एक समूह जर्मन प्रभाव के कारण इतिहास के वैज्ञानिक सिद्धांत गढ़ रहा था, तो दूसरी ओर हेनरी हॉजर, अल्फ़ोंसे ओलार्द, फ़र्दिनैंद लोट और हेनरी पिरेने जैसे विद्वान इतिहास को रूढ़ियों से मुक्त करके उसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई, भौगोलिक व आर्थिक कारकों को शामिल करने पर जोर दे रहे थे।

ब्लॉक अपने शुरुआती चिंतन में जब इतिहास और विज्ञान की तुलना करते हैं तो उन पर इस बहस का प्रभाव साफ़ देखा जा सकता है। उनकी नोटबुक में दर्ज फुटकर

विचारों से पता चलता है कि इतिहास-लेखन के व्यावहारिक कर्म में उतरने से पहले वे विज्ञान और इतिहास की तात्त्विक भिन्नताओं से जूझ रहे थे। ब्लॉक लिखते हैं कि विज्ञान किसी परिघटना की व्याख्या के लिए विश्लेषण और वर्गीकरण के औज़ारों का इस्तेमाल करता है जबकि इतिहास में यह काम विवरण और वर्णन के जरिये किया जाता है। भिन्नताओं की इस पड़ताल में ब्लॉक यह भी कहते हैं कि वैज्ञानिक की परिघटना अपेक्षाकृत सरल, ठोस और भौतिक चीज़ होती है जो मुख्यतः उसकी चेतना से वास्ता रखती है, जबकि इतिहासकार जिस परिघटना का अध्ययन करता है उसका स्वरूप मूलतः मनोवैज्ञानिक होता है तथा वह इतिहासकार और इतिहास के पात्रों की चेतना से ताल्लुक रखती है। इस समझ के आधार पर ब्लॉक यह प्रतिपादित करते हैं कि अतीत को कई तरीकों से व्याख्यायित किया जा सकता है। लेकिन अपनी बौद्धिक यात्रा के इस दौर में ब्लॉक इतिहास के लिए जब-तब विज्ञान से वैधता माँगते भी दिखाई पड़ते हैं। इतिहास को एक विस्तृत कोण से देखने का साहस उनमें बाद में पैदा हुआ।

एक इतिहासकार के तौर पर ब्लॉक के कृतित्व का बड़ा हिस्सा मध्ययुगीन फ़्रांस के सामंती समाज के अध्ययन को समर्पित है। वे उसकी जोत-प्रणालियों की विविधताओं व खेतियर ज़मीन को बाड़ से घेरकर निजी मिल्कियत में तब्दील करने की प्रक्रिया के सामाजिक निहितार्थों को गहराई से समझना चाहते थे। भू-दासता का क्रानूनी और आर्थिक ढाँचा, समाज और अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों में पादरी वर्ग की भूमिका, राजतंत्र और किसानों के सत्ता-संबंध, सामंती न्याय के रूप, भूमि-कर की उत्पत्ति आदि विषयों की उनकी महत्वपूर्ण रचना *फ़्रेंच रूरल हिस्ट्री* में बार-बार वापसी होती है। इस पुस्तक में ब्लॉक ने मानचित्रों का विलक्षण उपयोग करते हुए यह दिखाया है कि मध्ययुग के शुरुआती चरण और फ़्रांसीसी क्रांति के बीच की सामाजिक संस्थाओं का उस दौर की भौतिक पृष्ठभूमि से क्या संबंध था। इस पुस्तक की शोध प्रक्रिया में उन्होंने रिग्रेसिव मैथड अपनाया जिसे इतिहास को घटनाओं के उलटे क्रम में समझने का तरीका कहा जा सकता है। ब्लॉक यहाँ यह प्रतिपादित करते हैं कि इतिहास में ज्ञात से अज्ञात की पड़ताल करना ज़्यादा सुकर होता है। अनेक विद्वान इस पुस्तक को ब्लॉक की सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना मानते हैं।

ब्लॉक की दूसरी उल्लेखनीय कृति *द रॉयल टच* है जिसमें उन्होंने चिकित्सा, मनोविज्ञान, मूर्ति-कला और मानव-विज्ञान जैसे अनुशासनों की अंतर्दृष्टियों का उपयोग करते हुए मध्ययुगीन फ़्रांस तथा इंग्लैण्ड में व्याप्त चमत्कारप्रियता और अंधविश्वासों की गहरी पड़ताल की है। उल्लेखनीय है कि पहली सहस्राब्दी के समय फ़्रांस की जनता में यह विश्वास प्रचलित था कि राजा के स्पर्श से गर्दन की टीबी (स्करोप्प्युला) दूर हो जाती है। ब्लॉक ऐसे अंधविश्वासों

और चमत्कारों की उत्पत्ति, चलन और अवसान की तह में जाकर बताते हैं कि इस विश्वास का सबसे पहला उपयोग फ्रांस के शासक रॉबर्ट ने किया था। यह एक पैतरा था जिसके जरिये रॉबर्ट अपने वंश की राजनीतिक सत्ता को आनुवंशिक तौर पर जायज सिद्ध करना चाहता था। बाद में हेनरी प्रथम और द्वितीय ने भी पादरी वर्ग को नियंत्रित करने के लिए इस चलन को जारी रखा। ब्लॉक के अनुसार शाही स्पर्श का यह विश्वास असल में सत्ता की दावेदारी और राजा को धार्मिक विभूति मानने की परम्परा से उपजा था। ब्लॉक दर्शाते हैं कि राजा में चमत्कारिक शक्तियों की प्रतिष्ठा करना उसके सैन्य, क्रांती और सांस्थानिक रुतबे का विस्तार था। इस प्रथा के विश्लेषण के जरिये ब्लॉक इतिहासकारों को एक तरह से यह सुझाव देते हैं कि अगर वे यह जानना चाहते हैं कि जनता अफवाहों और भ्रांत धारणाओं में क्यों विश्वास करती है तो उन्हें लोगों की सामूहिक चेतना की पड़ताल करनी चाहिए। ब्लॉक लोगों की ऐसी आस्थाओं को समाज की सामूहिक चेतना का दर्पण मानते थे। परवर्ती विद्वानों ने शाही स्पर्श की परिघटना के आधार पर राजनीतिक इतिहास को आलोकित करने वाले ब्लॉक के इस अध्ययन को एक बड़ी उपलब्धि माना है। किंतु विद्वानों के एक समूह की राय यह भी है कि ब्लॉक इस परिघटना के वैचारिक निहितार्थों को उजागर करने में चूक कर गये। लेकिन इसके समग्र प्रभाव को देखें तो ब्लॉक इस रचना के जरिये यह दिखाते हैं कि अतीत का अन्वेषण कई रास्तों से किया जा सकता है।

शाही स्पर्श के इस अध्ययन से ब्लॉक को सामंतवाद को नये सिरे से समझने की दृष्टि मिली। गौरतलब है कि उस समय इतिहास-लेखन के दायरे में सामंतवाद के संबंध में दो तरह के मत पेश किये जा रहे थे। एक मत के अनुसार दसवीं और तेरहवीं सदियों के दौरान युरोप में प्रचलित सामंतवाद एक इकहरी संरचना थी जिसका रूप हर जगह एक जैसा था। जबकि दूसरा मत इस बात पर जोर दे रहा था कि सामंतवाद इतनी विविधतापूर्ण परिघटना थी कि उसके आधार पर किसी तरह का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता था। इस बहस में ब्लॉक ने मध्यमार्गीय रवैया अपनाया। उनका प्रतिपादन यह था कि सामंतवाद पदानुक्रम और समझौते पर टिकी व्यवस्था थी जिसमें शासित और शासक पारस्परिक निर्भरता की कड़ियों से बँधे थे। ब्लॉक का मानना था कि समूचे युरोप और दुनिया के बाक़ी हिस्सों में यह व्यवस्था कमोबेश ऐसे ही रूपों में प्रचलित थी। इस संबंध में उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि कस्बों, मौद्रिक अर्थव्यवस्था, तथा राष्ट्रीय राजतंत्रों के उत्थान से सामंती

व्यवस्था का पतन भले ही हो गया हो लेकिन राजनीतिक समझौते के रूप में उसका अस्तित्व बरकरार रहा।

विद्वानों के अनुसार ब्लॉक का यह चिंतन उनकी सर्वाधिक चर्चित रचना *प्र्यूडल सोसाइटी* की ज़मीन तैयार करता है। इस किताब में ब्लॉक नवीं से तेरहवीं सदी के बीच पश्चिमी और मध्य युरोपीय समाज की संरचना का सघन ब्योरा पेश करते हैं। इस काल में ब्लॉक सामंतवाद के दो चरण चिह्नित करते हैं। जिसमें एक चरण आक्रमणों और विध्वंस से पैदा हुआ था, तो दूसरे के मूल में आर्थिक विस्तार तथा बौद्धिक पुनरुत्थान की प्रक्रियाएँ महत्वपूर्ण थीं। इस अध्ययन में ब्लॉक फ्रांस, जर्मनी और इटली में व्याप्त सामंतवाद के देशज रूपों का जायज़ा लेने के साथ इन रूपों की इंग्लैण्ड जैसे देश से भी तुलना करते हैं जहाँ सामंतवाद ऊपर से थोपा गया था। यहाँ वे इस बात की तह में भी जाते हैं कि स्कॉलैण्ड तथा स्केडिनेवियाई देशों में सामंतवाद क्यों स्वीकार्य नहीं हो पाया। इस किताब में



मार्क ब्लॉक (1864-1944)

ब्लॉक संवेदना और विचार के तौर-तरीकों तथा सामाजिक एकता की जो तस्वीर पेश करते हैं उसका परिक्षेत्र बहुत व्यापक है, लेकिन विद्वानों के अनुसार ब्लॉक अपने हर सूत्र के समर्थन में इतने ब्योरे और साक्ष्य जुटाते हैं कि फलक बड़ा होने के बावजूद उनका विश्लेषण कहीं कमजोर नहीं पड़ता। परंतु ब्लॉक के ही सहकर्मी ल्यूसियाँ फ्रेब्र ने इस कृति की समीक्षा करते हुए यह ध्यान दिलाया था कि घटनाओं के आकलन में ब्लॉक ने व्यक्ति की भूमिका को अनदेखा किया है। फ्रेब्र ने इसकी दो अन्य खामियों की ओर इशारा करते हुए यह भी कहा था कि ब्लॉक सामंती संबंधों के काल निर्धारण में चूक करते हैं और आधुनिक राष्ट्रवाद के उदय में मध्यकालीन सूत्रों को ज़रूरत से ज़्यादा अहमियत देते हैं। लेकिन इस बात से किसी को गुरेज़ नहीं था कि ब्लॉक की यह किताब मध्यकालीन इतिहास के क्षेत्र में एक अप्रतिम और कालजयी योगदान है।

ब्लॉक ने जिस तरह अपनी ऐतिहासिक रचनाओं से इतिहास-लेखन के मानकों और सीमांतों का विस्तार किया है उसी तरह इतिहास के दर्शन को भी सूक्ष्म अंतर्दृष्टियों से समृद्ध किया है। इतिहास के अनुशासन में तुलनात्मकता के तत्त्व पर जोर देते हुए ब्लॉक कहते हैं कि इतिहासकारों को दिक्-काल में अलग-अलग बिंदुओं पर स्थित संस्कृतियों में सार्वभौमिकता की शिनाख्त करने के अलावा पड़ोसी व समकालीन समाजों के तुलनात्मक अध्ययन का प्रयास करना

चाहिए। लेकिन इस मामले में वे यह साफ़ नहीं करते कि तुलना की इकाइयों की सीमा और प्रकृति कैसी होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, ब्लॉक यह स्पष्ट नहीं करते कि इस तरह के तुलनात्मक अध्ययनों को सार्थक बनाने के लिए तुलना की इकाइयाँ कितनी बड़ी या छोटी होनी चाहिए।

दूसरे विश्वयुद्ध में लड़ाई के मोर्चे पर जाने से पहले ब्लॉक इतिहास की शोध-पद्धति के बारे में चिंतनरत थे। इतिहास की उपयोगिता पर केंद्रित उनकी किताब *द हिस्टोरियंस क्राफ्ट* इस बात का जवाब देने की कोशिश करती है कि इतिहास क्यों पढ़ा जाए। यहाँ ब्लॉक इतिहास को समय में प्रवहमान मनुष्य का विज्ञान घोषित करते हुए ऐसे इतिहासकारों से बहसतलब होते हैं जो खुद को राजनीति व घटनाओं के तात्कालिक कारणों तक सीमित रखते हैं। ब्लॉक के तर्क इतिहास मनुष्य की विकास-यात्रा को अनावृत करता है लेकिन उससे यह काम लेने के लिए इतिहासकार को यह जानना पड़ता है कि साक्ष्यों का संधान कैसे किया जाए। यहाँ ब्लॉक का आशय साक्ष्यों के लिए कई तरह के दस्तावेजों को खँगालने, खुद साक्ष्यों की वैधता परखने और उनकी सही संदर्भ में व्याख्या करने से है। वे यह भी तजवीज़ करते हैं कि इतिहासकार को अतीत का विश्लेषण करने में नैतिकता के निजी आदर्शों को आड़े नहीं आने देना चाहिए। ब्लॉक के अनुसार इतिहासकार को एक ऐसी शब्दावली की खोज करनी चाहिए जो तथ्यों की रूपरेखा को सटीक ढंग से बयान करने के साथ नये उद्घाटनों के प्रति भी खुला और विनम्र रवैया अख़्तियार कर सके।

लेकिन ब्लॉक की यह सबसे चर्चित किताब अधूरी रह गयी। इसे इतिहास की त्रासदी ही कहा जाएगा कि इतिहास को ज़्यादा बृहत्तर और मानवीय बनाने की हिमायत करने वाला यह इतिहासकार विश्व-युद्ध के दौरान एक दिन जर्मन सैनिकों के हाथों में पड़ गया। गिरफ्तारी के बाद उन्हें भयावह यातना दी गयी और 16 जून, 1944 को उनकी हत्या कर दी गयी। पर ब्लॉक का कृतित्व एक बार फिर यह साबित करता है कि विचारों की हत्या नहीं की जा सकती। उनका अवदान आज भी उतना ही अक्षुण्ण है जितना उनके जीवनकाल में था।

देखें : ल्यूसियाँ फ़ेब्रे, फ़्रैंक ब्रॉदेल, अनाल स्कूल, इतिहास और आख्यान।

संदर्भ

1. पीटर बर्क (1990), *द फ्रेंच हिस्टोरिकल रेवोल्यूशन : द अनाल्स स्कूल 1929-89*, पॉलिटी, केम्ब्रिज.
2. एन. कैंटर (1991), *इन्वैटिंग द मिडल एजिज़ : द लाइवज़, वर्ल्ड्स एंड आइडियाज़ ऑफ़ ग्रेट मेडिसेलिस्ट्स ऑफ़ द ट्वेंटीथ सेंचुरी*, विलियम मैरो, न्यूयॉर्क.
3. सी. फिंक (1989), *मार्क ब्लॉक : अ लाइफ़ इन हिस्ट्री*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— नरेश गोस्वामी

मार्क्स और हिंसा

(Marx and Violence)

जिस तरह अहिंसा की अवधारणा पर गाँधी के बिना गौर नहीं किया जा सकता, उसी तरह हिंसा पर कार्ल मार्क्स के सूत्रीकरणों के बिना विचार नहीं किया जा सकता। पहली नज़र में ऐसा लगता है कि मार्क्स जिस परिवर्तन की बात करते हैं वह उनके अनुसार मौजूदा सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को क्रांति के जरिये उखाड़ फेंकने से ही सम्भव है, और उस क्रांति में हिंसा का इस्तेमाल होना अनिवार्य है। *मैनिफेस्टो ऑफ़ द कम्युनिस्ट पार्टी* के आखिरी पैरे में मार्क्स और एंगेल्स ने साफ़ लिखा है : 'कम्युनिस्ट अपने विचारों और लक्ष्यों को छिपाने से नफ़रत करते हैं। वे खुल कर एलान करते हैं कि उनके लक्ष्य केवल सभी मौजूदा सामाजिक स्थितियों को ताक़त के दम पर पलट देने से ही पूरे हो सकते हैं। शासक वर्ग अगर काँपते हैं तो उन्हें कम्युनिस्ट क्रांति की सम्भावनाओं से काँपने दो। सर्वहारा के पास अपनी बेड़ियाँ के अलावा खोने के लिए कुछ नहीं है। जीतने के लिए उनके सामने दुनिया पड़ी है।' इस कथन से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मार्क्स के सामने हिंसक क्रांति के अलावा दूसरा विकल्प नहीं था। लेकिन, मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के साहित्य में यदा-कदा शांतिपूर्ण क्रांति का ज़िक्र भी मिलता है। यानी क्रांति वर्गों के बीच संघर्ष से तो होगी, लेकिन कुछ ख़ास परिस्थितियों में उसका चरित्र हिंसक नहीं होगा। ऐसा कहते हुए ये तीनों सिद्धांतकार सामाजिक क्रांति की अवधारणा को उसके लिए अपनाये जा सकने वाले रास्ते से अलग करके देखने की अपील करते हैं। इस मुक़ाम पर वे कहते हैं कि क्रांति हिंसक भी हो सकती है, और शांतिपूर्ण भी। यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

दरअसल, मार्क्स और उनके वाद का संबंध हिंसा से इसलिए जुड़ा नज़र आता है, क्योंकि उन्होंने राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तन के लिए क्रमिक विकास की जगह क्रांति की अनिवार्यता पर निर्विवाद रूप से जोर दिया। जिस ज़माने में वे अपना सिद्धांतीकरण कर रहे थे, उसके घटनाक्रम पर नज़र डालने से पता चलता है कि तब क्रांति का व्यावहारिक मतलब हिंसक क्रांति से ही था। 1789 की फ्रांसीसी क्रांति का प्रधान स्वरूप न केवल हिंसात्मक था, बल्कि उसकी वजह से क्रांतिकारी परम्परा को ही एक हिंसक आभा मिल गयी। इसके बाद समाजवादी परम्परा में क्रांति और हिंसा के इसी रिश्ते को बढ़ावा दिया गया जिसमें बैबुफ़ और ब्लांकीवादियों की भूमिका उल्लेखनीय है। 1848 के दौरान यूरोप में जो क्रांतियाँ हुईं, उनकी नाकामी ने सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांतकारों को यक़ीन ही दिला दिया कि

श्रमिकों की मुक्ति क्रांतिकारी हिंसा के बिना नहीं हो सकती। इन युरोपीय क्रांतियों का परिणाम श्रमिकों को मतदान के अधिकार दिलाने या उनकी जीवन-दशाओं के सुधार में नहीं निकला। इसीलिए मार्क्स मोटे तौर पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पूँजीवाद के शांतिपूर्ण रूपांतरण का आग्रह ज़्यादा से ज़्यादा यूटोपियायी समाजवादी आग्रह ही है।

लेकिन मार्क्स और क्रांतिकारी हिंसा के आपसी संबंधों पर गौर करने वाले अक्सर यह भूल जाते हैं कि वे बीच-बीच में यह भी कहते रहते थे कि जिन देशों में राज्य की संस्था की बागडोर अधिकारीतंत्र और स्थाई सेना के हाथों में नहीं है वहाँ मज़दूर वर्ग शांतिपूर्ण साधनों से भी अपने लक्ष्यों की पूर्ति कर सकता है। क्रांतिकारी हिंसा की व्यावहारिकता आगे चल कर एंगेल्स की निगाह में थोड़ी और संदिग्ध हो गयी। जर्मनी में सामाजिक जनवादी पार्टी श्रमिकों की गोलबंदी में लगातार सफल होती जा रही थी, और दूसरी तरफ आधुनिक सेनाएँ पहले से कहीं ज़्यादा अनुशासित और मारक क्षमता से लैस होती जा रही थीं। यह देख कर एंगेल्स को लगा कि जन-विद्रोह की स्थिति में क्रांतिकारी योद्धा ऐसी फ़ौज के मुक़ाबले शायद ही जीत पाएँगे। इसलिए उन्होंने सावधानी बरतने की सलाह देते हुए कहा कि कम्युनिस्टों को धैर्य पूर्वक अपना समर्थन आधार बढ़ाते हुए ग़ैरक्रान्तीय तौर-तरीकों के बजाय क्रान्तीय तरीकों पर अधिक जोर देना चाहिए। यही कारण था कि दूसरे इंटरनेशनल के ज़माने में बड़ी-बड़ी कम्युनिस्ट पार्टियों ने क्रांतिकारी वाग्जाल का तो इस्तेमाल ख़ूब किया लेकिन वास्तव में हिंसक क्रांति आयोजित करने के लिए कोई तैयारी नहीं की। एडुअर्ड बंस्टीन के विचार इसी माहौल में युरोपीय कम्युनिस्टों के गले उतर पाये। उनका यही तो कहना था कि समाजवादियों का आचरण जब सुधारात्मक है तो फिर उनके क्रांतिकारी सिद्धांत की प्रासंगिकता क्या बचती है। अगर लेनिन के नेतृत्व में हुई 1917 की सफल बोल्शेविक क्रांति की प्रकृति हिंसक न होती, तो हो सकता था कि बंस्टीन के विचार ही प्रधानता प्राप्त करते चले जाते।

मार्क्सवाद और हिंसा के संबंध पर श्लोमो अविनेरी, जॉर्ज लिचथाइम और रिचर्ड मिलर ने विस्तार से विचार किया है। भारतीय विद्वानों में रुस्तम सिंह ने इन विद्वानों के काम की मार्क्स के विचारों की कसौटी पर परीक्षा करके इस विषय पर उपयोगी रोशनी डाली है। अविनेरी का निष्कर्ष यह है कि मार्क्स एक ऐसी परिस्थिति पर हिंसक राजनीतिक क्रांति थोपने के खिलाफ़ थे जिसमें सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ रूपांतरण के लिए परिपक्व न हों। अर्थात् अगर नागर समाज तैयार नहीं है तो केवल राजनीतिक दायरे में की गयी क्रांति नाकाम होने के लिए अभिशप्त होगी। अविनेरी को पढ़ने के बाद लगता है कि जैसे वे क्रांति में राजनीतिक पहलक़दमी की भूमिका को कोई ख़ास अहमियत देने के लिए तैयार नहीं हैं।

दूसरी तरफ़ लिचथाइम 1850 से पहले के मार्क्स और 1950 के बाद के मार्क्स को अलग-अलग करके देखते हैं। उनकी मान्यता है कि उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध के कार्ल मार्क्स का रवैया अधिक आत्मनिष्ठ और पूर्णरूपेण क्रांतिकारी (और काफ़ी कुछ जैकोबिन और ब्लांकीवादी क्रिस्म का) था। इसी अवधि में उन्होंने मैनिफ़ेस्टो लिखा और कम्युनिस्ट लीग की सेंट्रल कमेटी के सामने अपना विख्यात भाषण दिया। सदी के उत्तरार्ध में वे क्रमशः बदले और लोकतांत्रिक समाजवाद के पक्ष में उत्तरोत्तर झुकते चले गये। मार्क्स की मृत्यु के बाद तो एंगेल्स ने मार्क्सवाद को क्रांतिकारी के बजाय सुधारवादी ही बना दिया। लंदन में ब्लांकीवादियों के खिलाफ़ दिये गये उनके भाषण में इस परिवर्तन के सुराग मिलते हैं। 1864 के भाषण तक आते-आते मार्क्स के विचारों में इस क्रूर परिवर्तन हो चुका था कि उनके भाषण को लिचथाइम ने सामाजिक जनवाद के घोषणापत्र की संज्ञा ही दे दी है। पेरिस कम्यून के प्रभाव में मार्क्स एक बार फिर अल्पकाल के लिए कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो के यूटोपियन विचारों की तरफ़ लौटे लेकिन लिचथाइम के मुताबिक़ अंततः वे आधुनिक युग की ज़रूरतों में फ़िट होने वाले दृष्टिकोण का विकास करते पाये गये। लिचथाइम का विचार है कि मार्क्स ने मैनिफ़ेस्टो की क्रांतिकारी भावना का खण्डन कभी नहीं किया, लेकिन व्यवहार में उनके अपने विचारों के विकास में वह भावना कभी आड़े भी नहीं आयी। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशक के आते-आते (जब मार्क्सवाद के विकास की बागडोर एंगेल्स के हाथों में थी) यह मान ही लिया गया था कि राजसत्ता बंदूक में नहीं वोट में बसती है, और निर्वाचित विधायिका में अगर समाजवादी बहुमत हासिल कर लें तो श्रमिक वर्ग अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है। कुल मिला लिचथाइम 1950 के बाद मार्क्स की और उनके बाद एंगेल्स की जो तस्वीर पेश करते हैं वह क्रांतिकारी की जगह सुधारवादी क्रिस्म की है, और नतीजे के तौर पर मार्क्सवाद की उस छवि का खण्डन करती है जिसके मुताबिक़ यह विचारधारा हिंसा में विश्वास करने वाली है।

रिचर्ड मिलर के निष्कर्ष के मुताबिक़ मार्क्स पूँजीपति वर्ग के प्रभुत्व का अंत करने के लिए बड़े पैमाने पर होने वाली संगठित हिंसा को आवश्यक मानते थे। साथ में उनका विचार यह भी था कि ख़ास परिस्थितियों में इस हिंसक संघर्ष से पहले मज़दूर वर्ग चुनावी जीत के दौर से गुज़र सकता है। लेकिन यह जीत हिंसक क्रांति की जगह नहीं ले सकती। यानी मिलर के मुताबिक़ मार्क्स हिंसक क्रांति की प्राथमिकता पर हमेशा ही बल देते रहे। मिलर की बातों से ऐसा लगता है कि जैसे मार्क्स शांतिपूर्ण परिवर्तन की सम्भावना रेखांकित करने के बावजूद क्रांतिकारी हिंसा की वकालत करते थे। इसके अलावा यह भी एक तथ्य है कि मार्क्स ने क्रांति के हिंसक या अहिंसक होने में प्राथमिक या द्वितीयक जैसा वर्गीकरण कभी नहीं किया।

रुस्तम सिंह के मुताबिक इसमें कोई शक नहीं कि मार्क्स और एंगेल्स ने पूँजीवादी प्रणाली के संदर्भ में अपनी उन शुरुआती मान्यताओं को संशोधित किया था जो कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो के उपर्युक्त उद्धरण का आधार हैं। तब उन्हें लगता था कि पूँजीवादी राजनीतिक संस्थाओं की डिजाइन मजदूर वर्ग को कभी सत्ता हासिल ही नहीं करने देगी। लेकिन अपने उत्तरवर्ती अध्ययनों और प्रेक्षणों के ज़रिये उन्होंने समझ बदली। उन्हें लगा कि कुछ जगहों पर ये संस्थाएँ काफी विकसित हो कर जड़ जमा चुकी हैं। उनका विकास अब उलटा नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में सर्वहारा इन संस्थाओं का इस्तेमाल करके सत्ता पर कब्जा करने के बारे में सोच सकता है। यह ज़रूर है कि इन सम्भावनाओं पर विचार करते हुए मार्क्स और एंगेल्स हिंसा का इस्तेमाल करने के श्रमिकवर्गीय अधिकार पर जोर देते रहे। जहाँ-जहाँ पूँजीपति वर्ग शांतिपूर्ण तरीके से सत्ता छोड़ने के लिए तैयार नहीं होगा, वहाँ-वहाँ हिंसक साधनों का प्रयोग करना ही होगा। इसी तरह जिन देशों और समाजों में पूँजीपति वर्ग की लोकतांत्रिक संस्थाएँ, रीति-रिवाज और परम्पराएँ विकसित नहीं हैं, वहाँ मार्क्स-एंगेल्स के अनुसार केवल हिंसक क्रांति ही श्रेयस्कर है। और तो और, जहाँ हुकूमत बेहद दमनकारी है, वहाँ क्रांतिकारी रणनीति आतंकवादी तौर-तरीकों तक का इस्तेमाल कर सकती है।

देखें : कार्ल मार्क्स, मार्क्सवाद, कार्ल मार्क्स अर्थशास्त्री के रूप में, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, फ्रेड्रिख एंगेल्स, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, माओ त्से तुंग, माओवाद और माओ विचार, बोल्शेविक क्रांति, चीन की कम्युनिस्ट क्रांति, क्यूबाई क्रांति, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 और 9, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, चे गुएवारा, एंतोनियो ग्राम्शी, निष्क्रिय क्रांति, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, सोवियत समाजवाद : उत्थान और पतन-1, 2 और 3, स्तालिन और स्तानिलवाद, यूटोपिया, यूटोपिया : अन्य परिप्रेक्ष्य।

संदर्भ

1. एडम शैफ़ (1973), 'मार्क्सिस्ट थियरी ऑन रैवोल्यूशन ऐंड वायलेंस', *जर्नल ऑफ़ द हिस्ट्री ऑफ़ आइडियाज़*, खण्ड 34, अंक 2.
2. श्लोमो अविनेरी (1977), *द सोशल ऐंड पॉलिटिकल थॉट ऑफ़ कार्ल मार्क्स*, एस. चांद एंड कम्पनी, नयी दिल्ली.
3. जॉर्ज लिचथाइम (1974), *मार्क्सिज़म : ऐन हिस्टोरिकल ऐंड क्रिटिकल स्टडी*, रॉटलेज एंड कीगन पॉल, लंदन.
4. रिचर्ड डब्ल्यू. मिलर (1984), *एनालाइज़िंग मार्क्स : मॉरलिटी, पावर ऐंड हिस्ट्री*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.
5. रुस्तम सिंह (1989), 'स्टैटस ऑफ़ वायलेंस इन मार्क्सिज़ थियरी ऑफ़ रैवोल्यूशन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 24, अंक 4.

— अभय कुमार दुबे

मार्क्सवाद-1

वैज्ञानिकता का दावा : प्रत्यक्षवाद का प्रभाव

(Marxism-1)

मार्क्सवाद, उसकी रूपरेखा और प्रकृति पर चर्चा होते ही पहला सवाल यह उठता है कि हम किस मार्क्सवाद की चर्चा करना चाहते हैं? लेनिन के या रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग के? स्तालिन के या ट्रॉट्स्की के? यह सवाल भी पूछा जा सकता है कि लेनिन-स्तालिन-माओ का मार्क्सवाद ही मार्क्सवाद क्यों है, बुखारिन, प्रिओब्रैज़ेन्सकी, लूकाच, ग्राम्शी, लिन प्याओ, तेंग श्याओ पिंग का क्यों नहीं? आखिर क्या कारण है कि रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग या ट्रॉट्स्की सरीखे नेता इतिहास की पुस्तकों के हाशिये में धकेल दिये गये हैं? उन्हें लेनिन या स्तालिन से कम मार्क्सवादी क्यों मानना चाहिए? इन अहम सवालों के जवाब में कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि आज के युग में हमारे पास कोई ऐसी कसौटी बाकी नहीं बची है, जिस पर कस कर हम किसी खाँटी मार्क्सवाद की शिनाख्त कर सकें। और तो और, ऐसा मान लेना कि लेनिन या स्तालिन या माओ का मार्क्सवाद ही ख़ालिस है, प्रकारांतर से यह मान लेना भी होगा कि इतिहास में वही होता है जो होना होता है, वही जीतता है जिसे जीतना होता है और सच उसी का होता है जिसकी जीत होती है। यह सही है कि मार्क्सवाद की प्रचलित व्याख्याओं में ऐसी होनियाँ पुरजोर ढंग से मौजूद रहती रही हैं। शायद इसी के आधार पर विजेता को सच का झण्डाबरदार और इतिहास-पुरुष बना कर पेश किया जाता रहा है। मगर आज जब वास्तविक समाजवाद के तमाम क्रिले ढह चुके हैं तब क्या यह मान लिया जाए कि यह भी होना ही था? अगर नहीं, तो प्रचलित मार्क्सवाद के दायरे के बाहर यह पता लगाने की ज़रूरत भी आन पड़ती है कि मार्क्सवाद का विकास एक ख़ास दिशा में ही क्यों हुआ? क्या इसके बीज उसके दर्शन और विचारधारा में निहित थे? क्या वह इनसानी आज्ञादी की बात सिर्फ़ झाँसा देने के लिए ही कर रहा था? क्या उसका मक़सद सचमुच एक दानवीय तानाशाही खड़ा करने का ही था? अगर नहीं, तो ऐसा क्यों कर हुआ?

मार्क्सवाद के संदर्भ में इसके अमलकर्ता ही उसके दार्शनिक और सिद्धांतकार भी थे। इसलिए मार्क्सवाद सिर्फ़ एक फूहड़ क्रिस्म का अमलवाद ही नहीं रहा, बल्कि एक ऐसा दर्शन बन कर उभरा जिसमें सिद्धांत और अमल की एक नायाब एकता क्रायम करने की ख़्वाहिश भी है और कोशिश भी। चूँकि यह एकता बनी-बनायी नहीं मिलती और इसे लगातार गढ़ते रहने की ज़रूरत होती है, इसलिए मार्क्सवाद की चंद विशुद्ध अकादमिक धाराओं पर नज़र डालना भी

ज़रूरी होगा। ये धाराएँ सीधे-सीधे अमल के धरातल से जुड़ी हों या न हों, आम तौर पर उनके सरोकार भी वही हैं जो व्यावहारिक मार्क्सवाद के हैं : समाज के वर्तमान (और अतीत) को और गहरे व पैने ढंग से समझना और उसकी जगह एक नये समाज के वैचारिक उपादान जुटाना।

मार्क्सवाद और प्रत्यक्षवाद : मार्क्सवाद क्या है ? यह अपने आप में बहुत जटिल सवाल है। मार्क्स व एंगेल्स के फ़ौरन बाद ही उनकी बौद्धिक विरासत को लेकर खींचतान, दावे और जवाबी दावे पेश होना शुरू हो गये थे। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशक में एंगेल्स की मृत्यु के समय पूरे युरोप में मज़दूर वर्ग की पार्टियों का अंतर्राष्ट्रीय संगठन, दूसरा इंटरनैशनल एक ताकतवर वजूद हासिल कर चुका था। बंस्टीन, काउत्स्की, प्लेखानोव, आदि एंगेल्स के जीवनकाल में ही इस संगठन के पुरोधा बन चुके थे। मज़दूर आंदोलन नयी ऊँचाइयों की ओर आगे बढ़ रहा था। आज इसमें ज्यादा मतभेद की गुंजाइश नहीं कि उसके इस विजयाभियान में ही कहीं उसकी भावी शिकस्त के बीज भी मौजूद थे। इस समय की एक और खासियत थी। युरोप की सरज़मीन पर मार्क्सवाद ने खुद को एक बड़े वैचारिक संघर्ष के ज़रिये प्रतिष्ठित करना शुरू कर दिया था, जो संघर्ष मुख्यतः तमाम तरह के भाववादी (आइडियलिस्ट) दर्शनों के खिलाफ़ हो रहा था। इस संघर्ष की पृष्ठभूमि में दो और बातें गौरतलब थीं। पहली यह कि इन फ़ौरी संघर्षों के चलते मार्क्स द्वारा चलाये गये पुराने भौतिकवादी दर्शनों के खिलाफ़ संघर्षों की याद्दाश्त काफ़ी हद तक धुँधला गयी थी। याद रहे कि इस सिलसिले में मार्क्स द्वारा फ़ायरबाख़ पर 1845 में लिखी गयी टिप्पणियाँ, जो *थीसिस ऑन फ़ायरबाख़* नाम से मशहूर हैं, पहली बार 1888 में एंगेल्स की किताब *लुडविग फ़ायरबाख़ ऐंड द ऐंड ऑफ़ क्लासिकल जर्मन फ़िलॉसफ़ी* के परिशिष्ट के रूप में छपीं। खुद एंगेल्स के जीवन की शाम तब ढल रही थी। थीसिस का रूसी अनुवाद 1924 में और अंग्रेज़ी तर्जुमा पहली मर्तबा 1938 में *द जर्मन आइडिऑलॉजी* के ब्रिटिश संस्करण के साथ छपा।

दूसरी गौरतलब बात यह है कि प्राकृतिक विज्ञान के बढ़ते क्रदमों ने तक्ररीबन पिछले तीन सौ सालों से युरोप के बौद्धिक जगत को अपनी चकाचौंध में जकड़ रखा था। चार्ल्स डार्विन द्वारा मनुष्य के क्रम-विकास के संबंध में अपनी विख्यात थियरी पेश किये जाने के बाद तो समाज के विचारकों पर इस पूरी आबोहवा का भरपूर असर पड़ता दिखाई देने लगा था। समाज के विचारकों में भी भौतिक विज्ञान, गणित और जीव-विज्ञान के तर्ज पर समाज-विज्ञान गढ़ने की मंशा ज़ोर मारने लगी थी। इन विचारकों में एक ऐसा समाज-विज्ञान ईजाद करने की इच्छा थी जो सामाजिक

विकास के छिपे हुए नियमों को ढूँढ़ निकाले और उपरोक्त प्राकृतिक विज्ञानों की तरह भी बारीकी के साथ समाज के तमाम रहस्य खोल कर रख सके, तथा उन्हीं की तरह भविष्यवाणियाँ भी कर सकें। ऐसे समाज-विज्ञान की खोज जारी थी जिसे ऑग्यूस्त कॉम्ट ने पॉज़िटिव साइंस कहा और जिसके नाम पर इस प्रवृत्ति को पॉज़िटिविज़म या प्रत्यक्षवाद के नाम से जाना गया। एक पॉज़िटिव विज्ञान की शर्त यह थी कि वह मूल्य निरपेक्ष हो, अर्थात् वह उतना ही निरपेक्ष होकर सामाजिक प्रक्रियाओं व परिघटनाओं का अध्ययन करे जितना निरपेक्ष होकर एक वैज्ञानिक बिजली की रफ़्तार या धरती के गुरुत्वाकर्षण का अध्ययन करता है।

मार्क्सवाद भाववादी दर्शनों के खिलाफ़ इस बात पर बल दे रहा था कि मानव समाज का इतिहास न तो किसी अलौकिक शक्ति द्वारा चलाया जाता है और न ही वह केवल इनसानी इरादे से आगे बढ़ता है। न तो वह महज़ इत्फ़ाक़ है और न ही वह इतना गूढ़ है कि उसके रहस्यों को समझा ही न जा सकता हो। मार्क्सवाद का दावा था कि मानव इतिहास के विकास के कुछ नियम हैं जिनका पता लगाया जा सकता है। उसका दावा यह भी था कि उसने इसका पता लगा लिया है। यहाँ यह बात ज़ोर देकर कहने की ज़रूरत है कि पॉज़िटिविज़म में नियमों के अर्थ मार्क्सवाद में नियमों के अर्थ से बिल्कुल जुदा हैं। यह सही है कि पहले दूसरे इंटरनैशनल के दौर में और फिर स्तालिनवादी संस्करणों में यह फ़र्क़ तक्ररीबन भुला दिया गया। तब से लगातार कई टीकाकारों और विचारकों ने इन दोनों में घालमेल किया है, जो आज भी जारी है—खासकर सांस्थानिक मार्क्सवाद के हलकों में। मार्क्स जब नियमों की बात करते हैं तो उनका आशय हमेशा रुझानों और प्रवृत्तियों से होता है और वे हमेशा इस बात से बाख़बर रहते हैं कि समाज में हमेशा प्रतिगामी रुझान भी सक्रिय रहते हैं जो इन नियमों को नाकाम कर सकते हैं। यहाँ इस विषय पर और विस्तार में जाना मुमकिन नहीं है, मगर इस फ़र्क़ को ध्यान में रखना ज़रूरी है। यह दीगर बात है कि आज इस पर भी बहस की पूरी गुंजाइश है कि जिस अर्थ में मार्क्स ने नियमों की बात की थी उस रूप में भी क्या उन्हें स्वीकार करना सही होगा ? क्या उन अर्थों में भी नियमों की बात की जा सकती है ? मार्क्सवादियों में इस विषय पर भी कई बहसें हो चुकी हैं। इतालवी मार्क्सवादी एंतोनियो ग्राम्शी ने जब रूसी क्रांति को 'रैवोल्यूशन अगेंस्ट दास कैपिटल' करार दिया था तब भी उनका इशारा इस बात की तरफ़ ही था कि सामाजिक और राजनीतिक जीवन में नियम हमेशा वस्तुपरक या 'फ़ौलादी नियम' नहीं हुआ करते।

बहरहाल, ऐसा लगता है कि किसी मुक़ाम पर खुद मार्क्सवाद पर इस घालमेल का असर पड़ा। वस्तुतः दूसरे इंटरनैशनल के ज़माने से ही मार्क्सवाद भी ऐसे वस्तुपरक

नियमों की बात करने लगा जिनमें इतिहास के बनने-बिगड़ने में इनसानी इरादे और अमल (एक्शन) की भूमिका गौण हो गयी। इनसान का इरादा और अमल दोनों ही इन फ़ौलादी नियमों के बिम्ब मात्र बन कर रह गये। यह समझ 1959 में मार्क्स द्वारा राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान की मशहूर प्रस्तावना में खींचे गये नक्शे की एक निहायत यांत्रिक व्याख्या पर आधारित थी। शायद कुछ हद तक इसके बीज इस प्रस्तावना में ही मौजूद थे, क्योंकि इसमें यह इशारा तो किया ही गया है कि आर्थिक नींव के बदलने के साथ-साथ समाज-चेतना का ऊपरी ढाँचा भी कमोबेश तेजी से बदल जाता है। मार्क्स खुद इस व्याख्या के लिए ज़िम्मेदार थे या नहीं, यह अपने आप में लम्बी बहस का मुद्दा हो सकता है। फ़िलहाल इतना याद कर लेना उचित होगा कि अपने जीवन के अंतिम सालों में एंगेल्स को इस समस्या से लगातार जूझना पड़ा था और एकाधिक बार इसकी सफ़ाई देनी पड़ी थी। एंगेल्स के ही शब्दों में, 'मार्क्स और मैं, दोनों कुछ हद तक इस बात के लिए ज़िम्मेदार हैं कि कई कम उम्र लोग अक्सर आर्थिक पहलू पर ज़रूरत से ज़्यादा जोर देते हैं। हमें अपने मुखालिफ़ लोगों के बरक्स इस पर जोर देना पड़ता था क्योंकि वे इससे इनकार करते थे। बाक़ी पहलुओं की अहमियत पर पर्याप्त ध्यान देने का हमें न तो समय मिला न मौक़ा।' अपने इसी ख़त में एंगेल्स ने यह दावा भी किया था ऐतिहासिक भौतिकवाद की मान्यता है कि आर्थिक कारण इतिहास के अंततः निर्णायक कारक होते हैं और अगर कोई घुमा कर यह कहता है कि वह (आर्थिक कारण) ही एकमात्र निर्णायक कारक है तो वह इस प्रस्थापना को एक बेमानी, अमूर्त फ़िकरे में बदल कर रख देता है।

यहाँ एक और प्रसंग उल्लेखनीय है। यह प्रसंग रूस के किसान कम्यूनों से ताल्लुक रखता है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में रूस में नारोदनया वोल्या या पीपल्स विल (लोक/जन इरादा) नाम से किसानों और कृषि-समाज को आधार बना कर पूँजीवाद का विरोध करने वाला एक ज़बरदस्त आंदोलन हुआ करता था। रूसी समाज में कृषि-कम्यूनों का एक ऐसा ढाँचा था जिसकी बुनियाद सामूहिक रिश्तों में थी, और जो पूँजीवादी समाज की व्यक्ति-केंद्रिकता पूरी तरह अछूता था। जन इरादा के लोगों का मानना था कि रूस में इस कम्यून को और उसकी समूहिकता को आधार बना कर सीधे समाजवाद की तरफ़ बढ़ा जा सकता है— यानी पूँजीवादी चरण को लाँच कर समाजवाद की रचना की जा सकती है। इसी नारोदनया वोल्या से निकल कर मार्क्सवादी बने एक समूह के नेता थे प्लेखानोव, वेरा ज़ासुलिच, आदि। इनका मानना था कि पूँजीवाद इतिहास की एक लाज़मी मंज़िल है और रूस को भी इसी रास्ते में गुज़रते हुए समाजवाद की तरफ़ जाना होगा। इसी बहस के दौरान ही वेरा

ज़ासुलिच ने मार्क्स को एक ख़त लिख कर इस मसले पर उनकी राय माँगी। उस ज़माने में मार्क्स खुद इस विकट समस्या से जूझ रहे थे और खुद रूसी भाषा सीख कर भाषाई स्रोतों के जरिये रूस के कृषि समाज की बारीक़ियों का अध्ययन करने की कोशिश कर रहे थे। ख़त पा कर उन्होंने उसका जवाब देने के इरादे से चार अलग-अलग मसविदे तैयार किये। उनके पसोपेश का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि अंत में वे इनमें से एक भी मसविदा ज़ासुलिच को न भेज पाये। उनकी मृत्यु के बाद एंगेल्स ने आख़िरी मसविदा उन्हें भेजा मगर क्रिस्मत का फेर देखिये कि वह दबा दिया गया। एंगेल्स ने कई बार तगादे किये मगर कोई फ़र्क़ न पड़ा। बोल्शेविकों के पास भी यह सालों तक दबा पड़ा रहा। दिलचस्प बात है कि कई उतार-चढ़ाव के बाद 1923 में निकोलाएव्स्की नाम के एक मेशेविक ने इसे सबसे पहले छपा। इसके बाद बोल्शेविकों को मजबूरी में इसे छापना पड़ा, इस टिप्पणी के साथ कि इन्हें लिखते वक़्त मार्क्स की बौद्धिक क्षमताओं का क्षय हो रहा था।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज़्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फ़ूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. हेलमुट प्र्लेशेर (1973), *मार्क्सिज़म ऐंड हिस्ट्री*, एलन लेन, लंदन.
2. जेरल्ड कोहेन (2000), *कार्ल मार्क्सिज़ थियोरी ऑफ़ हिस्ट्री - अ डिफेंस*, 2000, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.
3. एत्येन बालिबार (1995), *द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ मार्क्स*, वर्सो, लंदन व न्यूयॉर्क.
4. कैरी नेल्सन व लॉरेंस गोसबर्ग (1988), *मार्क्सिज़म ऐंड द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ कल्चर*, युनिवर्सिटी ऑफ़ इलिनॉय प्रेस, इलिनॉय.
5. लुई अलथुसे, *फॉर मार्क्स*, 2005, वर्सो, लंदन.

मार्क्सवाद-2

रीडिफ़िकेशन बनाम ज्ञानमीमांसात्मक विच्छेद

(Marxism-2)

एंगेल्स की चेतावनी के बावजूद मार्क्सवाद में फ़ौलादी आर्थिक नियम तलाशने का सिलसिला जारी रहा। बेरा ज़ासुलिच वाला यह प्रकरण इसी बात को रेखांकित करता है। लेनिन के जीवनकाल में शायद एक समय ऐसा है जो आंशिक रूप से अपवाद माना जा सकता है, मगर उसके बाद तीसरे इंटरनैशनल में भी उसका यही हथ्र हुआ। यहाँ आंशिक रूप से इस तथ्य पर जोर देना ज़रूरी है क्योंकि खुद लेनिन की रहुनुमाई में ही, उनके ग्रंथ *डिवेलपमेंट ऑफ़ कैपिटलिज़्म इन रशिया* में इस धारणा को और रूढ़ किया गया था कि रूस को भी पूँजीवाद के रास्ते ही समाजवाद की ओर जाना होगा। लेनिन को बेशक 1917 में इंकलाब एक अपेक्षाकृत पिछड़े देश में करना पड़ा हो, मगर गयी सदी के आखिरी बरसों में उनकी दीक्षा भी उसी पाज़िटिविस्ट मार्क्सवाद में हुई थी जिसके खिलाफ़ उन्हें इंकलाब करना पड़ा। लेनिन की यह ख़ूबी ज़रूर थी कि वे नये तज़रुबों के आधार पर अपने मार्क्सवाद को लगातार संशोधित करते रहते थे। ऐसा साहस उनके बोल्शेविक अनुयायियों में देखने को नहीं मिलता है।

बहरहाल, मार्क्स कोई बने बनाये, पके-पकाये, साठ साल की उम्र के एक विचारक के रूप में तो अवतरित नहीं हुए थे। उनके बौद्धिक विकास की भी एक अलग कहानी है। उससे भला कैसे पीछा छूटता? लिहाज़ा, 1932 में डी. रियाज़ानोव नामक एक मशहूर रूसी आलिम ने सन् 1844 की एक पुरानी पांडुलिपि खोज निकाली और *पेरिस मैनुस्क्रिप्ट्स* या *इकॉनॉमिक ऐंड फ़िलॉसॉफ़िकल मैनुस्क्रिप्ट्स* नाम से उसे प्रकाशित किया। यह दस्तावेज़ मार्क्स की जवानी में लिखे हुए नायाब आलेखों का संकलन था, जो अधूरे तो थे मगर जिसने मार्क्स और उनके वाद पर नये सिरे से नज़र डालने की प्रक्रिया चालू कर दी। सहूलियत के लिए इसे हम इस लेख में पेरिस पांडुलिपियाँ या सिर्फ़ पांडुलिपियाँ ही कहेंगे। इन पांडुलिपियों में मार्क्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र की अपनी पहली आलोचना रखी है जिनमें उनके मानवतावादी सरोकार पुरजोर ढंग से झलकते हैं। एक मायने में दूसरे और तीसरे इंटरनैशनल के यांत्रिक मार्क्सवाद की तुलना में यह पांडुलिपि इनसानी फ़ितरत (ह्यूमन नेचर) और पूँजीवादी समाज में उसके बेगानेपन (एलिनेशन) पर विस्तार से चर्चा करती है। एक मायने में, इन पांडुलिपियों का छपना मार्क्सवाद के इतिहास में एक विरल घटना थी।

इस घटना के बाद शुरू होता है मार्क्सवाद के विकास का एक नया दौर जिसके तहत एक नयी धारा पनपी जो पुरानी के समानांतर चलने लगी। हंगरी के ग्योर्ग लूकाच के बाद से यह धारा और ज़्यादा प्रबल होती चली गयी। यह एक ज़बरदस्त इत्फ़ाक़ ही था कि इन पांडुलिपियों के आविष्कार से कोई एक दशक से भी ज़्यादा पहले, लूकाच ने अपनी किताब *हिस्ट्री ऐंड क्लास क्रांशसनेस* में स्वतंत्र रूप से, 'रीडिफ़िकेशन' के नाम से उन्हीं तमाम सरोकारों की टोह ली थी जिन्हें मार्क्स ने बेगानेपन का नाम दिया था। बहुत कुछ मार्क्स की ही तरह लूकाच ने भी इस अजनबियत की जड़ें पूँजीवाद के उस दोहरे किरदार में ढूँढी थीं जिसके कारण एक तरफ़ वह हर शै का 'कर्मोडिफ़िकेशन' कर देता है, तो दूसरी तरफ़, पैदावार की प्रणाली का मशीनीकरण और विखण्डन (फ़ैग्मेंटेशन) करके इनसानी शख्सियत को भी खुद से बेगाना (सेल्फ़-एस्ट्रेंजमेंट) बना देता है। मार्क्सवाद के इस संस्करण में उसके मानवतावादी सरोकारों को केंद्र में रखा गया और सांस्थानिक मार्क्सवाद की यांत्रिक समझ के खिलाफ़ इसे एक कारगर हथियार के रूप में खड़ा किया गया। किन्हीं ख़ास कारणों से यह धारा संगठित कम्युनिस्ट आंदोलन में कोई असरदार हाज़िरी दर्ज नहीं करा पायी लेकिन वैचारिक स्तर पर एक ज़माने में इसकी एक जोरदार भूमिका रही है। उस ज़माने के, ख़ासकर स्तालिन व स्तालिनोत्तर युग के अंधकारमय दौर में, समाजवादी मानवतावाद या सोशलिस्ट ह्यूमनिज़्म ने मार्क्सवाद की शमाँ जलाये रखी। लेकिन इस मानवतावाद की भी अपनी सीमाएँ थी जो जल्द ही सामने आनी थीं।

मार्क्स की विरासत पर इस बहस को एक नये मुक़ाम पर पहुँचाया फ़्रांस के प्रख्यात दार्शनिक लुई अलथुसे ने। उन्होंने जवान मार्क्स बनाम बुज़ुर्ग मार्क्स की दो अलग-अलग विरासतों को चर्चा को केंद्र बनाया। अलथुसे के अनुसार जो जवान मार्क्स पांडुलिपियों के माध्यम से उजागर होते हैं वे प्राक्-मार्क्सवादी मार्क्स हैं जो उस वक़्त अपनी हीगेलीय व फ़ायरबाख़ीय विरासत से जूझ रहे हैं। जिनके सरोकार तो बुज़ुर्ग मार्क्स जैसे ही हैं, मगर जिनकी भाषा, शब्दावली और सैद्धांतिक ढाँचा 'वैज्ञानिक' नहीं है। उन्होंने इस ओर ध्यान दिलाया कि 1845-46 के दौरान ही पहली बार मार्क्स वह 'वैज्ञानिक अवधारणाएँ' और पद पेश करते हैं जो आगे चलकर मार्क्सवाद की बुनियादी अवधारणाएँ बनकर सामने आती हैं : उत्पादन प्रणाली, उत्पादन संबंध, उत्पादक शक्तियाँ वगैरह। 1844 के मार्क्स का नज़रिया फ़ायरबाख़-परस्त नज़रिया है— ऐसा अलथुसे का तर्क था। इसके आधार पर उन्होंने राय दी कि 1845-46 में मार्क्स अपनी ज्ञानमीमांसा के एक पूर्णतः नये चरण में दाख़िल होते हैं। उन्होंने इसे 'ज्ञानमीमांसात्मक विच्छेद' (एपिस्टेमोलॉजिकल ब्रेक) की

संज्ञा दी। यहाँ इस पद के आशय को समझना ज़रूरी है।

यहाँ विच्छेद के मानी हैं कि बेशक इससे पहले और इसके बाद मार्क्स के सरोकार वही रहे हों, पर दुनिया को (और उन सरोकारों को) देखने-समझने का उनका तरीका बुनियादी तौर पर बदल गया था। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो बकौल अलथुसे इस विच्छेद से पहले मार्क्स का नज़रिया अवैज्ञानिक व 'आइडियोलॉजिकल' था। विच्छेद के बाद उन्होंने एक नये विज्ञान की बुनियाद रखी। अलथुसे की राय में 'विज्ञान' और 'आइडियोलॉजी' दुनिया को देखने के दो परस्पर विरोधी अंदाज़ हैं। 'आइडियोलॉजी' का अर्थ यहाँ हिंदी में उसके प्रचलित अर्थ यानी 'विचारधारा' से बिल्कुल जुदा है। मार्क्सवाद की ही कुछ व्याख्याओं में इसे, बतर्ज एंगेल्स, मोटे तौर पर 'भ्रांत चेतना' के रूप में समझा गया है। आम तौर पर समाज-विज्ञान में भी इससे मिलते जुलते अर्थों में इस पद का इस्तेमाल होता आया है। अलथुसे की रचनाओं में 'आइडियोलॉजी' के मायने इससे भी कुछ अलग हैं: 'आइडियोलॉजी' न तो भ्रांत चेतना है और न ही उसकी पहचान 'सच' और 'झूठ' के आधार पर हो सकती है। 'आइडियोलॉजी' तो अर्थों का पूरा तंत्र है, जो यथार्थ के साथ एक ख्याली रिश्ता क्रायम करता व रखता है। इससे वह 'ग़लत', 'असत्य' या 'झूठ' नहीं हो जाता बल्कि व्यक्ति को एक सब्जेक्ट के रूप में गढ़ता है। लिहाज़ा उसका ताल्लुक दुनिया के उस अक्स या नक्श / नक्शे (रिप्रेजेंटेशन) से है जो सब्जेक्ट और उसकी दुनिया के रिश्ते को परिभाषित करता है। आइडियोलॉजी के ज़रिये ही रोज़मर्रा ज़िंदगी का अमल मुमकिन हो पाता है। इस मायने में उसका काम ज्ञान से नहीं, अमल (प्रैक्टिस) से ताल्लुक रखता है। लिहाज़ा इस अर्थ में आइडियोलॉजी व आइडियोलॉजिकल के लिए ख्याल / ख्यालबंद / ख्यालबंदी पद बेहतर मालूम पड़ते हैं। अपने इस तर्क में अलथुसे पांडुलिपियों के 'मार्क्सवाद' को एक (अवैज्ञानिक) ख्याल मानते हैं और दावा करते हैं कि वास्तव में मार्क्सवाद को एक अ-मानवतावादी दर्शन है। यहाँ अ-मानवतावाद मार्क्सवाद के सरोकारों के संबंध में नहीं, बल्कि उसके ज्ञान-दर्शन के संबंध में इस्तेमाल किया गया है : तर्क यह है कि मार्क्सवाद के लिए मानव-समाज के विश्लेषण की इकाई मानव नहीं, उत्पादन प्रणाली और उत्पादन के रिश्ते हैं।

मार्क्सवाद की विरासत पर बहस आज भी जारी है। एक दूसरे ही छोर पर ऐसे ग़ैर-मार्क्सवादी चिंतक/विचारक भी हैं जिनका यह मानना है कि मार्क्स के बाद दुनिया की हर विचारधारा, हर फ़लसफ़ा, उसकी विरासत की कर्जदार है। मिसाल के तौर पर फ़्रांस के उत्तर-आधुनिक वि-संरचनावाद के प्रणेता देरिदा का यह स्पष्ट मत है कि खुद वि-संरचनावाद मार्क्सवाद से पहले के ज़माने में नामुमकिन था। अगर ऊपर

के जवान मार्क्स बनाम बुजुर्ग मार्क्स वाली बहस को बारीकी से देखें तो इसमें एक तीसरी धारा मिलती है। साथ ही ऐसी भी राय मौजूद है जो यह मानती है कि, हालाँकि अलथुसे कई महत्वपूर्ण बातों की ओर ध्यान दिलाते हैं, फिर भी मार्क्स की खोज में एक निरंतरता है जिसे ब्रेक या विच्छेद की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। ऐसा मानने वालों में बहुतायत ऐसे विचारकों की है जो यह मानते हैं कि वैज्ञानिक मार्क्स की चिंताओं का केंद्र भी इनसान ही है।

मार्क्सवाद का ज्ञान-दर्शन : मार्क्सवाद और उसके मौजूदा संकट को समझने से पहले यह भी जान लेना ज़रूरी है कि इसे कैसे समझा जाए? मार्क्स के लिए बुनियादी सवाल यह था कि ज्ञानार्जन का क्रायदा (मैथड) क्या हो?

इस सिलसिले में आमतौर पर दो प्रचलित धाराएँ हैं जो मार्क्सवाद के किसी एक पहलू को ज़्यादा अहमियत देकर वस्तुतः उसकी द्वंद्वत्मक दृष्टि गँवा बैठती हैं। एक मान्यता यह है कि मार्क्स अपने ज्ञान-दर्शन में अमल या प्रैक्टिस को तरजीह देते हैं, इसलिए हर थियरी का सच ज़मीनी या ठोस वास्तविकताओं के धरातल पर ही परखा जा सकता है। यही ज्ञानार्जन की प्रक्रिया का शुरुआती बिंदु है और अंततः यहीं हर ज्ञान को लौटना होता है। दूसरी मान्यता गुंड्रिसे में मिलने वाले मार्क्स के इस कथन पर आधारित है कि एकमात्र सही वैज्ञानिक क्रायदा वही है जो अमूर्त (ऐब्स्ट्रैक्ट) से मूर्त (कांक्रिट) की ओर बढ़ता है। इस मत के अनुसार किसी वैज्ञानिक अनुसंधान की शर्त यह है कि वैज्ञानिक के पास कोई सैद्धांतिक ढाँचा या थ्योरी हो— बिना उसके वास्तविक दुनिया में तथ्यों की अराजकता में डूब के रह जाने के सिवाय कुछ नहीं हो सकता।

इस मुकाम पर यह कहना ज़रूरी है कि मार्क्स के लिए दोनों ही बातें सही हैं और ज्ञानार्जन की एक ही प्रक्रिया के ये दो पहलू हैं। मूर्त से या ठोस से ज्ञान की शुरुआत होती है जो अमूर्त या ऐब्स्ट्रैक्शन तक जाती है— यानी इनसान अपनी इंद्रियों से जो महसूस करता है उसका जब वह अपने मौजूदा ज्ञान से मिलान करने की प्रक्रिया में अपनी अवधारणाएँ (कॉन्सेप्ट) या थियरी बनाता है। मार्क्स का मानना है कि इन अवधारणाओं और सिद्धांतों से लैस हो कर मनुष्य (वैज्ञानिक) मूर्त या ठोस वास्तविकता की ज़मीन पर लौटता है, मगर इस बार वह उसे और गहराई से समझ सकता है। यह ज्ञानार्जन का दूसरा चरण है जो उसके पहले चरण (अहसास) से ज़्यादा पुख्ता है। इस तरह हर बार अमूर्त या ऐब्स्ट्रैक्ट पर लौटते हुए वह अपने अवधारणागत (कॉन्सेप्चुअल) औज़ारों को और पैना करता है और फिर उन्हीं औज़ारों के साथ हकीकत की ज़मीन पर लौटता है। हर एक चरण से दूसरे चरण के दरमियान बौद्धिक कर्म की एक प्रक्रिया है जो हमारे ज्ञान को और सुदृढ़ बनाती है। लिहाज़ा,

अमल को तरज़ीह देने के बावजूद मार्क्स के लिए बौद्धिक कर्म के बिना कोई वैज्ञानिक ज्ञान पैदा नहीं हो सकता है। इसीलिए मार्क्स मानते थे कि किसी भी सिद्धांत या थियरी की आखिरी परख सिर्फ़ अनुभव या तजरुबे के धरातल पर नहीं हो सकती। दोनों धरातलों पर ही किसी थियरी की परख मुक़म्मल हो सकती है।

मार्क्सवाद के ज्ञान-दर्शन से संबंधित यह चर्चा इसलिए ज़रूरी थी, क्योंकि पिछले सालों में समाजवाद के ढह जाने के बाद बड़े जोर-शोर से मार्क्सवाद के अंत की भी बात कही जा रही है। ग़ैर-मार्क्सवादी तो ऐसा कह ही रहे हैं, कई पूर्व-मार्क्सवादी भी यह मानने लगे हैं। लेकिन मार्क्सवाद का ही तकाज़ा है कि समाजवाद के ढह जाने के तजरुबों / तथ्यों को लेकर एक बार फिर अपने सैद्धांतिक ढाँचे की ओर लौटा जाए और उसमें मौजूद अवधारणागत औज़ारों को पुनः टटोलते हुए उनकी निर्मम जाँच की जाए।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज़र्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बारिख़न, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. हेलमुट फ्लेशेर (1973), *मार्क्सिज़म ऐंड हिस्ट्री*, एलन लेन, लंदन.
2. जेरल्ड कोहेन (2000), *कार्ल मार्क्सिज़ थियोरी ऑफ़ हिस्ट्री - अ डिफ़ेंस*, 2000, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.
3. एत्येन बालिबार (1995), *द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ मार्क्स*, वर्सो, लंदन व न्यूयॉर्क.
4. कैरी नेल्सन व लॉरेंस गोसबर्ग (1988), *मार्क्सिज़म ऐंड द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ कल्चर*, युनिवर्सिटी ऑफ़ इलिनॉय प्रेस, इलिनॉय.
5. लुई अलथुसे, *फॉर मार्क्स*, 2005, वर्सो, लंदन.

—आदित्य निगम

मार्क्सवाद-3

ऐतिहासिक भौतिकवाद : नियम से होनी तक का सफ़र

(Marxism-3)

समाजवादी प्रयोग की ऐतिहासिक पराजय ने बड़े पुरजोर ढंग से यह सवाल हमारे सामने पेश किया है कि इतिहास क्या वाकई एक नियमबद्ध प्रक्रिया है? इसी से जुड़ा, मगर एक दर्जा नीचे का सवाल यह है कि क्या मार्क्सवाद ने इतिहास की नियम-रूपी कुंजियों को ढूँढ निकालने का जो दावा किया था, क्या वह सही था? ये सवाल आज इसलिए उठ रहे हैं, क्योंकि मार्क्सवाद की प्रचलित व्याख्याओं में इतिहास एक सीधी लकीर पर अग्रसर होने वाली प्रक्रिया थी जिसके कुछ निश्चित चरण थे। ऐसा मान लिया गया था कि मानव इतिहास कुछ इस प्रकार विकसित हुआ है : आदिम साम्यवाद, दास-समाज, सामंतवाद, पूँजीवाद, समाजवाद (जो साम्यवाद का निचला चरण है), साम्यवाद (जो समाज की अंतिम मंज़िल है)। इतिहास के इस खाके को सार्विक मान लिया गया था और हर समाज में ऐसे चरण खोज निकालने की कोशिश होने लगी थी। बहरहाल, इतने सपाट रूप में इतिहास का चित्रण बहुत दिन तो नहीं चल पाया और बहुत जल्दी ही यह पता चल गया कि अतिविकसित पूँजीवाद के साथ एक ही समय में आदिम साम्यवाद कहे जाने वाले समाज भी मौजूद हैं। लिहाज़ा पिछले कई दशकों में ऐसा मानने वाले मार्क्सवादियों की संख्या लुप्त होती चली गयी। मगर यह भी सही है कि इस समझ के पीछे काम कर रही मान्यताएँ और नज़रिया वही रहा— इतिहास के कुछ फ़ौलादी नियम हैं जो उसे निरंतर एक तयशुदा मंज़िल की ओर धकेले लिए जा रहे हैं और यह मंज़िल साम्यवाद है जिसके वाहक सर्वहारा वर्ग और कम्युनिस्ट पार्टी है।

अपने संशोधित संकलन में यह थियरी खास ऐतिहासिक चरणों की बात तो करती थी, मगर इतना भर उसने कहना छोड़ दिया था कि इतिहास काल की रेखा पर इसी तरह अग्रसर होता आया है। जाहिर है, इसमें कुछ और परेशानियाँ भी थीं— मार्क्स का खुद का एशियाई समाजों पर लेखन इस समझ को खारिज कर देता है; क्योंकि उनके अनुसार एशियाई समाजों में सामंतवाद था ही नहीं। यहाँ सम्पत्ति का मालिक राज्य ही था। इसे मार्क्स ने एशियाई उत्पादन प्रणाली (एशियाटिक मोड ऑफ़ प्रोडक्शन) और ओरिएंटल डिस्पॉटिज़म, आदि कहा था। क्या मार्क्स ऐसा मानते थे? अगर हाँ, तो उनके लिए ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या देना सम्भव नहीं होता।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की इस व्याख्या का दूसरा पहलू था कि उसने उत्तरोत्तर फ़ौलादी नियमों की जकड़ के चलते, और इस विश्वास के चलते कि उसने इन नियमों को खोज निकाला है, ऐसी होनियों में यत्नीन करना शुरू कर दिया था जिनका शुरू में इशारा किया गया है। नियम से होनी तक का सफ़र काफ़ी सीधा और सरल था— अगर यह मान लिया जाए कि इतिहास ऐसे फ़ौलादी नियमों के जरिये आगे बढ़ता है तो यह नतीजा निकलता है कि जो कुछ भी इतिहास में घटता है वह उन नियमों का ही फल है। लिहाजा इतिहास में वही होता है जो होना होता है।

मगर ये नियम क्या थे, और कहाँ से आये? मूलतः ये नियम इस प्रकार हैं : पहला, अपनी ज़िंदगी जीने के लिए इनसान लगातार उत्पादन करता है। दूसरा, इस प्रक्रिया में वह अपने उत्पादन के औज़ार बेहतर करता चला जाता है। इनका निरंतर विकास एक अमोघ नियम है। तीसरा, उत्पादन के ये औज़ार (या उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ) ही समाज में खास तरह के पैदावार के रिश्ते बनाती हैं। मिसाल के तौर पर अगर ये औज़ार निचले दर्जे के हैं तो ज़्यादा श्रम और अक्सर सामूहिक श्रम ज़रूरी हो सकता है। जैसे-जैसे ये विकसित होते हैं वैसे-वैसे कम श्रम में ज़्यादा उत्पादन हो सकता है, अतिरिक्त उत्पादन सम्भव हो जाता है और तभी ज़रूरत से ज़्यादा इस अतिरिक्त को हड़पने की कोशिश भी होती है। चौथा, पैदावार के रिश्ते जब तक उत्पादन की शक्तियों के विकास में सहायक होते हैं तभी तक एक खास तरह की समाज व्यवस्था कायम रह पाती है। एक समय आता है जब इनमें टकराव शुरू हो जाता है और तब सामाजिक क्रांति का दौर शुरू होता है, सामाजिक उत्पादन के नये रिश्ते गढ़ने का संघर्ष। पाँचवाँ, अर्थव्यवस्था के भीतर हो रहा यह संघर्ष चिरंतन है— वर्ग संघर्ष है और यह तब तक चलेगा जब तक समाज में ऐसे उत्पादन के रिश्ते कायम नहीं हो जाते जिनमें उत्पादन शक्तियों का बेलगाम विकास हो सके।

इस नज़रिये से देखें तो नतीजा निकलता है कि राजनीतिक जगत और चेतना जगत में जो कुछ होता है वह एक मायने में निमित्त मात्र (एपिफ़िनामिना) है। इसकी असलियत आर्थिक नींव में है। राजनीति और चेतना जगत तो इसके बिम्ब मात्र है। शुरू में ही ज़िक्र किया जा चुका है कि बकौल एंगेल्स, वे और मार्क्स ही काफ़ी हद तक इसके लिए ज़िम्मेदार थे। यह सही है कि मार्क्स या एंगेल्स ने इस विषय में विभिन्न कारणों से साफ़गोई नहीं बरती। मिसाल के तौर पर वह विवादास्पद 1959 की प्रस्तावना को ही लें, तो उसमें ही मार्क्स आगे कहते हैं कि जहाँ आर्थिक जगत में बदलाव बहुत तेज़ी से आ जाते हैं वहीं राजनैतिक जगत में इनसान सचेत न होने के कारण लड़ता रहता है।

बहरहाल, ऐतिहासिक भौतिकवाद की इस व्याख्या का एक नतीजा यह हुआ कि आर्थिक नींव इस सैद्धांतिक ढाँचे में अंततः राजनीति-शून्य अर्थव्यवस्था बन कर रह गयी। इतिहास की इस व्याख्या में उत्पादनवाद ही हावी हो गया। इसी के प्रभाव के कारण समाजवादी देश आत्मसंतोष किये बैठे थे कि इतिहास में उत्पादन ही असली सच है और बाकी सब माया है। वे यह भूल गये थे कि मनुष्य एक सचेतन राजनीतिक जीव है जिसकी अन्य आकांक्षाएँ भी होती हैं, और जिनका पूरा होना आवश्यक होता है। जबकि असलियत यह थी कि खुद मार्क्स के लिए अर्थव्यवस्था खुद एक राजनीतिक शै थी और पूँजी के पहले खण्ड में उन्होंने पूँजीवादी श्रम प्रक्रिया के तमाम राजनीतिक आयामों को खोलकर सामने रखा था।

मशहूर इतालवी दार्शनिक लूचियो कोलेटी ने इसी विषय पर रोशनी डालते हुए कहा है— ‘ऐसा नहीं था कि मार्क्स ने विशुद्ध आर्थिक विश्लेषण से शुरुआत की हो और फिर उसमें ऐतिहासिक और राजनीतिक तत्त्वों के तथ्य भर दिये हों। उन्होंने दो अलग पैमानों को लेकर अपना काम नहीं किया, बल्कि शुरुआत से ही ऐसी अवधारणाओं का इस्तेमाल किया जो अपने अंदरूनी, बुनियादी ढाँचे में, एकबारगी उत्पादन के कारण भी थे और सामाजिक-ऐतिहासिक कारिंदे भी। उनकी अवधारणाएँ आर्थिक और ऐतिहासिक दोनों थीं और हैं।’ कोलेटी अपने समर्थन में प्रख्यात अर्थशास्त्री जोसेफ़ शुमपीटर के निम्नलिखित बयान को उद्धृत करते हैं : ‘हमने देखा किस तरह मार्क्सवादी तर्क में समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र एक दूसरे में गुँथे हुए हैं। अपनी नीयत में और कुछ हद तक असल व्यवहार में दोनों एक हैं... श्रम की आर्थिक अवधारणा और सामाजिक वर्ग के रूप में सर्वहारा आपस में सिद्धांततः एक बना दिये गये हैं।’ फ़्रांस के संरचनावादी मार्क्सवादी निकोस पूलांत्साज़ भी इसी विषय पर तफ़सील से चर्चा करते हुए कहते हैं— ‘यह ज़रूरी है कि हम खुद को उस औपचारिकतावादी-अर्थवादी नज़रिये से दूर रखें, जिसके मुताबिक अर्थव्यवस्था ऐसे तत्त्वों से मिलकर बनती है जो तमाम उत्पादन प्रणालियों में अपरिवर्तित ही रहते हैं... ऐसे नज़रिये में उन संघर्षों की भूमिका धूमिल हो जाती है जो उत्पादन और शोषण के रिश्तों के भीतर समाये होते हैं।’ वे आगे कहते हैं कि राज्य का राजनीतिक (और विचारधारा का) दायरा हमेशा अलग-अलग रूपों में पैदावार के रिश्तों के बनने-बिगड़ने और पुनरुत्पादन में शरीक रहता है।

आज इस विषय पर मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों में ज़्यादातर सहमति ही है कि इस तरह का अर्थवाद या उत्पादनवाद मार्क्स और एंगेल्स के नज़रिये से जुदा है। यह भी कुछ हद तक स्वीकार किया जाने लगा है कि यह विकार मार्क्सवाद में दूसरे इंटरनैशनल के जमाने से आया। ब्रिटेन के

मार्क्सवादी विद्वान स्टुअर्ट हॉल के शब्दों में, 'इस समस्या (नींव और ऊपरी ढाँचे की समस्या) का स्पष्टीकरण देना एंगेल्स का सबसे ज़रूरी काम होता जा रहा था— खासतौर पर इसलिए, क्योंकि बड़ी तेज़ी से मार्क्सवाद पॉज़िटिव साइंस के दायरे में सिमटता चला जा रहा था जो उसे आर्थिक डिटरमिनिज़म भर बना कर रख दे रहा था जिसके तहत ऊपरी ढाँचा महज़ नींव की एक धुँधली और यांत्रिक छाया मात्र था। यह एक ऐसा रुझान था जो अंततः दूसरे अंतर्राष्ट्रीय के सरकारी संकलन के रूप में प्रतिष्ठित होना था।'

मार्क्स-एंगेल्स के लेखन और बौद्धिक-दार्शनिक विकास के तीन चरण काफ़ी साफ़ दिखाई देते हैं। इन तीनों चरणों में मार्क्स की इतिहास की अवधारणा में भी कुछ बदलाव आया। अक्सर ऐतिहासिक भौतिकवाद पर बहस इन्हीं तीनों में से किसी एक नज़रिये को अंतिम सत्य मान कर की जाती है। विरासत को लेकर खींचतान में यह एक कारक रहा है। साथ ही शायद एक बात और कह देना मुनासिब होगा : इन दार्शनिक बहसों के पीछे कुछ राजनीतिक कारण और मजबूरियाँ भी रही हैं। मसलन 1844 की पेरिस पांडुलिपियाँ मार्क्स के मानवतावाद को उजागर करने में सहायक हैं तो वे मार्क्स ही के नाम पर दूसरे और तीसरे इंटरनैशनल के यांत्रिक और अ-मानवतावादी (जो ग़ैर-लोकतांत्रिक भी है) मार्क्सवाद को चुनौती देने में भी मददगार हैं। हेलमुट प्लेशर इन तीन नज़रियों को इस तरह रखते हैं :

1. इतिहास की वह समझ जिसमें इतिहास के मायने सार्वभौम हैं। इस धारणा के मुताबिक़ इतिहास मानवीकरण की प्रक्रिया है। युवक मार्क्स के लिए यह प्रक्रिया एक आदर्श अर्थ में समझी गयी जबकि बाद के मार्क्स-एंगेल्स के लिए यह प्रक्रिया एक प्राकृतिक प्रक्रिया के रूप में नज़र आती है, जिसमें इतिहास एक मायने में वानर के मानवीकरण की प्रक्रिया है— एक नयी प्रजाति के जन्म की प्रक्रिया है।

2. दूसरी धारणा मानव समाज के ठोस आचरण पर आधारित है जिसमें इतिहास को इनसानी अमल के नतीजे के रूप में देखा गया है। यह नतीजा हमेशा वही नहीं होता जैसा इतिहास के कारिंदे चाहते हैं, बल्कि अक्सर उससे बिल्कुल अलग होता है।

3. तीसरी धारणा वस्तुपरक ऐतिहासिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं पर आधारित है। यहाँ इतिहास एक ऐसी प्रक्रिया है जो ख़ास नियमों के मुताबिक़ घटती है। प्लेशर के मुताबिक़ मार्क्स के लिए समाजवाद और साम्यवाद का विचार एक तरह से इनसानी समाज के उद्धार को सर्वहारा के उद्धार से जोड़ने का विचार था जिसके माध्यम से इनसान उन हालात को और बेहतर ढंग से समझ सकता है जिनके चलते वह एक गुलाम, लावारिस, नीच और हिकारत के क्राबिल चीज़ बन कर रह गया है। 1844 की पेरिस पांडुलिपियों में मार्क्स ने इनसान के लिए

और उसके वजूद के तरीकों के लिए इतिहास के क्या मायने हो सकते हैं— इसका एक महत्वपूर्ण जवाब दिया। इतिहास इनसान के लिए एक ऐसे आदर्श का चरितार्थ होना था जो उसके लिए लाज़मी था— उसकी मुक़म्मल मानवता का, उसकी फ़ितरत की तमाम छिपी सम्भावनाओं का विकास।

मगर प्लेशर आगे कहते हैं कि इतिहास में आत्म-प्राप्ति (सेल्फ़-रियलाइज़ेशन) की प्रवृत्ति का यह ख़याल ज़्यादा दिन नहीं चला और साल भर बाद ही मार्क्स ने इसकी काफ़ी तीखी आलोचना की— एक बिल्कुल ही अलग सैद्धांतिक ढाँचे से। उनके अनुसार यह नज़रिया 1959 की प्रस्तावना में भी सामने आया। जब उन्होंने अब तक के मानव समाज के इतिहास को प्राक्-इतिहास बताया।

मार्क्सवादियों में एक हिस्से की राय यह भी है कि दरअसल मार्क्स ने कोई इतिहास-दर्शन दिया ही नहीं। वे जिन नियमों की बात कर रहे थे वह तो पूँजीवादी समाज के विकास के नियम थे। लेकिन मार्क्स-एंगेल्स के लेखन से ऐसा लगता नहीं कि वे जब इतिहास की बात करते हैं जो सिर्फ़ पूँजीवाद की बात कर रहे होते हैं। 1844 के दस्तावेज़ों में जहाँ मार्क्स का मानवतावाद झलकता है वहीं उनमें, जैसा अलथुसे ने दिखाया है, मार्क्स के बौद्धिक विकास का मार्क्सवाद-पूर्व नज़रिया भी झलकता है। इस मायने में 1845-46 मार्क्स के बौद्धिक व दार्शनिक विकास में सचमुच एक विच्छेद है और इस समय की उनकी (व एंगेल्स की) दो बहुत महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। वे दोनों ही रचनाएँ मार्क्स के अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक विवेक से हिसाब चुकता करने के दस्तावेज़ हैं। इनसे पहले मार्क्स पर लुडविग फ़ायरबाख़ के भौतिकवाद का बहुत असर था। इन दोनों ही रचनाओं में मार्क्स ने अपनी बौद्धिक विरासत के उस हिस्से को अलविदा किया। इन्हीं रचनाओं *थीसिस ऑन फ़ायरबाख़ व जर्मन आइडियॉलॉजी* की चर्चा पहले की जा चुकी है।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख़ मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज़्वा, फ़्रेड्रिख़ एंगेल्स, फ़्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ़्रांस्वा-चार्ल्स मारी फ़ूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ़्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. हेलमुट फ्लेशेर (1973), *मार्क्सिज़्म एंड हिस्ट्री*, एलन लेन, लंदन.
2. जेरल्ड कोहेन (2000), *कार्ल मार्क्सिज़्म थियरी ऑफ हिस्ट्री - अ डिफेंस*, 2000, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.
3. एत्येन बालिबार (1995), *द फ़िलॉसॉफी ऑफ़ मार्क्स*, वर्सो, लंदन व न्यूयॉर्क.
4. कैरी नेल्सन व लॉरेंस गोसबर्ग (1988), *मार्क्सिज़्म एंड द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ कल्चर*, युनिवर्सिटी ऑफ़ इलिनॉय प्रेस, इलिनॉय.
5. लुई अलथुसे, *फॉर मार्क्स*, 2005, वर्सो, लंदन.

—आदित्य निगम

मार्क्सवाद-4

नींव और ऊपरी ढाँचे का सवाल

(Marxism-4)

मार्क्स के दार्शनिक विकास में इस विच्छेद के बारे में फ़्लेशेर का कहना है : 'पहले मार्क्स इतिहास के कर्तव्यों के बारे में और इतिहास की सेवा में दर्शन के बारे में बात किया करते थे, मगर अब वे पुरजोर ढंग से इतिहास के दैवीकरण के हर विचार को नकारते हैं। इतिहास कुछ नहीं करता, उसके पास कोई ज़बरदस्त ख़ज़ाना नहीं है, वह कोई लड़ाइयाँ नहीं लड़ता। बल्कि वह इनसान है, असली जीता-जागता इनसान जो ये सब करता है, ... इतिहास नाम की ऐसी कोई चीज़ नहीं है जो इनसान को अपने मक़सद के लिए इस्तेमाल करती है— गोया वह कोई स्वतंत्र व्यक्ति हो— क्योंकि इतिहास और कुछ भी नहीं सिवाय इनसान के अमल के जो लगातार अपने मक़सद हासिल करने की कोशिश में है।' इसके बाद से, बकौल फ़्लेशेर, मार्क्स लगातार अपनी आलोचना हर प्रकार के ऐतिहासिक नियतिवाद की ओर केंद्रित करते हैं। अगर इस अर्थ में देखें तो इतिहास में जो कुछ हुआ वह पूर्व-निर्धारित नहीं था, बल्कि किसी भी ख़ास मुक़ाम पर क्या स्थितियाँ थीं, ताक़तों का संतुलन कैसा था, वर्ग-विन्यास कैसा था, आर्थिक ढाँचा कैसा था— इन तमाम के चलते ही इतिहास का घटनाक्रम आगे बढ़ता है। इस नज़रिये से देखें तो इतिहास के नियम सिर्फ़ एक व्यापक दायरे में छिपी सम्भावनाओं को रेखांकित कर सकते हैं। अंततः इतिहास किस दिशा में जाएगा, कौन-सी सम्भावनाएँ फल देंगी और कौन-सी मुरझा जाएँगी— यह सब इस ऐतिहासिक मुक़ाम पर निर्भर करता है और उसमें मौजूद ख़ास परिस्थितियों पर। मिसाल के तौर पर, अगर यह सही है कि उत्पादन की

शक्तियों का निरंतर विकास अंततः उन्हें सामाजिक पैदावार के रिश्तों के साथ टकराव की स्थिति में लाता है, तो अंततः यह टकराव किस दिशा में हल होगा, यह कोई नियम नहीं बता सकता। यह निर्भर करता है उस ऐतिहासिक नियतिवाद को नकारने का ही नतीजा था कि *जर्मन आइडियॉलॉजी* में मार्क्स-एंगेल्स ने साम्यवाद की परिभाषा भी बदल डाली। इस मुक़ाम पर आ कर उनके लिए साम्यवाद कोई आदर्श नहीं रह गया था जिसे हासिल करना है, बल्कि यह उस जिंदा आंदोलन का नाम है जो मौजूदा हालात को ख़त्म करेगा।

यही बात उन्होंने ढाई दशक बाद पेरिस कम्यून पर लिखते हुए दोहराया : 'उनके (मज़दूरों) के पास कोई आदर्श नहीं है जिसे उन्हें हासिल करना है। उन्हें तो नये समाज के उन तत्त्वों को आज़ाद करना है जो पुरानी, डगमगाती बूज़्वा समाज व्यवस्था के गर्भ में मौजूद हैं।'

मार्क्सवादी इतिहास दर्शन की दूसरी पेचीदा समस्या है नींव व ऊपरी ढाँचे की समस्या। यह समस्या क्या है? ठीक जिस प्रकार नियमों का सवाल प्रचलित मार्क्सवाद में एक आस्था का सवाल बन गया था उसी प्रकार 1859 के प्रस्तावना में इस्तेमाल की गयी यह उपमा एक थियरी का दर्जा पा गयी। मार्क्स ने अपने तर्क को पेश करते हुए इस उपमा का सहारा लेते हुए कहा था कि आर्थिक ढाँचा समाज की नींव है और उसके ऊपर खड़ा राजनीतिक-वैधानिक-चेतना जगत गोया इमारत का ऊपरी ढाँचा है। यह भी सही है कि इस प्रस्तावना में मार्क्स ने यह दावा भी किया था कि नींव ही ऊपरी ढाँचे के रूपों को निर्धारित करती है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि इस समस्या का एंगेल्स ने किस तरह बार-बार सामना किया। यह भी हम देख चुके हैं कि एंगेल्स का जवाब यह था कि आर्थिक नींव अंतिम विश्लेषण में ऊपरी ढाँचे को निर्धारित करती है। मगर इससे समस्या का हल नहीं हुआ, क्योंकि इतना कह देने मात्र से कि अन्य कारक भी अपनी भूमिका अदा करते हैं, सवाल का जवाब नहीं बनता। यह सवाल फिर भी रह जाता है कि अगर आर्थिक कारक प्रधान हैं और अंततः निर्धारक हैं, और विचार, चेतना, विधान / क़ानून आदि सब उसी आधार पर पैदा होते हैं तो फिर उनकी सापेक्ष स्वायत्तता (रिलेटिव ऑटोनॉमी) कहाँ से आती है? दरअसल नींव-ऊपरी ढाँचे की समस्या प्रकारांतर से दर्शन की उसी पुरानी समस्या का पुनराविर्भाव था कि चेतना पहले आती है या पदार्थ पहले? यहाँ भी एक हद तक वही यांत्रिकीकरण की प्रक्रिया देखी जा सकती है जो पहले हम नियमों के संबंध में देख चुके हैं। फ़ायरबाख़ के यांत्रिक भौतिकवाद से अपना हिसाब चुकता करते समय मार्क्स ने अपनी रचना *थीसिस ऑन फ़ायरबाख़* की पहली ही थीसिस में लिखा था : 'अब तक के तमाम पुराने भौतिकवाद की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह थी कि वस्तु

(ऑब्जेक्ट), यथार्थ (एक्चुएलिटी) या भौतिक (सेंसुअसनेस) को वे महज वस्तु या अहसास के रूप में देखते हैं, महसूस करने वाले इनसानी अमल (प्रेक्सिस) के रूप में नहीं, न ही उसे वे मनोगत/चेतानगत रूप में देखते हैं। लिहाजा, भौतिकवाद के विरोध में, इस सक्रिय पहलू को सिर्फ भाववाद ने ही विकसित किया— मगर अमूर्त रूप में... फायरबाख भौतिक (सेंसुअस) वस्तुओं को बौद्धिक वस्तुओं (थॉट ऑब्जेक्ट्स) से अलग तो करना चाहते हैं, मगर वे इनसानी अमल को वस्तुगत (या भौतिक) के रूप में नहीं देख पाते...।'

अपने इसी विचार को मार्क्स *प्रस्तावना* में कई साल बाद यह कह कर दोहराते हैं, कि इनसान की चेतना उसके वजूद को निर्धारित नहीं करती, बल्कि, इसके विपरीत उसका सामाजिक वजूद उसकी चेतना को निर्धारित करता है। अर्थात्, चेतना निर्जीव भौतिक पदार्थ से नहीं, बल्कि सामाजिक वजूद से पैदा होती है— यह मार्क्स का निष्कर्ष था जो कालांतर में भुला दिया गया। याद रहे कि मार्क्स के नज़रिये में सामाजिक वजूद सक्रिय, सचेतन, अमल (प्रेक्सिस) के सिवा कुछ भी नहीं है। यहाँ थोड़ा रुक कर एक बात साफ़ कर लेना ठीक होगा। अंग्रेज़ी में इस्तेमाल होने वाला शब्द बीइंग या जर्मन शब्द दासियन के मायने पूरी तरह वजूद या अस्तित्व शब्दों में नहीं सिमटते। एक बैंगन या आलू का भी वजूद या अस्तित्व हो सकता है, मगर बीइंग या दासियन में जीने की क्रिया का अर्थ भी शामिल है। लिहाजा, जब मार्क्स यह कहते हैं कि सामाजिक वजूद चेतना को निर्धारित करता है तब उनका आशय सामाजिक रूप से जीने की क्रिया से है। सामाजिक-आर्थिक संरचना जैसे फ़िकरे का जब मार्क्स या मार्क्सवादी इस्तेमाल करते हैं तो कोलेटी का कहना है कि वह इसी बात को दर्शाता है कि पूँजी का विषय एक समग्र विषय है और यह इसलिए, क्योंकि भौतिक और विचारधारात्मक स्तरों को अलग करना असम्भव है... वह एक ऐसी चीज़ है जो एक ही साथ सामाजिक वजूद भी है और सामाजिक चेतना भी। लिहाजा, इस पृष्ठभूमि में अगर हम प्रचलित मार्क्सवाद के नींव-ऊपरी ढाँचा समस्या को देखें तो पाएँगे कि दरअसल अतिसरलीकरण करके एक उपमा को थियरी का दर्जा दे दिया गया है।

इस सवाल पर एंगेल्स के बाद से अंतहीन बहसों हो चुकी हैं, मगर शायद इस पर नये सिरे से गम्भीर बहस शुरू करने का श्रेय अलथुसे को ही जाता है। अलथुसे ने इस विषय को जिस तरह पेश किया है वह इससे पहले ग्राम्शी द्वारा की गयी कोशिशों से बिल्कुल अलग है। इस संदर्भ में स्टुअर्ट हॉल कहते हैं : 'लेनिन और ग्राम्शी के बाद से - जब तक पूलांत्साज़ और अलथुसे ने इस सवाल को फिर से दो टूक ढंग से एजेंडे में शामिल नहीं कर दिया— ऊपरी ढाँचे का

सवाल, अपने सही मार्क्सवादी अर्थों में...बुरी तरह उपेक्षित सवाल रहा है।'

ग्राम्शी का ज़्यादातर काम ऊपरी ढाँचों से संबंधित आर्थिक रिडक्शनलिस्ट थियरियों के खिलाफ़ विवादों के रूप में है। उनकी दलील यह है कि राजनीति की एक मार्क्सवादी थियरी गढ़ने के लिए नींव और ऊपरी ढाँचे के संबंध का सही ढंग से उठाया जाना बुनियादी सवाल है। विकासमान पूँजीवादी संबंधों की हालत में, बुनियादी वर्गीय रिश्ते ऊपरी ढाँचों के पेचीदा दायरों के ज़रिये फैलते हैं। केवल इसी तरह पूँजीवाद के सामाजिक रिश्तों का इस तरह पुनरुत्पादन सम्भव है जिससे उत्तरोत्तर नागरिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन को पूँजी की व्यापक ज़रूरतों के अनुकूल बनाया जा सकता है। एक विकसित पूँजीवादी सामाजिक संरचना में पूँजी के वर्चस्व का यह फैलाव इसी बात पर निर्भर करता है कि राज्य और नागर समाज किस हद तक विकसित हुए हैं। यहाँ ग्राम्शी ने राज्य के नैतिक कामों पर काफ़ी ध्यान दिया, जिससे उनका मतलब था वह काम जो राज्य पूँजी की ओर से सभ्यता के एक नये चरण का निर्माण करने के लिए करता है, ऐसे नये क्रिस्म के सामाजिक व्यक्ति को तैयार करने के लिए करता है जो भौतिक अस्तित्व के नये स्तरों के अनुकूल हो (जो स्तर पूँजीवाद की नींव के विकास पर आधारित होते हैं)।

ग्राम्शी की व्याख्या करते हुए हाल आगे कहते हैं कि परिवार, क़ानून, शिक्षा, समूचे सांस्कृतिक तामझाम, गिरजे, आदि के बीच और उनके साथ राज्य के कामों के ज़रिये ही पूँजीवाद वस्तुतः एक उत्पादन प्रणाली मात्र न रह कर सामाजिक जीवन का एक मुकम्मल रूप बन जाता है जो बाकी हर चीज़ को अपने अधीन कर लेता है। हाल राज्य के इन कामों ही में बुद्धिजीवियों के नये तबक़े पैदा करने, राजनीतिक पार्टियों और जनमत बनाने आदि के काम जोड़ते हैं। ग्राम्शी ने इस तरह ऊपरी ढाँचे के इन तमाम पहलुओं पर अलग से सोचने-विचारने की ज़मीन खोल दी। उनके इस प्रयास में वर्चस्व या हेजेमनी की अवधारणा केंद्रीय है। ग्राम्शी बिना शास्त्रार्थ में पड़े मार्क्सवाद की अपनी समझ से राजनीति, राज्य, नागर समाज आदि में शासक/पूँजीपति वर्ग के विचारधारात्मक दबदबे को समझने की कोशिश में वर्चस्व की अपनी अवधारणा पेश करते हैं जो, जैसा कि हॉल के उद्धरण से साफ़ है, शासन के लिए वैचारिक मंजूरी गढ़ने की प्रक्रिया है। ग्राम्शी की यह अवधारणा दरअसल एंगेल्स की आइडियॉलॉजी की अवधारणा के काफ़ी करीब है— वह एक मायने में एक छद्म चेतना है। जो भी हो, ग्राम्शी की इस कोशिश की अहम बात यह है कि वे, कुछ हद तक लेनिन की तरह ही, शास्त्रों के बंधन से आज़ाद हैं— शायद लेनिन से कहीं ज़्यादा। इसका मतलब यह क़तई नहीं है कि मार्क्सवाद के सिद्धांतों के प्रति उनका रवैया मौक़ापरस्त है।

इसका मतलब सिर्फ इतना है कि वे शायद इस बात को समझ रहे थे कि मार्क्सवाद का सिद्धांत खुद बनने की प्रक्रिया में है और रहेगा, लिहाजा शब्दजाल के पार जाकर उसके मूल दर्शन को समझना जरूरी है।

अलथुसे बिल्कुल दूसरे छोर पर एक निहायत ही सख्त जिरह के माध्यम से इस अंततः निर्धारक कारक के बारे में बहस चलाते हैं। उनका तर्क है कि सामाजिक-आर्थिक संरचना एक समग्र इकाई है- इसके तमाम स्तरों को अलहदा नहीं किया जा सकता है। आर्थिक-राजनीतिक इसके विभिन्न स्तर पर आयाम हैं जो एक दूसरे में गुंथे हैं। ये तीनों आयाम अपनी-अपनी सापेक्ष स्वायत्तता तो लिए रहते हैं, मगर इनमें आर्थिक आयाम की एक मैट्रिक्स भूमिका होती है जो इन आयामों के चरित्र और रिश्तों को निर्धारित करती है। अलथुसे के इस नज़रिये के अनुसार ये तीनों अकाट्य रूप से एक सामाजिक समग्र का हिस्सा हैं जिनमें किसी भी मुकाम पर कोई भी आयाम हावी हो सकता है या निर्धारक हो सकता है। मगर यह भी उस आर्थिक मैट्रिक्स की भूमिका बताता है कि कब कौन सा आयाम निर्धारक होगा। मगर यहाँ अलथुसे के सैद्धांतिक ढाँचे में, आर्थिक आयाम की मैट्रिक्स भूमिका, स्वतंत्र अर्थव्यवस्था की नहीं, बल्कि समग्र संरचना के एक अकाट्य आयाम की भूमिका है। इसीलिए अलथुसे इसे स्ट्रक्चरल कॉजैलिटी की संज्ञा देते हैं। उनकी निगाह में आर्थिक आयाम की अपनी अंततः निर्धारक भूमिका ही है; स्ट्रक्चरल कॉजैलिटी इस मायने में कई कारकों के मेल से बनती है। यहाँ किसी बेहतर शब्दावली के अभाव में हम इन शब्दों का इस्तेमाल कर रहे हैं। मगर स्पष्टीकरण के तौर पर यह कह दें कि अलथुसे के लिए ये अलग-अलग तत्त्वों से मिलकर बनी समग्रता नहीं है, बल्कि इसके विपरीत वह एक समग्रता है जो हमें अलग-अलग दिखाई देती है— आर्थिक, राजनीतिक व विचारधारात्मक आयामों में। अगर एक अतिसरलीकृत उपमा का सहारा लेकर कहा जाए तो जैसे संतरा अलग-अलग फ़ाँकों को मिलाकर नहीं बनाया जाता, उन्हें हम अपनी खाने की सहूलियत के लिए अलग करते हैं। उसी तरह समाज की इस परिपूर्ण समग्रता में से हम अपने समझने की सहूलियत के लिए इन आयामों को अलग ही कर लेते हैं और फिर उन अलग हिस्सों को स्वतंत्र इकाइयाँ मान लेने की भूल कर बैठते हैं।

स्टुअर्ट हॉल मार्क्स के कुछ उद्धरणों का सहारा लेकर इसी बात को थोड़े और सरल ढंग से रखते हैं। उनका मानना है कि अलथुसे का यह खयाल ग़लत है कि नींव-ऊपरी ढाँचे का मुद्दा सिर्फ मार्क्स के बौद्धिक संक्रमण के समय का है और इसे साबित करने के लिए वे पूँजी के खण्ड 3 का एक प्रसंग उद्धृत करते हुए कहते हैं : 'एक जर्मन आलोचक ने 1859 की प्रस्तावना का हवाला दिया था और पूँजीवाद के दौर में

आर्थिक स्तर की प्राथमिकता स्वीकारते हुए भी यह कहा था कि इससे पहले के समाज में, सामंतवाद और पुरातन समाज में ऐसा नहीं था, वहाँ राजनीति सर्वोपरि थी। मार्क्स ने इसके जवाब में अपनी बुनियादी प्रस्थापना को दोहराया था, आर्थिक ढाँचा ही असली आधार है... मध्यकाल सिर्फ कैथलिकवाद की खुराक पर जिंदा नहीं रह सकता था, न पुरातन रोम राजनीति की खुराक पर।' इसके बाद हॉल के अनुसार, मार्क्स आगे कहते हैं कि दरअसल वह समाज की तरह जीविका जुटा रहा था। वही तय करता है कि क्यों यहाँ राजनीति और वहाँ कैथलिकवाद मुख्य भूमिका अदा कर रहे थे।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. हेल्मुट फ्लेशेर (1973), *मार्क्सिज़्म एंड हिस्ट्री*, एलन लेन, लंदन.
2. जेरल्ड कोहेन (2000), *कार्ल मार्क्सिज़्म थियोरी ऑफ हिस्ट्री - अ डिफेंस*, 2000, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.
3. एत्येन बालिबार (1995), *द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ मार्क्स*, वर्सो, लंदन व न्यूयॉर्क.
4. कैरी नेल्सन व लॉरेस गोसबर्ग (1988), *मार्क्सिज़्म एंड द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ कल्चर*, युनिवर्सिटी ऑफ़ इलिनॉय प्रेस, इलिनॉय.
5. लुई अलथुसे, *फॉर मार्क्स*, 2005, वर्सो, लंदन.

—आदित्य निगम

मार्क्सवाद-5

पुनर्रचना के तीन बिंदु

(Marxism-5)

नींव और ऊपरी ढाँचे के रिश्तों का सवाल मार्क्सवादी आंदोलन के सामने भी एक अहम मुद्दा बन कर उभरता रहा। वह सिर्फ़ कोरे बौद्धिक बहसों का विषय नहीं था। ग्राम्शी के लिए सवाल यह समझने का था पूँजीवाद अगर सिर्फ़ राजशक्ति के बूते पर नहीं टिका रहता तो वह शोषित तबकों की वैचारिक मंजूरी कैसे अर्जित करता है? वहीं माओ त्से तुंग के सामने सवाल यह था कि समाजवादी समाज में, जहाँ नींव बदली जा चुकी है, वहाँ लोगों की चेतना, सोचने समझने का ढंग, संस्कार, आदि क्यों नहीं बदलते? स्तालिनोत्तर काल में सोवियत संघ में खुश्चेव के सत्तारोहण को माओ समेत दुनिया की कई कम्युनिस्ट पार्टियों और सिद्धांतकारों ने संशोधनवाद की विजय बताया। लेनिन की परिभाषा के मुताबिक संशोधनवाद मार्क्सवाद पर बूर्ज्वा विचारधारा का असर था। माओ के सामने यह सवाल उठा कि अगर सामाजवादी नींव की रचना के चार दशकों बाद भी बूर्ज्वा विचारधारा का असर हावी है तो क्या यह सिर्फ़ दुनिया के पैमाने पर पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के वजूद के कारण है? क्या इसके कोई अंदरूनी कारण नहीं हैं? क्या चीन में ऐसा नहीं हो सकता है?

माओ ने इसकी एक व्याख्या इस तरह दी : क्योंकि समाजवाद के प्राथमिक चरणों में जिस-उत्पादन (कमॉडिटी प्रोडिक्शन) जारी रहता है और छोटे उत्पादक की लाभ-मुनाफ़े की मानसिकता बरकरार रहती है, इसलिए यह जहनियत बार-बार नये सिरे से बनती है। ऐसा कहने में माओ दरअसल लेनिन के ही विश्लेषण को दोहरा रहे थे : लेनिन ने यह बात एकाधिक बार अपने भाषणों और लेखों में कही थी और इस खतरे से आगाह किया था। लेनिन के अनुसार, कमॉडिटी प्रोडिक्शन के सम्पूर्ण खात्मे के बाद ही साम्यवाद की बात सार्थक हो सकती है। लेकिन माओ ने खुद को लेनिन के विश्लेषणों तक सीमित नहीं रखा। साठ के दशक में उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया था कि समाजवादी समाज क्रायम हो जाने के बाद भी वर्ग संघर्ष जारी रहेगा, क्योंकि विचारधाराएँ अपने आप नहीं बदलतीं— उसके लिए लम्बे ऐतिहासिक संघर्षों की ज़रूरत होती है। उन्होंने यहाँ तक कहा कि इस वैचारिक संघर्ष का फ़ैसला होने में सैकड़ों साल लग सकते हैं— इस अर्थ में अंतिम विजय का फ़ैसला होना बाक़ी है। माओ का यह कहना एक अर्थ में स्तालिन की इस मान्यता पर चोट करता था कि समाजवादी समाज में अंदरूनी

संघर्ष नहीं होंगे। अपने इस विचार को आगे विकसित करते हुए माओ ने सांस्कृतिक क्रांति का सिद्धांत पेश किया। अब माओ का कहना था कि क्रांति एक चिरंतन प्रक्रिया है और चूँकि चेतना-संस्कृति भी बिना संघर्ष के नहीं बदलतीं, इसलिए आर्थिक नींव के बदल जाने के बाद भी सतत सांस्कृतिक क्रांति की ज़रूरत है।

ज़ाहिर है कि माओ भी इस मायने में शास्त्रों के आगे देखने की कोशिश कर रहे थे और उनमें तरमीम भी करने जा रहे थे। हालाँकि यह सही है कि माओ शास्त्रों के आगे देख रहे थे, फिर भी इस सच्चाई से भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि मूलतः वे भी नींव-ऊपरी ढाँचे वाली थियरी के तहत ही सोच रहे थे और राजतंत्र, जनतंत्र आदि को महज़ ऊपरी ढाँचा ही मानते रहे। अपने ही ढंग से वे साठ के दशक में नियमों की समझ को भी चुनौती देते हैं, जब वे ये कहने लगते हैं कि आखिरकार दो व्यवस्थाओं में हार-जीत का फ़ैसला सचेतन संघर्ष पर निर्भर करता है, या फिर यह कहते हैं कि साम्यवाद के आगे जहाँ और भी हैं, साम्यवाद मानवता की आखिरी मंजिल नहीं है।

अपनी इस हिस्से की बहस को समेटते हुए अब हम कह सकते हैं कि मार्क्सवाद ने मार्क्स के बाद से एक लम्बा सफ़र तय किया है जिसमें वह अपने बौद्धिक खज़ाने को काफ़ी समृद्ध कर पाया है, मगर जिसका असर प्रचलित मार्क्सवाद और उसके आंदोलनों के दायरे तक नहीं पहुँच पाया— या न के बराबर पहुँचा। इसके मायने ये भी हैं कि मार्क्सवाद की सिद्धांत और अमल की एकता क्रायम करने की कोशिश की जगह पिछले कई दशकों में यह खाई बढ़ी है। वैचारिक पक्ष आंदोलनों से कटता गया और अकादमियों में सिमटता गया तो व्यवहार पक्ष विचारों की दुनिया से दूर शास्त्रार्थ करता रहा।

अब हम उस सवाल की ओर लौट सकते हैं जो शुरुआत में उठाया गया था— मार्क्सवाद क्या है? क्या कोई असली मार्क्सवाद है? जैसा कि अब तक कि बहस बताती है ऐसे असली मार्क्सवाद की खोज नामुमकिन सा काम है। मार्क्स-एंगेल्स के जीवनकाल में जिस वाद का जन्म हुआ था वह एक विकासमान नज़रिया था। खुद मार्क्स-एंगेल्स के लेखन के अलग-अलग दौर में उनकी समझ बदलती गयी। अनंतकाल तक शास्त्रार्थ करके भी शायद असली मार्क्सवाद को ढूँढ़ निकालना सम्भव न हो। इसलिए इस सवाल का जवाब देते हुए अमेरिकी बुद्धिजीवी एरिक ओलिन राइट की बात ज़्यादा सार्थक लगती है। वैसे एरिक ओलिन राइट मार्क्सवाद की उन चंद विशुद्ध अकादमिक धाराओं में से एक से संबंध रखते हैं, जिनका शुरु में जिक्र किया गया है। ऐनालिटिकल मार्क्सवाद की इस धारा के

लेखकों की कोशिश मार्क्सवाद को तर्क संगत बनाने की रही है और उसमें मौजूद विरोधाभासों को हल करने की ओर ही इन्होंने ज्यादा ध्यान दिया है। ऐसा करने में यह धारा यूँ तो विशुद्ध तर्कशास्त्र पर खुद को आधारित करती है और ऐसा मानती है कि मार्क्सवाद से उन तत्त्वों को वर्जित कर दिया गया जाना चाहिए जो साबित न किये जा सकते हों। इस नज़रिये से ये लेखक द्वंद्वतात्मकता के सिद्धांत को नकारते हैं और मूलतः मार्क्सवाद को इस हीगेलीय मेटाफ़िज़िक्स से मुक्त करना चाहते हैं। जाहिर है कि इस प्रक्रिया में ये मार्क्सवाद को एक कोरी अकादमिक वस्तु बना देते हैं जिस पर स्वभावतः बहुत जायज़ एतराज़ किये जा सकते हैं। फिर भी राइट की उपरोक्त रचनाओं में कई महत्वपूर्ण बातें हैं जिनकी ओर वे ध्यान दिलाते हैं।

बकौल राइट मार्क्सवाद क्या है का जवाब अक्सर एक असली मार्क्सवाद बनाम नक़ली मार्क्सवाद के बेवकूफ़ाना शास्त्रार्थ के ज़रिये दिया जाता है। मार्क्सवादी परम्परा में ऐसी मुठभेड़ों का मलबा चारों ओर बिखरा पड़ा है। इसलिए राइट कहते हैं : 'मेरा इरादा ऐसे विश्वास-समूह परिभाषित करने का नहीं है जिन्हें मानने के आधार पर किसी की मार्क्सवादी के रूप में गिनती हो सकती है। बल्कि मैं मार्क्सवादी परम्परा के कुछ ऐसे बिंदुओं का नक़शा खींचना चाहता हूँ जिनके आधार पर उसकी पुनर्रचना हो सके।'

ऐसा करने के लिए राइट तीन अवधारणागत बिंदुओं को चिह्नित करते हैं जिनके इर्द-गिर्द, उनके अनुसार, मार्क्सवाद की परम्परा बनी है। इन्हें वे इस तरह रखते हैं— वर्ग विश्लेषण के रूप में मार्क्सवाद, इतिहास के सिद्धांत के रूप में मार्क्सवाद, मुक्तिवादी नैतिक सिद्धांत के रूप में मार्क्सवाद। इन तीनों के बीच के संबंध समझाते हुए वे कहते हैं कि वर्ग विश्लेषण के रूप में मार्क्सवाद और इतिहास सिद्धांत के रूप में मार्क्सवाद कुछ इस तरह है जैसे मेडिकल विज्ञान में एंडोक्रिनॉलॉजी और ऑन्कोलॉजी। इसे वे आगे इस तरह खोलते हैं : अगर आप एक एंडोक्रिनॉलॉजिस्ट हैं तो आप किसी भी चीज़ का अध्ययन कर सकते हैं जैसे सेक्शुअलिटी, व्यक्तित्व, विकास, बीमारियों की प्रक्रियाएँ आदि, बशर्ते आप इन सबका शरीर के एंडोक्राइन सिस्टम से रिश्ता समझने का प्रयास कर रहे हों। एक एंडोक्रिनॉलॉजिस्ट के लिए, वे आगे कहते हैं, यह शर्मिंदगी का बात नहीं होती अगर उसे पता लगे कि कुछ मसले ऐसे भी हैं जिन पर हॉर्मोनों का असर नहीं पड़ता। उससे भी एंडोक्राइन सिस्टम के बारे में हमारी समझ बढ़ती ही है। दूसरी ओर ऑन्कोलॉजी में आप कैंसर के किसी भी कारण का अध्ययन कर सकते हैं— जीव-विष, जेनेरिक्स, वाइरस, मनोवैज्ञानिक दशाएँ आदि; और ऑन्कोलॉजी में यह कोई शर्म की बात नहीं कि आपको पता चले कि कैंसर के कुछ सम्भावित कारण असल

में बहुत महत्वपूर्ण नहीं होते।

वर्ग विश्लेषण के रूप में मार्क्सवाद, उनके अनुसार, कुछ भी अध्ययन कर सकता है। आप धर्म, जंग, गरीबी, अपराध— किसी भी चीज़ का वर्ग विश्लेषण कर सकते हैं और एंडोक्रिनॉलॉजी की तरह यहाँ भी इसमें कोई शर्म की बात नहीं होनी चाहिए अगर आपको पता चले कि कुछ चीज़ों के लिए वर्ग बहुत अहम नहीं होता। इसी तरह इतिहास सिद्धांत के रूप में मार्क्सवाद उसी तरह उसके कारणों का अध्ययन करता है जैसे ऑन्कोलॉजी कैंसर के कारणों का। एक मुक्तिवादी नैतिक सिद्धांत के रूप में मार्क्सवाद उसकी परम्परा का सबसे उपेक्षित हिस्सा रहा है— ऐसा राइट का मानना है। उनका कहना है कि मार्क्स समेत, ज़्यादातर मार्क्सवादियों ने अक्सर नैतिक सिद्धांत की प्रासंगिकता को नकारा है। मगर फिर भी वह इसका एक अहम पहलू है और वही मार्क्सवाद के बाक़ी दो रूपों को सार्थक बनाता है। उनका कहना है कि इस मुक्तिवादी सिद्धांत का मर्म यह विचार है कि मानवीय आज़ादी, उसकी सम्भावनाएँ और उसकी गरिमा सिर्फ़ वर्गहीनता की हालत में ही चरितार्थ हो सकती हैं। यह एक ऐसे रैडिकल, समतावादी समाज की कल्पना है जहाँ शोषण ख़त्म हो चुका हो और सत्ता व भौतिक कल्याण में बराबरी हो। राइट का कहना है कि इस समय के बारे में जो कल्पना मार्क्सवादियों ने की है उसमें उनमें आपस में कई फ़र्क़ हैं मगर एक बात सभी एकमत हैं, इन सभी मूल्यों को हासिल करने की लाज़मी पूर्णशर्त है वर्गहीनता। इन तीनों बिंदुओं को राइट इस तरह जोड़ते हैं : 'अगर असली मुद्दा सिर्फ़ समाज की व्याख्या करना नहीं, बल्कि उसे बदलना है, तो कुल मिलाकर मार्क्सवाद वर्ग विश्लेषण के लिए ज़रिये राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझते हुए, ऐतिहासिक रूप से सम्भव मुक्ति के आदर्श हासिल करने के बारे में है।

अपनी इस उपरोक्त बहस में राइट एक महत्वपूर्ण सवाल उठाते हैं, मार्क्सवाद का एक नैतिक सिद्धांत तो है जिसके बूते पर वह पूँजीवाद की नैतिक आलोचना रखता है, मगर वह बिना बाक़ी दो रूपों के, पूँजीवाद की मात्र नैतिक आलोचना बन कर रह जाता— जिसे मार्क्स ने काल्पनिक समाजवाद कहा था। उनका तर्क है कि हालाँकि शोषण जैसी मौलिक, अवधारणाएँ नैतिक सवाल होते हुए भी सिर्फ़ वही नहीं है, वह पूँजीवाद की एक ठोस ज़मीनी आलोचना भी है जो असली विकल्पों की ऐतिहासिक पैदाइश के उसके ब्यौरे से निकलती है।

राइट की उपरोक्त बातों पर हम इतना और जोड़ दें कि मार्क्सवादी परम्परा के इन तीनों वैचारिक बिंदुओं के बारे में अलग-अलग और उनके अंतर्संबंधों के बारे में भिन्न-भिन्न विचारकों की पहुँच और नज़रिया अलग हो सकता है— जो वास्तविकता भी है। अगर इसे सिद्धांततः मान लिया जाए तो

फिर सही और गलत मार्क्सवाद की खोज करने की अंतहीन और निष्फल क्रवायद से हम बच सकते हैं। उस हालत में हम मार्क्सवाद की एक बहुलतावादी परम्परा की बात करेंगे जिसमें मार्क्सवादी पीठों और शंकराचार्यों के बजाय हमें ज़रूरत होगी अपनी विरासत के भीतर तमाम धाराओं से संवाद के रास्ते खोलने की ओर एक आलोचनात्मक नज़रिये से दुनिया, समाज और इतिहास को समझने और बदलने की।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज़्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफर्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोलशेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. हेलमुट फ्लेशेर (1973), *मार्क्सिज़म एंड हिस्ट्री*, एलन लेन, लंदन.
2. जेरल्ड कोहेन (2000), *कार्ल मार्क्सिज़ थियोरी ऑफ़ हिस्ट्री - अ डिफ़ेंस*, 2000, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.
3. एत्येन बालिबार (1995), *द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ मार्क्स*, वसों, लंदन व न्यूयॉर्क.
4. कैरी नेल्सन व लॉरेंस गोसबर्ग (1988), *मार्क्सिज़म एंड द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ कल्चर*, युनिवर्सिटी ऑफ़ इलिनॉय प्रेस, इलिनॉय.
5. लुई अलथुसे, *फॉर मार्क्स*, 2005, वसों, लंदन.

—आदित्य निगम

मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी

(Marxism and Ecology)

साठ और सत्तर के दशक में पारिस्थितिकीय आंदोलनों की शुरुआत के समय मार्क्सवादी उन्हें संदेह की नज़र से देखते थे। पारिस्थितिकीय सरोकारों से संबंधित लेखन उनकी निगाह में पूँजीवादी हितों का पूरक था। इसी तरह शुरुआती पर्यावरणवादियों ने भी तत्कालीन समाजवादी राज्यों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के कारण मार्क्सवाद को पर्यावरण का विरोधी क्रार दे दिया था। लेकिन अस्सी के दशक तक पारिस्थितिकीय चिंतन और मार्क्सवाद के इस आपसी विरोध में कमी आयी। पारिस्थितिकीय संकट की गहनता महसूस करते हुए मार्क्सवादियों ने इससे जुड़े सवालों पर गहराई से विचार किया। इस चिंतन को मुख्य तीन स्तरों पर देखा जा सकता है। पहला, पारिस्थितिकीय चिंतन और मार्क्सवाद द्वारा एक-दूसरे की तीखी आलोचना के दौर में भी क्रिटिकल थियरी से जुड़े चिंतकों ने पारिस्थितिकीय सरोकारों को अपने लेखन में स्थान दिया। दूसरा, कुछ लेखकों ने मार्क्स-एंगेल्स के लेखन का गहन परीक्षण करते हुए इस आरोप को ख़ारिज करने की कोशिश की कि वे पारिस्थितिकी के विरोध में हैं। कुछ ने मार्क्स-एंगेल्स के उपेक्षित पड़े लेखन का विश्लेषण किया, जबकि दूसरों ने इस लेखन में थोड़े बहुत संशोधन का सुझाव दिया ताकि उसे पारिस्थितिकी के प्रति और संवेदनशील बनाया जा सके। तीसरा, कई मार्क्सवादी वर्तमान दौर में भूमण्डलीकरण और पारिस्थितिकीय संकट को एक-दूसरे से जुड़ा हुआ मानते हैं। उनका विचार है कि इन दोनों के ख़िलाफ़ एक साथ संघर्ष किया जाना चाहिए।

क्रिटिकल थियरी का विकास फ्रैंकफर्ट स्कूल ऑफ़ सोशल रिसर्च के सदस्यों द्वारा किया गया था। इसने सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा की गयी व्याख्याएँ नकारते हुए युवा मार्क्स के लेखन पर ज़ोर दिया और मार्क्सवाद की मानवतावादी व्याख्या की। इस स्कूल के अंतर्गत आने वाले विचारकों में मत-वैभिन्य है, लेकिन मार्क्सवाद के बारे में उनका नज़रिया एक सा है। ये सिद्धांतकार मानते हैं कि मार्क्स और एंगेल्स पारिस्थितिकी पर पूँजीवाद के नकारात्मक प्रभावों के बारे में जागरूक थे। लेकिन उन्होंने प्रकृति पर प्रभुत्व कायम करने के ज्ञानोदयकालीन मिथक के ख़तरों को साफ़ नहीं किया। इसी कारण वे केवल पूँजीवाद के नकारात्मक प्रभावों को उजागर करके रह गये। नतीजा यह हुआ कि पूँजीवादी राज्यों में ही नहीं, बल्कि समाजवादी राज्यों में भी प्रकृति पर प्रभुत्व कायम कर विकास हासिल करने की कोशिश की गयी। आलोचनात्मक सिद्धांत के प्रवर्तक के रूप

में होखाइमर, एडोनों और मारक्वूजे ने ज्ञानोदय की आलोचना प्रस्तुत की। इसे इन्होंने 'बाह्य' और 'आंतरिक' प्रकृति पर प्रभुत्व कायम करने वाला माना। बाह्य प्रकृति से उनका तात्पर्य मनुष्य की पारिस्थितिकी और आंतरिक प्रकृति से उनका मतलब मनुष्य की आंतरिक चेतना से है। लेकिन यह भी सच है कि इन प्रयासों के बावजूद क्रिटिकल थियरी में पारिस्थितिकीय चिंतन कोई खास स्थान हासिल नहीं कर पाया। इन विचारकों ने पारिस्थितिकी संबंधी विचारों का गहन विश्लेषण के साथ सिद्धांतीकरण नहीं किया। पर्यावरण संबंधी आंदोलनों के प्रति उनका रवैया नकारात्मक था। वे उन्हें बिखरे हुए छिटपुट आंदोलनों के रूप में देखते थे।

जिन लेखकों ने यह साबित करने की कोशिश की है कि मार्क्स-एंगेल्स के लेखन में पारिस्थितिकीय चिंताओं का बहुत स्थान है या कुछ संशोधनों के साथ मार्क्सवाद में पारिस्थितिकीय चिंताओं को समायोजित किया जा सकता है, उनमें जॉन बेलामी फ़ॉस्टर का प्रमुख स्थान है। फ़ॉस्टर का मानना है कि मार्क्स के विचारों में पारिस्थितिकी संबंधी पहलू एक निरंतरता से सम्पन्न हैं। युवा मार्क्स की तरह ही प्रौढ़ मार्क्स में भी प्रकृति पर निर्भरता का विचार स्पष्ट रूप से सामने आता है। फ़ॉस्टर ने मार्क्स के पारिस्थितिकीय नज़रिये को समझने के लिए एक अहम संकल्पनात्मक श्रेणी के रूप में 'मेटाबॉलिज़म' की समझ पर बल दिया है। इसका तात्पर्य पदार्थिक विनिमय है। मेटाबॉलिज़म शब्द में जैविक वृद्धि या क्षरण की संरचनात्मक प्रक्रियाओं की अवधारणा शामिल है। फ़ॉस्टर के अनुसार श्रम-प्रक्रिया की अपनी परिभाषा में मार्क्स ने मेटाबॉलिज़म की अपनी संकल्पना को पूरे विश्लेषण का आधार बनाया है। उन्होंने मार्क्स का एक कथन उद्धृत करके अपने मत की पुष्टि की है : 'सबसे पहले श्रम, मानव और प्रकृति के बीच एक प्रक्रिया है। ऐसी प्रक्रिया, जिसके द्वारा मानव स्वयं एवं प्रकृति के बीच मेटाबॉलिज़म को अपनी क्रियाओं से केंद्रित, नियमित और नियंत्रित करता है। वह (मानव) प्राकृतिक शक्तियों को गतिशील करता है... ताकि अपनी जरूरतों के हिसाब से वह प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग कर सके। इस कार्य द्वारा वह बाहरी प्रकृति पर कार्य करता है, और उसे बदलता है। इस तरीके से वह स्वयं अपनी प्रकृति में परिवर्तन करता है।'

फ़ॉस्टर मानते हैं कि मार्क्स का मेटाबॉलिज़म संबंधी सिद्धांत उनकी रचना *इकॉनॉमिक ऐंड फ़िलॉसॉफ़िकल मैनुस्क्रिप्ट्स 1844* में प्रकृति पर मानव की गहरी निर्भरता के विचार का अधिक व्यवस्थित, वैज्ञानिक और प्रौढ़ रूप है। फ़ॉस्टर के अनुसार इस रूप में पारिस्थितिकी का द्वंद्वत्मक दृष्टिकोण उभरकर सामने आता है, जो इस बात पर जोर देता है कि जीव सामान्यतः अपने पर्यावरण को अपनाते ही नहीं, बल्कि इसे कई तरह से प्रभावित भी करते हैं। फ़ॉस्टर का

कहना है कि मेटाबॉलिज़म का सिद्धांत प्रकृति पर मानव की निर्भरता को स्पष्ट करते हुए मनुष्यों को सचेत करता है कि सुखद जीवन जीने के लिए उन्हें एक सीमा से ज्यादा प्रकृति का शोषण नहीं करना चाहिए।

दूसरी ओर, टेड बेण्टन का जोर इस बात पर है कि पारिस्थितिकीय संकट के गहरे विश्लेषण के लिए मार्क्स और एंगेल्स के लेखन से महत्वपूर्ण सूत्र मिल सकते हैं। बेण्टन यह भी मानते हैं कि मार्क्सवादी सिद्धांत में कुछ बुनियादी संशोधन करने से इसे पारिस्थितिकीय विश्लेषण के लिए ज्यादा कारगर बनाया जा सकता है। बेण्टन ने मार्क्स द्वारा पेश की गयी श्रम-प्रक्रिया का विश्लेषण किया है। मार्क्स ने श्रम-प्रक्रिया को 'परिवर्तनकारी' मानते हुए उसके तीन मुख्य तत्त्व प्रस्तावित किये हैं : आदमी की व्यक्तिगत गतिविधि, जिस पर काम किया जा रहा है और काम के साधन या यंत्र। लेकिन बेण्टन ने कहा है कि श्रम-प्रक्रियाएँ दो तरह की होती हैं: एक, परिवर्तनकारी और दूसरी, पारिस्थितिकी-नियंत्रक। बेण्टन के मुताबिक मार्क्स यह नहीं मानते श्रम-प्रक्रिया पारिस्थितिकीय कारकों पर निर्भर होती है। उनके अनुसार, पूँजीवादी श्रम-प्रक्रिया के बारे में सैद्धांतीकरण करते हुए मार्क्स-एंगेल्स ने ऊर्जा के आवश्यक स्रोतों, कच्चे पदार्थों और भोजन आदि की सीमितता और पारिस्थितिकी पर इनकी निर्भरता को ध्यान में नहीं रखा। बेण्टन तर्क देते हैं कि मार्क्स के चिंतन को पारिस्थितिकी के प्रति संवेदनशील बनाने के लिए श्रम-प्रक्रिया की अवधारणा के पुनर्सूत्रीकरण की आवश्यकता है। उन्होंने मार्क्स के विचारों को पारिस्थितिकी के अनुकूल बनाने के लिए पारिस्थितिक-नियमन एवं प्राकृतिक सीमितता जैसे सिद्धांतों पर जोर दिया है।

मार्क्सवादियों का एक समूह ऐसा भी है जो इस सवाल को बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं मानता है कि मार्क्स-एंगेल्स के लेखन पारिस्थितिकी-विरोध है या नहीं। इसकी जगह वे समकालीन समस्याओं के विश्लेषण के लिए मार्क्सवाद का प्रयोग करने के पक्ष में हैं। उन्होंने समाजवादी राज्यों की इस आधार पर आलोचना की कि उनका पर्यावरणीय रेकार्ड बहुत खराब था। इसी तरह आज के पारिस्थितिकीय चिंतन से उनकी शिकायत यह है कि ये लोग पूँजीवाद के प्रति दुलमुल रवैया अपनाते हैं। इस संदर्भ में दो प्रमुख पारिस्थितिकी-समाजवादी चिंतकों जॉयल कोवेल और माइकल लोवी द्वारा सितम्बर 2001 में पारिस्थितिकी एवं समानता पर आयोजित वर्कशॉप में पारिस्थितिक-समाजवादी घोषणापत्र उल्लेखनीय है। पारिस्थितिक-समाजवादियों के अनुसार, पारिस्थितिकीय संकट और भूमण्डलीकरण के विस्तार से उत्पन्न हुई सामाजिक विघटन की समस्या की बुनियाद एक ही है। अर्थात् विश्व में पूँजीवादी व्यवस्था के विस्तार के कारण ही ये दोनों समस्याएँ सामने आयी हैं। वर्तमान पूँजीवाद समस्या

इस समस्या को न तो पूरी तरह खत्म कर सकता है और न ही नियंत्रित कर सकता है। इसका कारण यह है कि यह व्यवस्था बढ़ने या खत्म होने के मूल सिद्धांत पर आधारित है। पारिस्थितिक-समाजवादी समाजवाद के मॉडल को अब भी प्रासंगिक मानते हैं। वे स्थानीय स्तर के स्वायत्त समूहों को जोड़ते हुए एक पारिस्थितिक-समाजवादी पार्टी बनाने की कल्पना भी करते हैं। वे मानते हैं कि इस तरह की पार्टी का मक्रसद प्रतिरोध के विभिन्न समूहों को संगठित करके और एक खुली और लोकतांत्रिक पार्टी गठित की जानी चाहिए।

बहरहाल, सैद्धांतिक स्तर पर मार्क्सवादी चिंतकों द्वारा मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी के अंतर्विरोध दूर करने की काफ़ी कोशिश की गयी है। लेकिन ये तमाम प्रयास पारिस्थितिकी के बारे में एक स्पष्ट मॉडल देने में नाकाम रहे हैं।

देखें : चिपको आंदोलन, जैवविविधता, पर्यावरणीय नारीवाद, पारिस्थितिकवाद, पारिस्थितिकीय दर्शन, पेटेंट, भविष्यशास्त्र, भारत में पेटेंट क़ानून।

संदर्भ

1. टेड बेण्टन (1989), 'मार्क्सिज्म ऐंड नेचुरल लिमिट्स : ऐन इकोलॉजिकल क्रिटिक', *न्यू लेफ़्ट रिव्यू*, 178.
2. जे.बी. फ़ॉस्टर (2001), *मार्क्सिज्म इकोलॉजी : मैटीरियलिज्म ऐंड नेचर*, कॉर्नरस्टोन पब्लिकेशन, खडगपुर, इण्डिया.
3. केरोलिन मर्चेट (सम्पा.) (1944), *की कंसेप्ट्स ऑफ़ क्रिटिकल थियरी : इकोलॉजी*, ह्यमैनिटीज़ प्रेस, न्यू जर्सी.
4. कमल नयन चौबे (2005), *मार्क्सवाद और गाँधीवाद में पारिस्थितिकी : तुलनात्मक अध्ययन* (अप्रकाशित एम. फिल लघु शोध-प्रबंध), राजनीति विज्ञान विभाग, नयी दिल्ली विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

मार्क्सवादी इतिहास-लेखन

(Marxist Historiography)

आधुनिक इतिहास-लेखन की विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों में कार्ल मार्क्स एक स्थाई उपस्थिति की तरह हैं। जो मार्क्स के चिंतन से सहमत हैं वे उनकी अंतर्दृष्टियों को अपने विश्लेषण में इस्तेमाल करते हैं और जिन्हें मार्क्स की इतिहास दृष्टि एकांगी और अपर्याप्त लगती हैं वे उनका प्रत्याख्यान करने के लिए मार्क्स से ज़िहर करते हैं। इस तरह मार्क्स के

महत्त्व और उनके प्रभाव को ऐसे इतिहासकार भी स्वीकार करते हैं जो उनकी आर्थिक, राजनीतिक तथा दर्शनशास्त्रीय प्रस्थापनाओं से सहमत नहीं हैं। यहाँ हम मार्क्सवादी इतिहास-लेखन के कुछ ऐसे स्थाई घटकों के बारे में विचार करेंगे जिन्हें मौटे तौर पर मार्क्स के सामाजिक संरचना और ऐतिहासिक परिवर्तन से संबंधित चिंतन-लेखन के इर्द-गिर्द सँजोया जा सकता है।

सामाजिक संरचना तथा ऐतिहासिक परिवर्तन के संबंध में मार्क्स ने जो प्रस्थापनाएँ रखीं उन्हें लेकर आम तौर पर एक सारतत्त्ववादी रवैया हावी रहा है। इससे एक भ्रामक धारणा यह पैदा हुई है गोया मार्क्स का समस्त चिंतन एकसार और एक लीक का था। जबकि मार्क्स के प्रारम्भिक और उत्तरवर्ती लेखन में कई संशोधन और प्रस्थापनागत बदलाव रेखांकित किये जा सकते हैं। मसलन, मार्क्स और एंगेल्स की इतिहास-दृष्टि में तीन नज़रिये साफ़ देखे जा सकते हैं। मार्क्स अपने प्रारम्भिक लेखन में इतिहास को प्रगति की एक द्वंद्वत्मक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं जो मनुष्य की बेगानगी और सामाजिक संरचना के अतिशय केंद्रहीन हो जाने जैसी नकारात्मक स्थितियों से गुज़रते हुए अंततः मानवीय, मुक्त और रैशनल समुदाय की स्थापना में परिणत होती है। इसके बाद *द होली फ़ैमिली*, *द कण्डीशन ऑफ़ वर्किंग क्लास इन इंग्लैण्ड* तथा *द जर्मन आइडियालॉजी* जैसी रचनाओं में दोनों विद्वान इतिहास को किसी लक्ष्य या तार्किक परिणति की ओर बढ़ती प्रक्रिया के बजाय व्यक्तियों और समूहों की गतिविधियों तथा परिस्थितियों से उपजे अनिश्चित परिणाम की तरह देखने लगते हैं। मार्क्स के चिंतन की तीसरी परत *दास कैपिटल* जैसी परिपक्व रचनाओं में देखी जा सकती है जहाँ ऐतिहासिक विकास को एक आंतरिक और अप्रकट नियमों से संचालित होने वाली प्राकृतिक प्रक्रिया की तरह प्रस्तुत किया गया है। मार्क्स के अनुसार इतिहासकार का काम इन भीतरी और अदृश्य नियमों को उजागर करना होता है। मार्क्स के चिंतन की इस अवस्था में मनुष्य की कारकता या एजेंसी की जगह एक संरचना आ जाती है जिसमें समाज के आर्थिक ढाँचे का विकास प्राकृतिक इतिहास की प्रक्रिया बनने लगता है और व्यक्ति आर्थिक श्रेणियों, वर्ग-संबंधों तथा हितों के प्रतीक और वाहक का रूप धारण करने लगता है। बाद में मार्क्स की यह सिद्धांत-दृष्टि इतिहासकारों द्वारा द्वंद्वत्मक भौतिकवाद के एक सार्वभौम दार्शनिक सिद्धांत की तरह स्थापित कर दी गयी। लेकिन यहाँ इस बात का खयाल रखा जाना चाहिए कि मार्क्स के सामाजिक सिद्धांत के सूत्रीकरण में द्वंद्वत्मक भौतिकवाद किसी ऐतिहासिक कड़ी और सामयिक मौजूदगी के रूप में नहीं आता। ऐतिहासिक घटनाओं के विश्लेषण में मार्क्स अलग-अलग समय पर भिन्न-भिन्न बात कहते हैं। उदाहरण के तौर पर, सामंतवाद

के पूँजीवाद में संक्रमण की व्याख्या करते हुए *द जर्मन आइडियोलॉजी* (1845-46) तथा *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* (1848) में मार्क्स और एंगेल्स क्रस्बों, व्यापार और शहरी बूर्जवाजी के विकास पर खास जोर देते हैं जबकि *ग्रंडरिस्से* और *कैपिटल* जैसी परवर्ती रचनाओं में वे खेती के रूपांतरण और किसान-उत्पादकों के अतिरिक्त दोहन पर ज्यादा जोर देने लगते हैं।

लेकिन मार्क्स के लेखन-चिंतन में दिखने वाली इन चरणगत भिन्नताओं तथा मार्क्सवादी इतिहासकारों के अलग-अलग नज़रियों के बावजूद उनके बीच शब्दावली, अवधारणाओं, सरोकारों, प्रश्नों, संकल्पनाओं को लेकर सहमति और समानता देखी जा सकती है। इस धारा के इतिहासकारों में इस बात को लेकर भी सहमति है कि इतिहास के किन पक्षों को प्रमुख माना जाए और किन पहलुओं को गौण माना जाए। मार्क्स के सामाजिक संरचना और ऐतिहासिक परिवर्तन संबंधी सूत्रीकरण मुख्यतः *द जर्मन आइडियोलॉजी* तथा *अ कंट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकॉनॉमी* के प्राक्कथन में मिलते हैं। जहाँ मार्क्स यह दलील देते हैं कि मनुष्य का सामाजिक जीवन भौतिक उत्पादन पर निर्भर करता है और भौतिक उत्पादन के साधन जैसे कच्चे भौतिक पदार्थ आदि मनुष्य के श्रम, वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान के प्रभाव से लगातार बदलते जाते हैं। मार्क्स इसे संक्षेप में उत्पादक शक्ति कहते हैं। मार्क्स के अनुसार उत्पादन के संबंध; मसलन नियोक्ता और कामगार के संबंध तथा व्यक्ति और उत्पादक शक्तियों के आपसी समीकरण आदि उत्पादक शक्तियों के विकास और उसके स्तर से निर्धारित होते हैं।

ठीक यही बात श्रम-प्रक्रिया के उत्पादों यानी पूँजीपति के मामले में उत्पादित वस्तुओं के स्वामित्व और कामगार के संदर्भ में उसकी मजदूरी आदि पर भी लागू होती है। हालाँकि खुद मार्क्स की शब्दावली स्थाई नहीं रही लेकिन मार्क्सवादी इतिहासकार उत्पादन-संबंधों के किसी रूप विशेष तथा उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर को संयोजित करके उत्पादन-पद्धति नामक अवधारणा का इस्तेमाल करते रहे हैं। इस व्याख्या में उत्पादन पद्धति की परिभाषा या उसका नामकरण उत्पादन के संबंधों जैसे सामंतवाद या पूँजीवाद आदि को आधार बनाकर किया जाता है।

मार्क्सवादी इतिहासकारों के अनुसार निजी सम्पत्ति पर आधारित इस उत्पादन पद्धति के वर्गीय संबंध बुनियादी तौर पर शोषणमूलक होते हैं क्योंकि उत्पादन के साधनों का स्वामी श्रमिक के अधिशेष उत्पादन का अधिग्रहण कर लेता है। मार्क्स और एंगेल्स के लेखन में यह संगति अक्सर उभरती है कि समाज में उत्पादन के संबंध उस समाज की उत्पादक शक्तियों के विकास के समकक्ष होते हैं। इस दावे को पुष्ट

करने के लिए वे ऐतिहासिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं जैसे आदिम साम्यवाद से लेकर प्राचीन, एशियाई, सामंती और पूँजीवाद का हवाला देते हैं। उनके अनुसार उत्पादक शक्तियों के विकास क्रम में उत्पादन के संबंध पिछड़ते जाते हैं और अंततः एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि उत्पादन के ये संबंध उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधक बन जाते हैं। मार्क्स के चिंतन में किसी सामाजिक क्रांति के पीछे ऐसे विषम संबंध ही सक्रिय होते हैं। उदाहरण के लिए बूर्जवा क्रांति यानी पूँजीपति वर्ग की विजय इसलिए हुई क्योंकि सामंतशाही उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधक बन गयी थी।

मार्क्स के इस लेखन-चिंतन ने एक तरह से परवर्ती मार्क्सवादी इतिहास-लेखन के लिए पूर्वपीठिका का काम किया है। इस धारा के इतिहासकारों की पहचान उनके विषयगत चयन से की जा सकती है। इस तरह एक प्रवृत्ति के तौर पर मार्क्सवादी इतिहासकारों का जोर उत्पादक शक्तियों की वृद्धि या उनकी अवनति, उत्पादन के प्रमुख संबंधों के आधार पर समाज के निरूपण, वर्गीय टकराव की सीमा और चरित्र, उत्पादन-पद्धतियों के आंतरिक संकट और उनके बीच संक्रमण की अवस्थाओं, वर्ग संबंधों और राजनीतिक सत्ता व सामाजिक सिद्धांतों की पारस्परिक प्रभावशीलता पर रहा है।

इतिहास-लेखन के लिहाज से देखा जाए तो मार्क्स के ऐतिहासिक सिद्धांतों में उत्पादक शक्तियों की सामाजिक सर्वोच्चता का तर्क कमजोर और अनुपयोगी साबित हुआ है। खुद मार्क्स और एंगेल्स के लेखन में इस विचार-सूत्र का कोई स्थिर रूप दिखायी नहीं देता। मार्क्स के 1859 के प्राक्कथन में व्यक्त सैद्धांतिक सूत्र और इतिहास के वास्तविक विश्लेषण में एक अंतर दिखायी पड़ता है। इस प्राक्कथन में मार्क्स उत्पादक शक्तियों के निरंतर विकास को ऐतिहासिक बदलाव का बुनियादी कारक मानते हैं, जबकि इस बात को इतिहास के कालखण्ड पर लागू करते हुए उनका कहना है कि उत्पादक शक्तियों का कोई एक ढाँचा नहीं होता। यानी उत्पादन की शक्तियाँ आगे की ओर भी बढ़ सकती हैं और पीछे भी जा सकती हैं। जिससे यह निष्पत्ति निकलती है कि सामाजिक परिवर्तन में वर्ग संबंधों तथा वर्ग संघर्ष के पहलुओं पर ज्यादा जोर दिया जाना चाहिए। अतः परवर्ती मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इस बात का खयाल रखा कि विकास के जो नियम खासतौर पर पूँजीवादी समाज पर लागू होते हैं उन्हें इतिहास की समस्त उत्पादन पद्धतियों पर फ़िट न किया जाए। इस संबंध में मार्क्स का तर्क भी यही था कि पूँजीवादी समाज में उत्पादक शक्तियों का विकास अभूतपूर्व ढंग से हुआ था जबकि प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन पद्धतियों का ढाँचा आमतौर पर रूढ़िगत था।

सामंतवाद के संकट का अध्ययन करते हुए राबर्ट ब्रेनर इस तर्क को खारिज करते हैं कि उत्पादक शक्तियों का हमेशा

विकास ही होता है। इसके उलट उन्होंने दिखाया है कि सामाजिक उत्पादन की वृद्धि के संदर्भ में सामंती सामाजिक संबंधों की भूमिका नकारात्मक रही थी। ब्रेनर के अनुसार किसानों और भू-स्वामियों के उत्पादन संबंध खेती के अग्रगामी विकास में बाधक थे जिसके चलते आबादी बढ़ने लगी और जीवन स्तर गिरने लगा। माल्थस और रिकार्डो से प्रभावित इतिहासकार इसे सामंतवाद का जनसांख्यिकीय संकट कहते हैं। ध्यान से देखें तो यह आसानी से चिह्नित किया जा सकता है कि पूँजीवाद बाजार की प्रतिस्पर्धा के जरिये उत्पादन की प्रक्रिया को उन्नत बना रहा था जबकि सामंतवाद में निवेश या नवाचार के प्रति किसी तरह प्रेरणा मौजूद नहीं थी। किसानों के पास संसाधन नहीं थे कि वे उत्पादन के क्षेत्र में कोई नयी पहल कर सकें जबकि भूस्वामी उत्पादन में निवेश किये बगैर भू-दासता में निहित दण्डकारी शक्तियों के कारण कर, टौल तथा मालगुजारी बढ़ाकर सामाजिक उत्पादन में अपनी हिस्सेदारी बढ़ा सकते थे।

इसी तरह अमेरिका के उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के बीच हुए गृहयुद्ध के अध्ययन में इतिहासकार जेनोवेस की दृष्टि यह रही है कि दक्षिणी राज्यों की दास-अर्थव्यवस्था में श्रम की उत्पादकता का निम्न स्तर, पूँजी निर्माण का अभाव, सीमित बाजार आदि का व्यापारी और औद्योगिक बूर्जवाजी पर समेकित प्रभाव यह पड़ा कि वहाँ आर्थिक विकास अवरुद्ध होने लगा और अंततः यह प्रक्रिया राजनीतिक पृथक्करण पर जाकर खत्म हुई, जिसके बाद उसे सैन्य पराजय का सामना करना पड़ा।

हालाँकि मार्क्सवादी इतिहासकारों में पूँजीवाद को उत्पादन की उन्नत अवस्था बताने की प्रवृत्ति भी मौजूद है लेकिन इस बीच यह फ़र्क़ ज़रूर आया है कि अब वे इसे इतिहास के सार्वभौम नियम की तरह प्रतिष्ठित नहीं करते। अब वे इस बात को महत्त्व देने लगे हैं कि प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन पद्धतियों का निर्धारण उनकी विशिष्ट प्रवृत्तियों के आधार पर किया जाना चाहिए। पैरी ऐंडरसन के शब्दों में कहें तो उत्पादन की शक्तियाँ उत्पादन-संबंधों के मातहत होती हैं। तथा संक्रमण के काल में पहले इन संबंधों में बदलाव आता है न कि उत्पादन की शक्तियों में। उनके अनुसार कोई भी ऐतिहासिक संकट या संक्रमण बाहरी शक्तियों से पैदा न होकर अपनी आंतरिक समस्याओं और आवयविक कारकों से उपजता है। यह इस अंतदृष्टि का विस्तार ही है कि पॉल स्वीजी ने सामंतवाद के अवसान और पूँजीवाद के उदय को शहरों और व्यापार जैसे उन बाहरी कारणों से जोड़ने पर ज्यादा जोर दिया जो परम्परागत मार्क्सवादी इतिहासकारों के लिए व्यवस्था से बाहर पड़ने वाले कारक थे।

उत्पादक शक्तियों की सर्वोच्चता का दावा छोड़ने के बाद मार्क्सवादी इतिहासकारों ने यह ज़िद भी छोड़ दी है कि

समाज का वर्गीकरण अनिवार्य रूप से उत्पादक शक्तियों के आधार पर किया जाना चाहिए।

देखें : अर्नेस्टो चे ग्वेवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8 और 9, निष्क्रिय क्रांति, फ़्रेड्रिख एंगेल्स, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, कम्युनिस्ट पार्टियों-1, 2 और 3, भारतीय इतिहास लेखन-4 और 5, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ़्रांस्वा-चार्ल्स मारी फ़ूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ़्रेञ्ज फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1, 2, 3, 4 और 5, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1, 2, 3, और 4, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सांस्कृतिक क्रांति, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, वर्ग और वर्ग-संघर्ष, क्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. आर.एफ़. एल्किंसन (1989), *नॉलेज ऐंड एक्सप्लेनेशन इन हिस्ट्री*, लंदन.
2. एफ़. पार्किन (1989), *मार्क्सिज़म ऐंड क्लास थियरी*, 1989, जे सैविले, लंदन.

— नरेश गोस्वामी

मार्क्सवादी समाजशास्त्र

(Marxist Sociology)

मार्क्सवाद समाजशास्त्र के प्रमुख प्रतिमानों में से एक है। लेकिन इस अनुशासन से उसके रिश्ते का इतिहास थोड़ा जटिल है। आधुनिक समाजशास्त्र के दोनों प्रमुख संस्थापक वेबर और दुर्खाइम मार्क्स की धारणाओं के आलोचक थे, और उनकी स्थापनाएँ मार्क्स की प्रमुख प्रपत्तियों का स्पष्ट खण्डन करती हैं। इसकी प्रतिक्रिया में मार्क्सवादियों के बीच बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में ही यह बहस छिड़ गयी थी कि मार्क्स और उनके वाद को समाजशास्त्र के आईने में देखा जाए या नहीं। रूसी मार्क्सवादी सिद्धांतकार निकोलाई बुखारिन ने जब 1921 में *हिस्टोरिकल मैटेरियलिज़म : अ सिस्टम ऑफ़ सोसियोलॉजी* की रचना की तो लूकाच, ग्राम्शी और कोर्श जैसे सिद्धांतकारों ने इस स्थापना का विरोध किया। बुखारिन ने अपनी इस किताब में वेबर और दुर्खाइम

के विमर्श की आलोचनात्मक जाँच की थी। पर लूकाच और ग्राम्शी ऐतिहासिक भौतिकवाद को इतिहास के दर्शन की तरह ही दिखाना चाहते थे, न कि समाजशास्त्र की एक प्रधान प्रवृत्ति के रूप में। यह रवैया उत्तरोत्तर कड़ा होता गया और कम्युनिस्ट पार्टियाँ समाजशास्त्र को पूँजीपति वर्ग की सेवा करने वाला शास्त्र करार देने लगीं। मार्क्सवादियों ने कहना शुरू कर दिया कि समाज-विज्ञान के दायरे में मार्क्सवाद बूज्वा समाजशास्त्र के मुकाबले खड़ा हुआ है। परिणामस्वरूप बीसवीं सदी के मध्य तक रूस और चीन समेत लगभग सभी समाजवादी देशों में समाजशास्त्र को पाठ्यक्रम से निकाल दिया गया। पार्टियों का कहना था कि छात्रों के लिए ऐतिहासिक भौतिकवाद का अध्ययन करना पर्याप्त है। इसी वजह से मार्क्सवाद और समाजशास्त्र का जो सर्जनात्मक संश्रय होना चाहिए था, वह समाजवादी खेमे और कम्युनिस्ट पार्टियों के दायरे के बाहर पश्चिम के विश्वविद्यालयों में ही हुआ।

मार्क्सवादी समाजशास्त्र के विकास में एक और बाधा आयी जो ग़ैर-मार्क्सवादियों की पैदा की हुई थी। पश्चिम के अकादमीय संस्थानों में मार्क्सवाद के अध्ययन को लेकर काफ़ी समय तक हिचक का माहौल रहा। इसकी एक वजह स्तालिनकालीन सोवियत संघ की राजनीति के कारण आम तौर पर मार्क्सवाद को सोवियत हितों का पर्याय मान लेना था। दूसरे, सोवियत मार्क्सवाद के बोलबाले के कारण पश्चिमी मार्क्सवाद की समृद्ध बौद्धिक परम्पराएँ दब गयी थीं। तीसरे, द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद समाजशास्त्र का जो अनुशासनात्मक ढाँचा बना उसने प्रयासपूर्वक खुद को मार्क्सवादी प्रभावों से दूर रखा था। इन्हीं वजहों से समाजशास्त्र की इस धारा का विकास देर से हुआ। इसकी पहली व्यवस्थित अभिव्यक्ति ऑस्ट्रो मार्क्सजम के रूप में सामने आयी जिसके विद्वानों ने पूँजीवाद के विकास, वर्ग-संरचना, क्रान्त, राज्य, राष्ट्रीयताओं और राष्ट्रवाद के विस्तृत समाजशास्त्रीय अध्ययन पेश किये।

समाजशास्त्रियों और मार्क्सवाद के बीच मुख्य तौर पर तीन तरह के संबंध हैं। पहले क्रिस्म के समाजशास्त्री वे हैं जो मार्क्सवादी विचार परम्परा के दायरे में रह कर समाजशास्त्रीय अंतर्दृष्टियों, अनुसंधान-पद्धतियों और सामान्य निष्कर्षों का इस्तेमाल करते हैं। लेकिन उन्हें फ़िक्क रहती है कि उनके अनुसंधान के नतीजे बाकायदा मार्क्सवादी हों। दूसरे क्रिस्म के समाजशास्त्री वे हैं जो मार्क्स द्वारा प्रस्तावित ऐतिहासिक दृष्टिकोण और समाज को समग्र नज़रिये से देखकर उसके विकास को प्रश्नांकित करने के वैचारिक साहस से प्रभावित हैं। लेकिन इन समाजशास्त्रियों को इस बात की चिंता नहीं है कि उनके निष्कर्ष मार्क्सवाद की श्रेणी में फ़िट होते हैं या नहीं। तीसरे क्रिस्म के



निकोलाई बुखारिन (हिस्टोरिकल मैटेरियलिजम : अ सिस्टम ऑफ सोसियोलॉजी)

समाजशास्त्री वे हैं जो मज़दूर वर्ग द्वारा क्रांति करने की अनिवार्यता से सहमत न होते हुए भी मार्क्सवादी विचार परम्परा के मुक्तिकामी तत्त्वों का आगे विकास करना चाहते हैं। फ्रेंकफ़र्ट स्कूल द्वारा प्रतिपादित क्रिटिकल थियरी इसी रवैये का परिणाम है।

मार्क्सवादी समाजशास्त्र के आधार में मुख्य तौर पर दो रवैये हैं। पहले रवैये को अर्थप्रधान या यांत्रिक कहा जा सकता है, और दूसरा रवैया संरचनावादी। अर्थवादी रवैया ज्यादातर आधार-अधिरचना के मार्क्सवादी रूपक का इस्तेमाल करता है। अर्थात् उसकी निगाह में सामाजिक विकास के आधारभूत कारण आर्थिक होते हैं, जिसकी अभिव्यक्तियाँ (जैसे संस्कृति) मूलाधार पर खड़ी अधिरचना के रूप में होती हैं। यह नज़रिया अपनाने वाले समाजशास्त्री इसी विधि से सामाजिक विकास के कार्य-कारण संबंधों और वर्ग-हितों के वस्तुगत फलितार्थों को रेखांकित करना पसंद करते हैं। इस अतिसरलीकृत रवैये के विपरीत फ्रांसीसी दार्शनिक लुई अलथुसे और उनके हमराही विद्वानों ने साठ के दशक में ग्राम्शी द्वारा प्रतिपादित वर्चस्व के सिद्धांत और मार्क्स की परवर्ती रचनाओं में आने वाले श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन के सिद्धांत की पुनर्व्याख्या करना पसंद किया। नतीजे के तौर पर ये लोग आधार-अधिरचना के बीच कहीं अधिक पेचीदा संबंधों को रेखांकित कर पाये। उन्होंने कहा कि भले ही

आर्थिक कारक अंततः निर्णायक साबित होते हों, पर अधिरचना के तहत आने वाले सांस्कृतिक आयाम सौ फ्रीसदी उनके मोहताज नहीं होते, बल्कि उनका विकास अपेक्षाकृत स्वायत्त होता है।

सत्तर के दशक में अमेरिकी समाजशास्त्र के दायरों में मार्क्सवाद का नये सिरे से उभार हुआ। इस परिघटना की पीछे चार प्रेरणाएँ थीं। पहली प्रेरणा के केंद्र में *मंथली रिव्यू* जैसी पत्रिका थी जो 1949 में स्थापित होने के बाद दो दशकों में धीरे-धीरे मार्क्सवाद से प्रभावित समाज-वैज्ञानिकों और गम्भीर पाठकों के बीच उत्तरोत्तर लोकप्रिय हो चुकी थी। इस पत्रिका ने मार्क्स के आर्थिक सिद्धांत का इस्तेमाल करते हुए विश्व-राजनीति में अमेरिका की साम्राज्यिक भूमिका का विश्लेषण करके समाजशास्त्र में हस्तक्षेप किया। दूसरी प्रेरणा उन मार्क्सवादी इतिहासकारों से प्राप्त हुई जिन्होंने अमेरिकी उदारतावाद की आलोचना करते हुए अमेरिकी इतिहास की वर्ग-आधारित पुनर्व्याख्या करके दिखाई। तीसरी प्रेरणा मार्क्सवाद के भीतर काम कर रहे हीगेलपंथियों और फ्रेंकफर्ट स्कूल द्वारा प्रतिपादित क्रिटिकल थियरी की परम्परा से निकली। चौथी प्रेरणा का स्रोत फ्रांसीसी संरचनावादी बने जो एक बार फिर से मार्क्सवादी सैद्धांतिकी को समाज के विज्ञान की तरह स्थापित करने की परियोजना चला रहे थे। इन प्रेरणाओं के आधार पर काम करने वाले मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों ने श्रम-प्रक्रिया, श्रम के अंतर्राष्ट्रीय विभाजन और वर्ग-संरचना पर विशेष ध्यान दिया। इसके साथ ही उन्होंने राज्य और उसके संकटग्रस्त होने पर शोध किया। उनका चौथा सरोकार संस्कृति और विचारधारा से जुड़ा था। इन समाजशास्त्रियों ने विश्व-प्रणाली की राजनीतिक अर्थव्यवस्था और निर्भरता सिद्धांत के इर्द-गिर्द भी अनुसंधान किये।

श्रम-प्रक्रिया के समाजशास्त्रीय विश्लेषण ने इस बात पर ध्यान दिया कि किस तरह श्रम की लागत कम करते जाना पूँजी का मुख्य ध्येय बनता जा रहा है जिसका परिणाम कभी तो श्रम के महत्त्व और गरिमा के क्षय में निकलता है और कभी श्रमिकों के बीच फूट पड़ जाती है। इस समाजशास्त्र ने श्रम-प्रक्रिया के आत्मगत पहलुओं पर ध्यान दिया जो एक नयी बात थी। उसने एक तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य भी विकसित किया जिसके तहत विभिन्न आर्थिक प्रणालियों के तहत चलने वाली कारखाना-व्यवस्था का विश्लेषण करके उसकी व्याख्या श्रम के नये अंतर्राष्ट्रीय विभाजन की रोशनी में की गयी। वर्ग-विश्लेषण के क्षेत्र में भी इस समाजशास्त्र ने नयी ज़मीन तोड़ने की कोशिश की। पहले के मार्क्सवादी जिन दायरों पर कतई ध्यान नहीं देते थे, उन पर काम किया गया। मसलन, वर्ग-संरचना में शहरी विकास, जातीयता, नस्ल और जेंडर की भूमिका प्रभुत्व के स्रोतों के

तौर पर रेखांकित की गयी। इसके साथ ही इन समाजशास्त्रियों ने यह भी देखा कि श्रमिक वर्ग भी अब पहले जैसा नहीं रह गया है। उसके भीतर एक मँझोला तबक़ा पनपने लगा है। क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए जिस सर्वहारा क्रांतिकारी चेतना और उस पर आधारित क्रांतिकारी कार्रवाई की तलाश की जाती रही है, वह इन नये तबक़े के उभार के परिणामस्वरूप आसानी से उपलब्ध नहीं है।

मार्क्सवादी और नारीवादी सैद्धांतिकियों के बीच नया रिश्ता बनाने की कोशिशें विवादास्पद साबित हुई हैं। पहले के मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों ने वर्ग और उत्पादन-विधियों की पारम्परिक सैद्धांतिकी में जेंडर को जोड़ने के लिए मेहनताना दिये बिना करवाये जाने वाले 'घरेलू श्रम' पर ध्यान दिया था। इसके जरिये वे यह दिखाने में कामयाब हो जाते थे कि सामाजिक पुनरुत्पादन की प्रक्रिया किस तरह चल रही है। लेकिन नारीवादी विद्वानों ने इस पर आपत्ति की और कहा कि जेंडर की अहमियत की क्रीमत पर वर्ग का महत्त्व स्थापित करने वाला यह हथकण्डा नहीं चलेगा। इसी कारण से नारीवादियों ने पुराने क्रिस्म के मार्क्सवादी समाजशास्त्र को सिरे से खारिज ही कर दिया। इसका समाजवादी नारीवाद की प्रतिष्ठा पर नकारात्मक असर पड़ा।

राज्य और उसकी संकटग्रस्तता के संदर्भ में मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों ने समृद्ध विमर्श की रचना की। इस सिलसिले में राल्फ मिलिबैंड और निकोस पूलांत्साज़ के बीच की बहस उल्लेखनीय है। मिलिबैंड का कहना था कि आर्थिक अभिजनों और प्रभुत्वशाली वर्ग की राजसत्ता के बीच एक वास्तविक तथ्यगत संबंध होता है। इसीलिए राज्य की संस्था वर्गीय हुकूमत का औज़ार बन पाती है। इसके जवाब में पोलांत्साज़ का तर्क था कि राज्य की भूमिका इन दोनों के बीच सुसंगति क्रायम करने की है जिसे निभाने के लिए उसे सापेक्षिक स्वायत्तता की ज़रूरत पड़ती है। इस तरह राज्य सामाजिक पुनरुत्पादन की दीर्घकालीन प्रक्रिया को अप्रत्यक्ष रूप से आगे बढ़ाता है। विकसित देशों में राज्य की संस्था के बार-बार आर्थिक संकट में फँस जाने पर भी गौर किया गया। मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों ने नतीजा निकाला कि एक तरफ़ पूँजी संचय का दबाव होता है, और दूसरी तरफ़ लोकोपकारी राज्य के औज़ारों का इस्तेमाल करके अर्थव्यवस्था के नकारात्मक पहलुओं का शमन करने की ज़रूरत होती है। राज्य इन दोनों की कैंची में फँस जाता है जिससे विपक्ष के वर्ग आधारित आंदोलनों की सम्भावनाएँ पैदा होती हैं।

संस्कृति और विचारधारा के क्षेत्र में मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों ने कला और साहित्य पर तो ध्यान दिया ही, शिक्षा और मीडिया पर उल्लेखनीय चिंतन किया गया। संरचनावादी मार्क्सवाद की प्रेरणाओं के आधार पर किया गया अनुसंधान स्कूली पाठ्यक्रम के छिपे हुए पहलू देखने में

कामयाब रहा। उसने बताया कि पूँजी को अपने हित के लिए जिस क्रिस्म के श्रम की जरूरत होती है, यह पाठ्यक्रम उसी आवश्यकता को ध्यान में रख कर बनाया जाता है। मीडिया की राजनीतिक आर्थिकी पर नये सिरे से विचार करते हुए इन शोधकर्त्ताओं ने मीडिया द्वारा उत्पादित सामग्री के विचारधारात्मक सार पर जोर देने के बजाय एक भिन्न प्रक्रिया को रेखांकित किया जिसके तहत मीडिया अपने उपभोक्ताओं को ही बिकाऊ माल में तब्दील कर देता है।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफर्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोलशेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेञ्ज फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बार्खिन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. टॉम बॉटमोर (1975), *मार्क्सिस्ट सोसियोलॉजी*, मैकमिलन, लंदन.
2. निकोस पोलात्साज़ (1967), *पॉलिटिकल पॉवर ऐंड सोशल क्लासिज़*, अनु, तिमोथी ओ'हेगन, वर्सो, लंदन.
3. मार्टिन शॉ (सम्पा.) (1985), *मार्क्सिस्ट सोसियोलॉजी रिविज़िटेड: क्रिटिकल एसेसमेंट्स*, मैकमिलन, लंदन.
4. गोरान थरबर्न (1976), *साइंस, क्लास ऐंड सोसाइटी : ऑन द फ़ॉर्मेशन ऑफ़ सोसियोलॉजी ऐंड हिस्टोरिकल मैटीरियलिज़म*, न्यू लैफ़्ट, लंदन.
5. पॉल थॉमसन (1983), *द नेचर ऑफ़ वर्क : ऐन इंट्रोडक्शन टु डिबेट्स ऑन लेबर प्रोसेस*, मैकमिलन, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

मार्क्सवादी अर्थशास्त्र

(Marxist Economics)

आर्थिक विज्ञान के विचारक के रूप में कार्ल मार्क्स ने इंग्लैण्ड के क्लासिकल अर्थशास्त्र के सिद्धांतों को अपने विचारों का आधार बनाया है। उनका अधिकांश आर्थिक लेखन आलोचनात्मक लहजे में है। किसी नयी अर्थव्यवस्था और नये समाज का ब्लूप्रिंट पेश करने के बजाय वे पूँजीवाद की पैरोकारी करने वाले अर्थशास्त्रियों की आलोचना और सर्वहारा राजनीतिक अर्थशास्त्र का विकास करते हुए नज़र आते हैं। चूँकि मार्क्सवादी अर्थशास्त्र परिवर्तन की लम्बी अवधियों का विश्लेषण करने की कोशिश करता है, इसलिए उसे मार्क्सवादी इतिहास-लेखन और मार्क्सवादी समाजशास्त्र से अलग करके नहीं देखा जा सकता। मार्क्स के ज़्यादातर प्रमुख आर्थिक सिद्धांत पूँजी के पहले खण्ड में दर्ज हैं जिसका उपशीर्षक है : राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना। पूँजी के दूसरे और तीसरे खण्ड का प्रकाशन मार्क्स के निधन के उपरांत उनके नोट्स के आधार फ्रेड्रिख एंगेल्स द्वारा सम्पादित पांडुलिपियों के रूप में प्रकाशित हुआ। बाद में मार्क्स के अनुयायियों ने उनके आर्थिक विचारों का विकास करते हुए मार्क्सवादी अर्थशास्त्र का विस्तृत ढाँचा तैयार किया।

अधिशेष मूल्य : मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के केंद्र में अधिशेष मूल्य का सिद्धांत (थियरी ऑफ़ सरप्लस वेल्यू) है। अरस्तू द्वारा उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य के बीच किये गये अंतर और डेविड रिकार्डों द्वारा प्रवर्तित सापेक्ष मूल्य के श्रम सिद्धांत को आधार बनाते हुए मार्क्स ने कुछ मौलिक अंतर्दृष्टियाँ विकसित कीं। उन्होंने बताया कि उपयोग-मूल्य संबंधित पण्य (जिंस या वस्तु) के भौतिक गुणों पर निर्भर होता है जिसकी प्राप्ति उस वस्तु के उपभोग की प्रक्रिया में होती है। मार्क्स ने दिखाया कि विनिमय-मूल्य परिवर्तनशील होता है और समय व स्थान के मुताबिक बदलता रहता है। विनिमय के दौरान जो चीज़ समान रहती है वह है जिंसों में निहित श्रम। मार्क्स ने यह मानने से इनकार किया कि मज़दूर आलसी और कम कुशल होता है इसलिए अधिक उत्पादन करने के लिए उसे लम्बे समय तक काम करना चाहिए। उन्होंने 'सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-अवधि' की धारणा का प्रतिपादन किया और इसके लिए सामान्य उत्पादन, कार्यकुशलता के औसत स्तर और श्रम की गहनता को आधार बनाया। मानवीय क्षमता के बीच फ़र्क पर जोर देने के बजाय उन्होंने तर्क दिया कि कौशल की प्राप्ति प्रशिक्षण से हो सकती है। प्रशिक्षण के माध्यम से जटिल क्रिस्म का श्रम साधारण क्रिस्म के श्रम में बदल जाता है।

रिकार्डों का विचार था कि अधिशेष मूल्य उस समय पैदा होता है जब मजदूर की मजबूरी का फ़ायदा उठाते हुए पूँजीपति उसका श्रम कम दामों में ख़रीद लेता है। लेकिन मार्क्स ने श्रम और श्रम-शक्ति के बीच अंतर करके यह दिखाया कि अधिशेष मूल्य केवल मजदूरी ख़रीदने और बेचने के क्रम में हुई नाइंसाफ़ी का नतीजा नहीं है। अगर श्रम-शक्ति उसके सही मूल्य पर बेची जाए तो भी अधिशेष मूल्य उस श्रम द्वारा किये जाने वाले उत्पादन के भीतर पैदा हो जाता है। अर्थात् मजदूर का शोषण व्यक्तिगत धरातल पर मजदूर और मालिक के बीच हुए आदान-प्रदान पर निर्भर नहीं होता, बल्कि वह उत्पादन की प्रक्रिया में ही निहित है। शोषक और शोषित की हैसियत न्यायसंगत विनियम स्थापित करने से ख़त्म नहीं हो सकती। वह तो एक वर्गीय हैसियत है जो इस बात से तय होती है कि उत्पादन के साधनों पर किसका क़ब्ज़ा है।

मार्क्स ने अधिशेष मूल्य के परम और सापेक्ष पहलुओं की व्याख्या करने से पहले पण्यों और मुद्रा के संचार की रूपरेखा पेश की। इस प्रकार उन्होंने पूँजीवादी संचय की प्रकृति रेखांकित की और पता लगाया कि मजदूरी और मजदूर वर्ग के लिए उसके क्या फलितार्थ हो सकते हैं। उन्होंने कहा कि पूँजी के दो घटक होते हैं : अतीत में उत्पादित की जा चुकी वस्तुओं में निहित 'मृत' श्रम उसका स्थिर घटक होता है, और वर्तमान में किया जाने वाले से श्रम उसका परिवर्ती घटक बनता है। पूँजी जैसे-जैसे संचित होगी, परिवर्ती घटक में बढ़ोतरी होती चली जाएगी। नतीजतन मुनाफ़े की दर गिरेगी जिसे रोकने या बढ़ाने के लिए पूँजीपति को श्रम का और अधिक सघन दोहन करना पड़ेगा। चूँकि मजदूर अपने श्रम के परिणामस्वरूप पैदा होने वाले उत्पाद, उत्पादन के साधनों और उत्पादन की प्रक्रिया पर किसी भी क्रिस्म के नियंत्रण से वंचित होंगे, इसलिए उनके भीतर एक परायेपन का एहसास पनपने लगेगा। उसे अपनी ज़िंदगी चलाने के लिए जितना श्रम करना चाहिए, उससे कहीं ज़्यादा श्रम करवाया जाएगा। काम के घंटे बढ़ते चले जाएँगे और अधिक से अधिक अधिशेष मूल्य खींचा जाएगा।

संकट का सिद्धांत : आर्थिक विज्ञान में मार्क्स का एक और मौलिक योगदान संकट-सिद्धांत है। मार्क्स के लिए पूँजीवाद का आर्थिक संकट सीधे-सीधे सीमा से अधिक उत्पादन का फलितार्थ था। बाद में इसी आधार पर अर्थशास्त्रियों ने ट्रेड साइकिल थियरी का विकास किया जिसके मुताबिक हर दस साल में एक आर्थिक संकट आ सकता है। पूँजीवादी उत्पादन की प्रकृति ख़रीदने और बेचने की प्रक्रिया को अलग-अलग कर देती है जिसके कारण बिक्री से होने वाली आमदनी नयी ख़रीद में खर्च करने के बजाय जमा किये जाने की सम्भावना पैदा हो जाती है। अपने ज़माने के आर्थिक अनुभव पर गौर करते हुए मार्क्स ने कई उद्योगों की अलग-अलग वृद्धि दरों की जाँच करके ट्रेड साइकिल के

कारणों का विश्लेषण किया।

मार्क्स ने पूँजीवादी प्रणाली के तहत मुनाफ़े में आने वाली गिरावट को एक सामान्य नियम की तरह देखा, और साथ में कई तरह की प्रति-प्रक्रियाओं की भी शिनाख्त की। मार्क्स का ख़याल था कि पूँजीवादी प्रणाली के संकट को प्रमुख संकट और उसके अधीन या उससे निर्देशित होने वाले गौण संकटों के बीच बाँट कर देखना चाहिए। चूँकि सरकारी कोशिशें (कोई ढाँचागत सुधार या वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया) प्रणाली के बुनियादी चरित्र को नहीं बदलती, इसलिए संकट वास्तव में हल नहीं होता। मार्क्स के अनुयायियों ने संकट सिद्धांत को दो हिस्सों में बाँट कर विकसित करने की चेष्टा की है। पहला है संकट का सम्भावना-सिद्धांत जिसके तहत ऐतिहासिक कारणों के संयोग से पूँजीवाद अपने सामान्य संकट की तरफ़ जाता है। दूसरा है संकट का अनिवार्य-सिद्धांत जिसके तहत पूँजीवाद में अंतर्निहित प्रवृत्तियाँ उसे लाज़मी तौर पर सावधि संकट की तरफ़ ले जाती हैं। यह अलग बात है कि उस संकट के रूप स्थानीय परिस्थितियों और घटनाओं के संयोग के मुताबिक अलग-अलग होते हैं।

परवर्ती विकास : उन्नीसवीं सदी में पूँजीवाद के ऐतिहासिक विकास के अनुभव ने मार्क्सवादी अर्थशास्त्र की कई धारणाओं को प्रश्नांकित किया। ख़ास तौर से मार्क्स का यह दावा आलोचना का शिकार हुआ कि पूँजीवाद अपने ही अंतर्विरोधों से लाज़मी तौर पर ध्वंस की तरफ़ चला जाएगा। बीसवीं सदी में लेनिन ने पूँजीवाद के इजारेदार रूपों पर विशेष ध्यान दिया और साम्राज्यवाद को उसकी उच्चतम अवस्था की तरह चिह्नित किया। मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों द्वारा बहुराष्ट्रीय निगम की परिघटना के विस्तार का विश्लेषण किया गया। मार्क्सवादी आर्थिक सिद्धांतकारों ने राज्य की स्थिति और समुदाय की स्थिति (इसमें उन्होंने फ़र्म को भी शामिल किया) पर गौर करके यह समझने की कोशिश की क्या मार्क्सवादी आदर्श प्राप्त किये जा सकते हैं।

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पाल बरान, पॉल स्वीज़ी, मॉरिस डॉब और जोआन रोबिंसन ने मार्क्स के आर्थिक विचारों को आगे बढ़ाया। मूल्य सिद्धांत, वितरण के प्रश्न, पूँजीवाद के संकट की समझ और बहुराष्ट्रीय निगमों के ज़रिये पूँजीवाद के अंतर्राष्ट्रीय फैलाव की नयी व्याख्याएँ की गयीं। सोवियत समाजवाद की शुरुआती सफलताओं ने आर्थिक नियोजन की पद्धति को मार्क्सवादी अर्थशास्त्र का अंग बना दिया। एंगेल्स ने अपनी रचना *एंटी ड्यूहरिंग* में आर्थिक नियोजन की सम्भावनाओं की तरफ़ इशारा किया था। चीनी क्रांति के उत्तर-माओ दौर के अनुभव की रोशनी में बाज़ार समाजवाद की धारणा विकसित हुई। वैकासिक अर्थशास्त्र ने भी मार्क्सवादी विश्लेषण की श्रेणियों का इस्तेमाल किया। आंद्रे गुंदर फ़्रैंक ने निर्भरता सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए देशों को केंद्र व परिधि के बीच बाँटा। फ़्रैंक ने मार्क्सवादी

सिद्धांतों के माध्यम से दिखाया कि किस प्रकार केंद्रस्थ देश परिधि पर पड़े हुए देशों से अधिशेष मूल्य का दोहन करते हैं। हालाँकि मार्क्स ने अपनी रचनाओं में पूँजी के वित्तीय रूप की पहचान नहीं की थी, पर बाद में रुडोल्फ हिल्फरडिंग ने वित्तीय पूँजी का सिद्धांतीकरण किया जिसने मार्क्सवादी अर्थशास्त्र की मुख्य अवधारणाओं में अपनी जगह बनायी।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफर्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोलशेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेञ्ज फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मिखाइल मिखाइलोविच बारिखिन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. एम.सी. हॉवर्ड (1992), *अ हिस्ट्री ऑफ मार्क्सियन इकॉनॉमिक्स*, मैकमिलन एजुकेशन, बेसिंगस्टोक.
2. पी.एन. जुनानकर (1992), *मार्क्सिज़ इकॉनॉमिक्स*, फ़िलिप एन, डेडिंगटन.
3. कार्ल मार्क्स (1976), *कैपिटल : अ क्रिटीक ऑफ पॉलिटिकल इकॉनॉमी* (1867), अनुवाद : बी. फ़ाउक्स, पेंगुइन, हार्मड्सवर्थ.
4. मेघनाद देसाई (1979), *मार्क्सियन इकॉनॉमिक्स*, बेसिल ब्लेकवेल, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

मार्गरेट मीड

(Margaret Mead)

अमेरिकन सांस्कृतिक मानवशास्त्री मार्गरेट मीड (1901-1978) मानती थीं कि आदिम संस्कृतियों के अध्ययन के जरिये आधुनिक जगत की बेहतर समझ हासिल की जा सकती है। उनकी लोकप्रिय पुस्तकों, फ़िल्मों और पत्रिकाओं में स्तम्भ-लेखन ने मानवशास्त्र के प्रति जन-मानस में

दिलचस्पी पैदा करने का श्रेय जाता है। साठ और सत्तर के दशकों में अमेरिकी समाज में सेलेब्रिटी का दर्जा हासिल करने वाली वे सम्भवतः पहली मानवशास्त्री थीं। उन्होंने अपनी अनुसंधानजनित अंतर्दृष्टियों का इस्तेमाल करके स्त्री-पुरुष संबंधों, सांस्कृतिक परिवर्तन और नस्ली रिश्तों जैसी आधुनिक समस्याओं के जटिल पहलुओं पर रोशनी डाली। दक्षिण-पश्चिमी प्रशांत क्षेत्र और दक्षिण-पूर्वी एशिया की पारम्परिक संस्कृतियों के अध्ययन से निकले उनके निष्कर्षों ने साठ के दशक की यौन क्रांति को प्रभावित किया। मीड पश्चिम के पारम्परिक धार्मिक जीवन की सीमाओं में यौनिकता संबंधी लोकाचारों के विस्तार की पैरोकार थीं। सैद्धांतिक रूप से मीड का विमर्श अपनी सहयोगी विद्वान और मित्र रुथ बेनेडिक्ट की ही तरह मनोवैज्ञानिक मानवशास्त्र की श्रेणी में आता है। मानवशास्त्र की इस प्रवृत्ति को 'कल्चर ऐंड पर्सनैलिटी' के लक़ब से भी जाना जाता है। मीड की दिलचस्पी व्यक्तित्व पर पड़ने वाले सांस्कृतिक प्रभावों के अध्ययन पर थी। अपनी रचनाओं में वे बार-बार अपने गुरु फ्रेञ्ज बोआस द्वारा प्रतिपादित सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के सिद्धांत का सहारा ले कर संस्कृति के बहुलतावादी चरित्र पर जोर देती नज़र आती हैं।

मार्गरेट मीड का जन्म फ़िलाडेल्फ़िया, पेंसिलवानिया के एक क्वेकर ईसाई परिवार में हुआ था। उनके पिता पेंसिलवानिया विश्वविद्यालय में वित्त के प्रोफ़ेसर और माँ समाजशास्त्री थीं। 1924 में स्नातकोत्तर परीक्षा पास करने के बाद मीड ने कोलम्बिया विश्वविद्यालय में फ़्रांस बोआस और रुथ बेनेडिक्ट के साथ अध्ययन करना शुरू किया। अगले साल वे पोलिनेसिया में फ़ील्डवर्क करने गयीं और फिर न्यूयॉर्क सिटी स्थित अमेरिकन म्यूज़ियम ऑफ़ नेचुरल हिस्ट्री में उन्होंने नृशास्त्र के क्यूरेटर की भूमिका निभायी। न्यू स्कूल और कोलम्बिया विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र की प्रोफ़ेसर रहीं मीड ने तीन बार विवाह किया। उनके तीनों पति भी मानवशास्त्री थे। मीड का अपनी शिक्षक और सहयोगी रुथ बेनेडिक्ट के साथ बेहद अंतरंग संबंध था। इस रिश्ते के यौनिक पहलुओं के बारे में मानवशास्त्री हलकों में अक्सर चर्चा होती रहती है। लेकिन मीड ने अपनी सेक्शुअलिटी में लेस्बियन रुझानों की बात कभी स्वीकार नहीं की। 1960 में अमेरिकी मानवशास्त्र एसोसिएशन की अध्यक्ष भी रहीं।

मीड में एक ख़ास तरह की लेखन प्रतिभा थी जिसके कारण उनकी रचनाएँ मानवशास्त्रियों के साथ-साथ सामान्य पाठकों को भी पसंद आती थीं। उनकी पहली पुस्तक 'कमिंग ऑफ़ एज इन समोआ' किशोरावस्था में पैदा होने वाली बेचैनियों पर निगाह डालती है। मीड सवाल उठाती हैं कि यौवन की दहलीज़ पर खड़े हुए व्यक्ति की दिमागी उलझनें, तनाव और व्यग्रताएँ वयःसंधि की उपज होती हैं या उनके



मार्गरेट मीड (1901-1978)

स्रोत सांस्कृतिक होते हैं? ताऊ द्वीप पर स्थित छह सौ लोगों के समोआ समुदाय में फ़ील्डवर्क करते हुए मीड ने एक दुभाषिण की मदद से नौ साल से बीस साल की उम्र वाली 68 समोआ स्त्रियों से बातचीत की। उन्होंने नतीजा निकाला कि बचपन से वयस्कता तक की यात्रा के दौरान समोआ की किशोरियाँ उस तरह के जज़्बाती उथल-पुथल से नहीं गुज़रतीं जिसका सामना अमेरिकी किशोरियों को आम तौर से करना पड़ता है। 1928 में जब पहली बार यह पुस्तक प्रकाशित हुई तो कई पश्चिमी प्रेक्षकों को इसके कारण अच्छी खासी सांस्कृतिक ठेस लगी। मीड ने अपने अध्ययन में दिखाया था कि समोआन समाज में कौटुम्बिक व्यभिचार (इंसेस्ट) को सामान्य रूप से लिया जाता है। वहाँ की स्त्रियाँ जब-तब यौन क्रिया का आनंद लेती हुई अपनी शादी को टालती रहती हैं। लेकिन अंत में विवाह करने के बाद वे बाक्रायदा घर-परिवार बसा कर बच्चों का लालन-पालन करती हैं।

यौन क्रांति पर असर डालने वाली विख्यात रचना 'सेक्स ऐंड टेम्परेमेंट इन थ्री प्रिमिटिव सोसाइटीज़' में मीड ने साबित किया कि स्त्रियोचित और पुरुषोचित आचरण से संबंधित रूढ़-छवियों को सार्वभौम नहीं माना जा सकता। प्रत्येक समाज जिन गुणों को स्त्रीत्व या पुरुषत्व से जोड़ कर देखता है, वे उसके दोनों तरह के सदस्यों में पाये जाते हैं। वे अलग-अलग किसी एक लिंग के सदस्य में समान रूप से नहीं मिलते। मीड ने सौ मील की त्रिज्या के दायरे में रहने वाले तीन समुदायों (अरपेश, मुंडुगुमोर और शाम्ब्री) की

मिसालों से समझाया कि पहले दोनों समुदायों में पुरुषों और स्त्रियों के आचरण का प्रारूप आधुनिक समाज की अपेक्षाओं के अनुरूप था। तीसरे समुदाय में पुरुष सजधज कर खरीद-फ़रोख़्त करने जाते हैं और स्त्रियाँ ऊर्जावान, प्रबंधकीय और कामकाजी होती हैं। मीड ने दिखाया कि पापुआ न्यू गिनी के शाम्ब्री लेक क्षेत्र में बसने वाला समुदाय स्त्रियों के प्रभुत्व को मानता है। सम्भवतः पुरुष इस समाज पर अपना प्रभुत्व इसलिए स्थापित नहीं कर पाये थे कि ऑस्ट्रेलियायी प्रशासन ने युद्ध को प्रतिबंधित कर दिया था। मीड के अनुसंधान ने बताया कि अरपेश समुदाय में स्त्रियों और पुरुषों की फ़ितरत अमन-पसंद होती है। वे युद्ध करने के प्रति अरुचि रखते हैं। दूसरी तरफ़ उन्होंने मुंडुगुमोर समुदाय में इसकी उलट प्रवृत्तियाँ रेखांकित कीं। मीड का यह मानवशास्त्रीय आख्यान नारीवादी आंदोलन के लिहाज़ से मील का पत्थर साबित हुआ।

आदिम समाजों के अध्ययन से निकले सिद्धांतों की रोशनी में रुथ बेनेडिक्ट और मार्गरेट मीड के संयुक्त निर्देशन में समकालीन समाज के तहत राष्ट्रीय चरित्र के अध्ययन की परियोजना भी चलाई गयी। इस प्रोजेक्ट में उन संस्कृतियों का अध्ययन भी शामिल था जिनमें फ़ील्डवर्क करना व्यावहारिक रूप से सम्भव नहीं था। जापान, सोवियत संघ और पूर्वी युरोप के यहूदी समुदायों के 'दूर रह कर किये गये अध्ययनों' के आधार पर मीड ने नतीजा निकाला कि आणुविक युग में रूस के लोगों को अपने लिए खतरे के रूप में देखना अमेरिकियों की उनके प्रति नासमझी का परिचायक है।

मीड के आग्रहों के कारण ही अमेरिकी यहूदियों की कमेटी ने युरोप के यहूदी गाँवों के अध्ययन की परियोजना चलाई। अनुसंधानकर्ताओं के दिलों ने न्यूयॉर्क में रहने वाले प्रवासी यहूदियों से बड़े पैमाने पर इंटरव्यू लिये। इस अध्ययन के परिणामस्वरूप जो पुस्तक प्रकाशित हुई उसमें एक ऐसी यहूदी माँ की छवि दर्ज है जो अपनी संतानों से प्रेम तो पूरी शिद्दत से करती है, पर साथ में उन्हें किसी भी सीमा तक जा कर अपने नियंत्रण में रखने से भी नहीं चूकती। यह माँ अपने बच्चों में उनकी ख़ातिर किये गये त्याग-बलिदान के ज़रिये अपराधबोध तक जगा देती है। इस पुस्तक के निष्कर्षों का मानवशास्त्र की बहसों में लम्बे अरसे तक हवाला दिया जाता रहा।

9 जनवरी, 1979 को अमेरिका के राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने मीड को मृत्योपरांत प्रेसिडेंशियल मेडल ऑफ़ फ़्रीडम से सम्मानित करने का एलान किया। एक विशेष कार्यक्रम में उनकी बेटी को यह पदक संयुक्त राष्ट्र स्थित अमेरिकी राजदूत द्वारा भेंट किया गया। अमेरिका में मार्गरेट मीड के नाम पर कई शिक्षा संस्थाओं का नामकरण किया गया है।

मार्गरेट मीड द्वारा रचे गये मानवशास्त्रीय साहित्य को दो तरह की आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। अन्य मानवशास्त्रियों ने मीड पर आरोप लगाया है कि उनके अध्ययनों में लोकप्रियता का समावेश करने के चक्कर में विज्ञानसम्मत तथ्यों और विश्लेषण से हट जाने की प्रवृत्ति है। 1983 में न्यूजीलैण्ड के मानवशास्त्री डेरेक फ्रीमैन ने 'मार्गरेट मीड ऐंड समोआ : द मेकिंग ऐंड अनमेकिंग ऑफ ऐन ऐंथ्रोपोलॉजिकल मिथ' के माध्यम से मीड के प्रमुख निष्कर्षों की प्रामाणिकता को चुनौती दी। उन्होंने उस अनुसंधान की बची हुई सूचनाकार स्त्रियों के हवाले से दावा किया कि मीड ने उन्हें फुसला कर अपने मन-माफ़िक जवाब दिलवाये थे। इस आरोप पर मानवशास्त्रियों के बीच काफ़ी बहस हुई, लेकिन किसी सामान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सका। बहस में भाग लेने वाले कुछ विद्वानों ने फ्रीमैन की आलोचना को भी प्रश्नांकित किया है।

देखें : अल्फ्रेड लुइस क्रोबर, ऑग्युस्त कॉम्त, क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस, क्लाइफर्ड गीर्टज़, जार्ज जिमेल, टैलकॉट पार्संस, डेविड एमिल दुर्खाइम, पिएर बोर्दियो, फ्रेज़ उरी बोआस, मारसेल मौज़, मार्गरेट मीड, मिल्टन सिंगर, मैक्स वेबर, रुथ बेनेडिक्ट।

संदर्भ

1. मार्गरेट मीड (1928), *कमिंग ऑफ़ एज इन समोआ : अ साइकोलॉजिकल स्टडी ऑफ़ प्रिमिटिव यूथ फ़ॉर वेस्टर्न सिविलाइज़ेशन*, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. मार्गरेट मीड (1935), *सेक्स ऐंड टेम्परामेंट इन श्री प्रिमिटिव सोसाइटीज़*, रॉटलेज, लंदन.
3. रॉबर्ट कैसिडी (1982), *मार्गरेट मीड : अ वॉयस फ़ॉर द सेंचुरी*, युनिवर्स, न्यूयॉर्क.
4. डेरेक फ्रीमैन, (1983) *मार्गरेट मीड ऐंड समोआ : द मेकिंग ऐंड अनमेकिंग ऑफ़ ऐन ऐंथ्रोपोलॉजिकल मिथ*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, मैसाचुसेट्स.

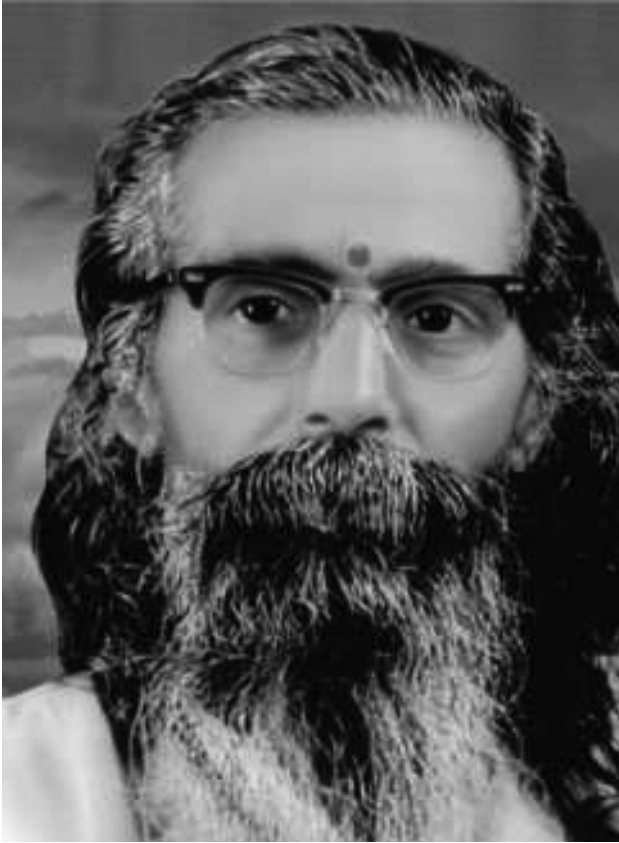
— अभय कुमार दुबे

माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर

(Madhavrao Sadashivrao Golwarkar)

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवार के उत्तराधिकारी माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर (1906-1973) हिंदुत्ववादी राष्ट्रवाद के शीर्ष संगठक और सिद्धांतकार थे। उन्होंने अपनी रचनाओं *वी ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाईंड* और *बंच ऑफ़ थॉट्स* के जरिये न केवल हिंदू-राष्ट्रवाद की उत्तर-सावरकर राजनीति को विचारधारात्मक आधार प्रदान किया, बल्कि पूरे तैंतीस साल तक संघ का नेतृत्व करके उसे एक मज़बूत राष्ट्रव्यापी संगठन बनाने में सफलता हासिल की। आज राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अगर सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में सक्रिय है तो इसका श्रेय अपने अनुयायियों के बीच गुरुजी के सम्बोधन से लोकप्रिय गोलवलकर की रणनीतिक कल्पनाशीलता और नियोजित प्रयासों को ही जाता है। संघ की राजनीतिक शाखा भारतीय जनसंघ, छात्र संगठन विद्यार्थी परिषद, ट्रेड यूनियन संगठन भारतीय मज़दूर संघ, विश्व हिंदू परिषद, सरस्वती शिशु मंदिर और ऐसे ही कई उल्लेखनीय संगठनों की नींव उन्हीं के निर्देशन और प्रेरणा का नतीजा है। गाँधी की हत्या के बाद संघ पर लगी पाबंदी के समय गोलवलकर को जेल भी जाना पड़ा, पर उन्होंने चतुरायी और कौशल के साथ अपने संगठन को इस संकट से निकाला। नब्बे के दशक में चले रामजन्मभूमि आंदोलन के प्रमुख नारे 'गर्व से कहो हम हिंदू हैं' का सूत्रीकरण गोलवलकर ने ही अपने कार्यकाल में किया था। गोलवलकर की देख-रेख में संघ ने पत्रकारिता और प्रकाशन के क्षेत्र में भी बड़े पैमाने पर नियोजित हस्तक्षेप किया।

गोलवलकर को जिस समय संघ की कमान मिली, भारत आज़ाद होने जा रहा था। अंग्रेज़ों के ज़माने में हिंदू-राष्ट्रवादियों का मक़सद क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर हिंदुओं का स्पष्ट राजनीतिक बोलबाला स्थापित करना था। पर आज़ादी के बाद उनकी यह कोशिश कमोबेश अप्रासंगिक हो गयी। बहुमत का शासन स्थापित हो जाने के कारण लोकतांत्रिक और सेकुलर तौर-तरीकों ने सत्ता के सोपानों पर हिंदुओं की अघोषित मौजूदगी की गारंटी कर दी। नयी परिस्थिति में गोलवलकर ने लोकतांत्रिक आधार पर बनने-बिगड़ने वाले बहुमत को हिंदू-बहुसंख्यकवाद के आधार पर स्थाई बहुमत में बदलने के लिए अपने लक्ष्यों और रणनीतियों को नया रूप दिया। उन्होंने कोई नया विचार देने की कोशिश करने के बजाय प्रचलित हिंदू-राष्ट्रवादी विचारों और आग्रहों को ही नया पैटर्न दे दिया। सावरकर का ज़ोर राजनीति पर



माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर (1906-1973)

था, पर गोलवलकर ने उनके सभी तर्कों को दोहराने के बावजूद राज्य के बजाय समाज के हिंदूकरण या भारतीयकरण पर बल दिया।

गोलवलकर उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के नेताओं के इस आग्रह से सहमत नहीं थे कि भारत एक निर्माणाधीन राष्ट्र है। उनका दावा था कि भारत तो पहले से ही हिंदुओं का एक सम्पूर्ण प्राचीन राष्ट्र है। गोलवलकर जिस हिंदू-राष्ट्र की परिकल्पना पेश करते हैं उसमें अल्पसंख्यक समुदायों के लिए किसी जगह का प्रावधान नहीं है। उनकी निगाह में यहूदी और पारसी जैसे अल्पसंख्यक इस देश में मेहमानों की तरह रहने आये थे, और मुसलमान और ईसाई हमलावरों की तरह। गोलवलकर की मान्यता थी कि बहुत कम संख्या में होने के कारण यहूदियों और हिंदू-मुख्यधारा में समरस हो जाने के कारण पारसियों से हिंदू-राष्ट्र को कोई खतरा नहीं है। लेकिन उन्होंने ईसाइयों और मुसलमानों के साथ-साथ कम्युनिस्टों की आंतरिक खतरे के मुख्य स्रोतों की तरह शिनाख्त की। गोलवलकर का सुझाव था कि हिंदुओं को अपनी प्रजातीय और सांस्कृतिक शुद्धता बचाने के लिए जर्मनी से सबक सीखना चाहिए जहाँ आर्य-रक्त की शुद्धता के लिए यहूदियों के सफाये की मुहिम चली थी। उनके इस सुझाव के कारण अक्सर उन पर नाज़ीवाद और फ़ासीवाद का भारतीय

संस्करण होने का आरोप लगाया जाता है। दिलचस्प बात यह है कि गोलवलकर यहूदियों के विरोधी के रूप में नहीं उभरते, बल्कि ईसाइयों के एंटी-सेमेटिक रवैये की आलोचना भी करते हैं। गोलवलकर ने इजरायल की स्थापना और यहूदियों द्वारा अपनी नस्ल, धर्म, संस्कृति और भाषा की रक्षा करने के प्रयासों की सराहना भी की है। सांस्कृतिक समरूपता के आधार पर राष्ट्र की संकल्पना करने के मामले में गोलवलकर पश्चिमी चिंतन के नज़दीक हैं। पर सामाजिक संरचना के प्रश्न पर वे समाज को सामाजिक समझौते के आधार पर व्यक्तिगत हितों का जोड़ मात्र नहीं मानते। गोलवलकर समाज को एक जीवंत विराट पुरुष की तरह परिभाषित करते हैं जिससे फूटने वाली सामाजिक चेतना समान रूप से सभी व्यक्तियों में प्रवाहित होती है।

गोलवलकर का जन्म 19 फ़रवरी, 1906 को नागपुर के निकट रामटेक में एक विपन्न ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे पढ़ाई में शुरू से ही तेज़ थे। मैट्रिक करने के बाद उन्होंने नागपुर के मिशनरी हिसलॉप कॉलेज में दाखिला लिया जहाँ ईसाइयों के धर्म-प्रचारक रवैये की उन्होंने हिंदुओं के लिए एक प्रमुख खतरे के रूप में शिनाख्त की। गोलवलकर ने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में विज्ञान की डिग्रियाँ हासिल कीं, लेकिन आर्थिक संकट के कारण वे समुद्री जीव-जगत पर थीसिस नहीं लिख पाये। 1931 में उन्हें काशी विश्वविद्यालय में जीव-विज्ञान के प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति मिली। युवावस्था से ही गोलवलकर की दिलचस्पी विज्ञान के साथ-साथ धार्मिक दर्शन और योगाभ्यास में भी थी। विश्वविद्यालय में संघ की पहली शाखा खोलने वाले भैयाजी दानी ने गोलवलकर की भेंट डॉ. हेडगेवार से करायी। गोलवलकर की संतों जैसी शिखरियत और चिंतनशील प्रकृति से प्रभावित हो कर हेडगेवार ने उनमें भविष्य का नेता देखा। 1931 में वे काशी के संघचालक बनाये गये। हेडगेवार ने ही उन्हें कानून की पढ़ाई करने का सुझाव दिया। 1932 में नागपुर लौट कर गोलवलकर ने एलएलबी की परीक्षा उत्तीर्ण की। नागपुर में वे रामकृष्ण मिशन में नियमित रूप से जाते थे। 1935 में गोलवलकर को अकोला में होने वाले संघ प्रशिक्षण शिविर का इंचार्ज बनाया गया। 1937 में उन्होंने रामकृष्ण मिशन के स्वामी अखण्डानंद के हाथों संन्यास की दीक्षा ली।

1939 में हेडगेवार ने उन्हें संघ का सरकार्यवाह नियुक्त किया। अगले साल लम्बी बीमारी के बाद संघ के संस्थापक का निधन होने के 13 दिन बाद जब उनका छोड़ा हुआ लिफ़ाफ़ा खोल कर पढ़ा गया तो उसमें गोलवलकर को नया संघचालक बनाने का निर्देश था। इससे पहले समझा जा रहा था कि अप्पाजी जोशी को हेडगेवार का उत्तराधिकारी बनाया जाएगा।

सरसंघचालक बनने से पहले ही गोलवलकर स्वामी विवेकानंद के शिकागो व्याख्यानों का मराठी में अनुवाद करने के अलावा और संघ के दर्शन को व्याख्यायित करने वाली पुस्तक *वी ऑर अवर नेशनहुड डिफाइंड* की रचना कर चुके थे। गोलवलकर के नेतृत्व में संघ ने तेजी से प्रगति की। उन्होंने अंग्रेजों के विरोध में संघ के स्वयंसेवकों को आंदोलन में न उतारने की हेडगेवार द्वारा स्थापित नीति को दृढ़तापूर्वक जारी रखा। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान भारत छोड़ो आंदोलन में भाग लेने के बजाय संघ जापानी आक्रमण की सूरत में हिंदुओं को बचाने के लिए चिंतित था। युद्ध के बाद पैदा होने वाली साम्प्रदायिक राजनीति के लिए पेशबंदी करना गोलवलकर का दूसरा मुख्य सरोकार था। इन्हीं प्राथमिकताओं के कारण संघ ने हिंदू महासभा की राजनीति से खुद को स्पष्ट रूप से अलग कर लिया। गोपाल गोडसे जैसे कई वरिष्ठ स्वयंसेवकों को यह नीति पसंद नहीं आयी। इसीलिए चालीस के दशक में संघ को कुछ नये लेकिन राजनीतिक संघर्ष में विश्वास करने वाले कहीं अधिक उग्र हिंदू संगठनों से होड़ करनी पड़ी।

1940 से 48 तक की अवधि संघ के लिए निरंतर प्रसार-प्रचार की थी। उस समय तक देश के तक्ररीबन सभी प्रांतों में उसकी शाखाएँ लगने लगी थीं। लेकिन गोलवलकर को पहले संकट का सामना उस समय करना पड़ा जब 30 जनवरी, 1948 को नाथूराम गोडसे ने गाँधी की गोली मार कर हत्या कर दी। गोलवलकर ने फौरन इस हत्या की निंदा की और 13 दिन के लिए सभी शाखाओं का संचालन स्थगित कर दिया। 3 फ़रवरी को गोलवलकर गिरफ़्तार कर लिए गये। इससे ठीक पहले वे संघ को अस्थायी रूप से भंग करने की घोषणा कर चुके थे। पाबंदी के दौरान निष्ठावान स्वयंसेवक अध्ययन मण्डलों और क्रीड़ा क्लबों की आड़ में बैठकें करते रहे। सारे देश में बड़े पैमाने पर संघ के नेताओं की गिरफ़्तारियाँ हुईं। कुछ जगहों पर संघ को गाँधी की हत्या से नाराज़ लोगों की हिंसा का सामना भी करना पड़ा।

गाँधी की हत्या की साजिश में शामिल होने का कोई सबूत न मिल पाने के कारण छह महीने की अवधि पूरी होने पर सरकार ने गोलवलकर को नज़रबंदी से रिहा कर दिया लेकिन साथ में उन पर नागपुर की सीमा से बाहर न जाने की पाबंदी भी लगा दी। अगस्त तक करीब बीस हजार गिरफ़्तार स्वयंसेवक भी छोड़ दिये गये। सितम्बर में गोलवलकर ने प्रधानमंत्री नेहरू को पत्र लिख कर संघ से प्रतिबंध हटाने का अनुरोध किया। उनका तर्क था कि संघ कम्युनिस्टों द्वारा चलाई जा रही वि-राष्ट्रीयकरण की गतिविधियों का प्रतिकार करने वाली प्रभावी ताकत है। जवाब में नेहरू ने उन्हें गृह मंत्री वल्लभभाई पटेल से सम्पर्क करने के लिए कहा। गृह मंत्री और गोलवलकर का पत्र-व्यवहार बताता है कि पटेल

की दिलचस्पी संघ के अनुशासित कार्यकर्ताओं को कांग्रेस में लाने की थी, जबकि गोलवलकर एक तरफ़ तो संघ के गैर-राजनीतिक चरित्र पर जोर देते रहे, और दूसरी तरफ़ उनका प्रस्ताव था कि संघ और सरकार की मिली-जुली ताकत कम्युनिस्ट प्रभाव को नेस्तनाबूद करने के लिए इस्तेमाल की जाए। 15 नवम्बर को उन्हें दोबारा गिरफ़्तार करके नागपुर जेल में डाल दिया गया। गोलवलकर को इसका अंदाज़ा पहले ही लग गया था और वे स्वयंसेवकों को पाबंदी का उल्लंघन करके शाखाएँ लगाने और शांतिपूर्ण सत्याग्रह करने करने का आदेश दे चुके थे। इसके बाद एक बार फिर कई स्तरों पर समझौता वार्ताएँ चलीं और गोलवलकर के नेतृत्व में निरंतर चले प्रयासों के फलस्वरूप 11 जुलाई, 1949 को सरकार ने संघ से प्रतिबंध उठा लिया।

संघ पर चले सरकारी दमन-चक्र ने गोलवलकर को राजनीति में सीधी भागीदारी न करने के अपने रवैये पर पुनर्विचार करने पर मज़बूर कर दिया। इसी के परिणामस्वरूप हिंदू महासभा के पूर्व अध्यक्ष डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के सहयोग से गोलवलकर ने भारतीय जनसंघ का गठन किया जिसका मक़सद सक्रिय राजनीति में भागीदारी के जरिये हिंदुत्ववादी उद्देश्यों का प्रचार करना था। 1964 में मुम्बई के संदीपनी आश्रम में विश्व हिंदू परिषद् के गठन के पीछे भी गोलवलकर की प्रेरणा और प्रयासों की ही भूमिका थी। 5 जून, 1973 को कैंसर की बीमारी से नागपुर में गोलवलकर का निधन हुआ।

संदर्भ

1. वाल्टर के. ऐंडरसन और श्रीधर डी. दामले (1987), *द ब्रदरहुड इन सैफ़ेन : द राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ऐंड द हिंदू रिवाइवलिज़म*, विस्तार पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
2. एम.एस. गोलवलकर, *वी ऑर अवर नेशनहुड डिफाइंड*, भारत पब्लिकेशंस, नागपुर, 1939.
3. एम.एस. गोलवलकर, *अ बंच ऑफ़ थॉट्स*, विक्रम प्रकाशन, बंगलुरु, 1966.

— अभय कुमार दुबे

मानवाधिकार

(Human Rights)

सत्तारूढ़ शक्तियों द्वारा किये जा सकने वाले अतिक्रमण से व्यक्ति के अधिकारों को बचाने की चिंताओं ने मानवाधिकारों की अवधारणा को जन्म दिया है। सत्रहवीं सदी में प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत का एक पहलू ऐसा था कि जिसके मुताबिक उन्हें 'मानवीय प्रकृति का मर्म' समझने के पीछे 'ईश्वर प्रदत्त' होने की धारणा थी। बीसवीं सदी के दौरान धार्मिक विश्वासों के प्रभाव में आयी गिरावट के फलस्वरूप प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांतों का सेकुलरीकरण हुआ और नतीजे के तौर पर उन्हीं सिद्धांतों ने द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद मानवाधिकारों के रूप में नया संस्करण प्राप्त किया। इसके तहत अधिकारों की एक ऐसी श्रेणी निर्धारित की गयी जिसे हर व्यक्ति (चाहे वह किसी भी राष्ट्र, धर्म, वर्ग, नस्ल या जेंडर का हो) को बिना शर्त केवल मनुष्य होने के नाते उपलब्ध होने का आग्रह स्थापित हुआ। ये अधिकार सार्वभौम, अपरिवर्तनीय और अविभाज्य माने जाते हैं। इन्हें किसी भी स्थिति में खारिज नहीं किया जा सकता। 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा द्वारा जारी मानवाधिकारों की सार्वभौम उद्घोषणा एक बुनियादी दस्तावेज़ है जिसमें ये अधिकार मूर्तिमान हैं। इसके बाद हुई कई संधियाँ और जारी किये गये कई मानवाधिकार दस्तावेजों ने इस दायरे को और समृद्ध किया है।

ऐतिहासिक संदर्भ में देखा जाए तो मानवाधिकारों का पहला जिक्र जर्मनी में 1525 के किसान युद्ध के दौरान जारी हुए 'ट्वेल्व आर्टिकल्स ऑफ ब्लैक फ़ोरेस्ट' में मिलता है। ये आर्टिकल किसानों के माँगपत्र का एक हिस्सा थे। 1689 में ब्रिटिश बिल ऑफ़ राइट्स के जरिये सरकार की कई उत्पीड़नकारी कार्रवाइयों को गैरक्रान्ती करार दिया जाना भी मानवाधिकारों के आग्रह के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। अठारहवीं सदी में हुई अमेरिकी क्रांति और फिर फ्रांसीसी क्रांति के रास्ते होता हुआ यह विमर्श उन्नीसवीं सदी तक पहुँचा। 1831 में विलियम लॉयड गैरिसन के लेखन में 'द ग्रेट कॉज़ ऑफ़ ह्यूमन राइट्स' जैसी अभिव्यक्ति का जिक्र मिलता है। उन्नीसवीं सदी में चली दास प्रथा विरोधी मुहिम ने भी मानवाधिकारों के मुद्दे को रेखांकित किया।

मानवाधिकारों की सार्वभौम उद्घोषणा में चौबीस से ज्यादा ऐसे अधिकार दर्ज हैं जिनका पालन करना प्रत्येक सरकार के लिए अनिवार्य माना जाता है। इन अधिकारों को छह श्रेणियों में बाँट कर समझा जा सकता है : हत्या, जन-संहार, बलात्कार और यातना जैसे अपराधों के मुकाबले

सुरक्षा पाने के अधिकार; आस्था, अभिव्यक्ति, संगठन, सभा और आंदोलन के अधिकार; प्रचार, एकत्रीकरण, प्रतिरोध, मतदान और सार्वजनिक पदों पर काम करने के जरिये राजनीति में भाग लेने के अधिकार; बिना मुकदमा चलाये कारागार में बंद रखने, ख़ुफ़िया मुकदमा चलाने और ज़रूरत से ज्यादा दण्ड देने के खिलाफ़ क्रान्ती प्रक्रिया में जाने का अधिकार; समान नागरिकता, क्रान्ती के समक्ष समानता और भेदभाव बर्दाश्त न करने का अधिकार; आर्थिक और सामाजिक अधिकार (जैसे, बेपनाह गरीबी और भुखमरी की स्थितियों में मदद पाने और बच्चों को शिक्षा मुहैया कराने का आग्रह)। इस उद्घोषणा में समूह-अधिकार शामिल नहीं हैं, पर बाद में हुई संधियों में उनका उल्लेख है। इनके अनुसार जातीय समूहों को जाति-संहार के मुकाबले सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है। साथ ही सभी देशों को अपने राष्ट्रीय भू-क्षेत्रों और संसाधनों के स्वामित्व का अधिकार भी मिला हुआ है।

मानवाधिकारों के सिलसिले में जिनेवा कन्वेंशन का उल्लेख करना आवश्यक है। रेड क्रॉस के संस्थापक हेनरी दुनांत के प्रयासों के फलस्वरूप यह कन्वेंशन स्वीकृत हुआ जिसके आधार पर युद्ध की स्थितियों में मानवाधिकारों की रक्षा सुनिश्चित करने को कोशिश की जाती है। मानवाधिकारों की यह पूरी प्रणाली संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् और संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार परिषद् द्वारा संचालित होती है। विभिन्न मानवाधिकार संधियों पर प्रभावी अमल की देख-रेख करने के लिए विश्व संस्था ने कई कमेटियों का गठन कर रखा है। इस सिलसिले में मानवाधिकारों के लिए संयुक्त राष्ट्र उच्चायुक्त का पद उल्लेखनीय है। क्षेत्रीय स्तर पर तीन मानवाधिकार संगठन कार्यरत रहते हैं : अफ्रीकन चार्टर ऑन ह्यूमन ऐंड पीपुल्स राइट्स, द अमेरिकन कन्वेंशन ऑन ह्यूमन राइट्स और युरोपियन कन्वेंशन ऑफ़ ह्यूमन राइट्स। एशिया के स्तर पर मानवाधिकारों की सुरक्षा की गारंटी करने वाला इस तरह का कोई राष्ट्रतर संगठन नहीं है।

मानवाधिकारों के सूचीबद्ध होने से उन्हें एक तकनीकी अनिवार्यता का आयाम मिल गया है। यह कहा जा सकता है कि मानवाधिकारों का मतलब उन राजनीतिक मानकों से है जिनके आधार पर सरकारों और संस्थाओं को व्यक्तियों के साथ सुलूक करना चाहिए। इस लिहाज़ से मानवाधिकार निजी स्तर पर व्यक्तियों के परस्पर आचरण का नियमन करने वाले सामान्य नैतिक मानकों से अलग होते हैं। लेकिन यह भी एक हकीकत है कि नस्ली और सेक्सुअल भेदभाव का निषेध करने वाले प्रावधान समाज और सरकार के सामने ऐसी कसौटियाँ पेश करते हैं जिन पर निजी जीवन और उसकी व्यवहार-शैलियों को खरा उतरना पड़ता है। जाहिर है कि केवल सूचीबद्ध हो जाने के कारण

अवधारणात्मक धरातल पर मानवाधिकारों की परिभाषा जटिलताओं से परे नहीं हो गयी है। इनकी संबंधित पेचीदगियों पर समाज-विज्ञान ही नहीं राजनीतिक व्यवहार की दुनिया में भी अक्सर बहस होती रहती है।

मसलन, अगर कोई राज्य जीवन के अधिकार को अनुलंघनीय मानता है तो फिर मृत्युदण्ड का प्रावधान क्यों क्रायम रखना चाहिए? ये उन सरकारों को किसी भी प्रकार के युद्ध में भाग लेने से बाज्र क्यों नहीं आना चाहिए, भले ही किसी विशेष परिस्थिति में युद्ध करना कैसी भी राष्ट्रीय आवश्यकता के तहत क्यों न आता हो? इसी तरह जीवन के अधिकार और आत्मरक्षा के अधिकार के बीच भी अंतर्विरोध पैदा हो सकता है। इसी तरह एक सवाल यह भी है कि सामाजिक न्याय का प्रत्येक प्रश्न और सुशासन का हर एक मुद्दा क्या मानवाधिकारों के तहत नहीं आना चाहिए? उदाहरण के लिए क्या आमदनी की ज़बरदस्त विषमता, उच्च शिक्षा के अपर्याप्त प्रावधान और अल्प-विकास की स्थितियों वाले देश में सरकारों पर मानवाधिकारों के उल्लंघन का आरोप लगाया जा सकता है?

इस बहस का कोई अंत नहीं है कि किन राजनीतिक मानकों को मानवाधिकारों की संज्ञा मिलनी चाहिए। कई राजनीतिक आंदोलन चाहते हैं कि उनके मुख्य सरोकारों को मानवाधिकारों के रूप में श्रेणीबद्ध कर लिया जाना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं, खास कर संयुक्त राष्ट्र संघ को लगातार इस मानवाधिकारों का दायरा विस्तृत करने का दबाव झेलना पड़ता है। इस स्थिति को 'मानवाधिकारों की स्फीति' की संज्ञा दी गयी है।

मानवाधिकारों की राजनीति की एक प्रमुख समस्या यह है कि अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार क़ानून एक ओर राष्ट्रीय सुरक्षा और मानवाधिकारों के बीच अंतर्विरोध होने की स्थिति में अपना प्रभाव खो देता है। इसी तरह यह क़ानून ग़ैर-सरकारी ताक़तों को अपने उल्लंघनों के लिए जवाबदेह ठहराने में अपेक्षाओं के मुताबिक़ सक्षम साबित नहीं हुआ है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, राजनीतिक दलों और अनौपचारिक क्रिस्म के संगठनों द्वारा किये जाने वाले मानवाधिकार हनन की रोकथाम के तौर-तरीक़े विकसित करने के लिए अभी विश्व-संस्थाओं को काफ़ी रास्ता तय करना है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अमेरिकी क्रांति, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, फ़्रांसीसी क्रांति, बहुसंस्कृतिवाद, भारत में मानवाधिकार, भारत में मानवाधिकार आंदोलन, थॉमस हॉब्स, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, नागर समाज : भारतीय बहस, रॉबर्ट नॉज़िक।

संदर्भ

1. फ्रेड्रिख पी. फ़ोरसाइथ (2009), *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ ह्यूमन राइट्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. चार्ल्स ब्लैटबर्ग (2007), *द आइरोनिक ट्रैजेडी ऑफ़ ह्यूमन राइट्स*, मेकगिल-क्वींस युनिवर्सिटी प्रेस, मॉंट्रियल और किंग्सटन.
3. जैक डोनेली (2003), *युनिवर्सल ह्यूमन राइट्स इन थियरी ऐंड प्रैक्टिस*, कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका और लंदन.
4. केविन जेक्सन, (1994) *चार्टिंग ग्लोबल रिस्पॉसिबिलिटीज़ : लीगल फ़िलॉसफ़ी ऐंड ह्यूमन राइट्स*, युनिवर्सिटी प्रेस ऑफ़ अमेरिका.

— अभय कुमार दुबे

मानव-प्रकृति

(Human Nature)

मनुष्य एक बेहद जटिल और बहुआयामी हस्ती है। उसकी रचना जैविक, भौतिक, मनोवैज्ञानिक, बौद्धिक, सामाजिक और सम्भवतः आध्यात्मिक तत्त्वों से मिल कर हुई है। इन्हीं में कुछ को विद्वानों ने प्राथमिकता के आधार पर प्राकृतिक और सहजात करार दे कर मानवीय प्रकृति को परिभाषित करने की कोशिशें की हैं। समाज-विज्ञान की दुनिया में मुख्य बहस यह है कि मानवीय प्रकृति का मूल अपविर्तनीय रूप से उसकी जैविकी में निहित है, या वह परिवर्तनशील है और सामाजिक अनुभव के हाथों अनुकूलित होती है। दोनों पक्ष मानते हैं कि अपने प्राकृतिक और सहजात गुणों से मनुष्य को पूरी तरह कभी अलग नहीं किया जा सकता। मतभेद सामाजिक अनुभव की भूमिका पर है। क्या मनुष्य सामाजिक अनुभव से सीख कर खुद को बदलता है? क्या उसकी यह बदलने की क्षमता उसके प्राकृतिक और सहजात गुणों पर निर्भर करती है? या उसके प्राकृतिक गुण या दोष ही उसे अंतिम तौर पर रचते हैं?

समाज-विज्ञान के कई बुनियादी सिद्धांतों के मूल में मानवीय प्रकृति की अलग-अलग व्याख्याएँ निहित हैं। मनुष्य के स्वभाव की समझ और राजनीतिक बंदोबस्त की विभिन्न संरचनाओं का आपस में गहरा संबंध है। मसलन, अगर यह पूछा जाए कि आखिर मनुष्य को राज्य जैसी नियंत्रणकारी संस्था की आवश्यकता क्यों पड़ती है, तो इस प्रश्न का उत्तर हॉब्स, गाँधी या अन्य विचारकों की उन धारणाओं में मिल सकता है जिनकी रोशनी में वे इनसान के स्वभाव का आकलन किया करते थे। थॉमस हॉब्स की मान्यता थी कि

मनुष्य प्राकृतिक रूप से स्वार्थी और दुष्ट होता है, इसलिए दूसरे मनुष्यों के साथ उसके सह-अस्तित्व के लिए जरूरी है कि उसकी लगाम एक सम्प्रभु शासक के हाथ में रहे। हॉब्स के मुताबिक मनुष्य और उसके समाज का कल्याण इसी में निहित है कि वह इस हकीकत को समझ कर अपना बंदोबस्त एक सर्वोच्च और अविभाज्य सत्ता के हवाले कर दे। दूसरी ओर गाँधी के विचार मानवीय प्रकृति के बारे में निराशाजनक थे। वे यह तो मानते थे कि इनसान बुराइयों और अच्छाइयों का मिश्रण है, पर साथ में उन्हें यह विश्वास भी था कि उसका रुझान अच्छाई की तरफ है और वह राज्य के दमनकारी तंत्र के अभाव में भी जिम्मेदारी के साथ निर्णय लेते हुए क्रदम उठा सकता है। इसीलिए गाँधी हॉब्स के विपरीत ऐसे राज्य के पक्ष में थे जो सामाजिक जीवन में न्यूनतम हस्तक्षेप करे।

हॉब्स और गाँधी से अलग अराजकतावाद के पैरोकारों की मान्यता है कि राज्य पूरी तरह से अनावश्यक बुराई है, क्योंकि वह मनुष्य को बाह्य नियम-क्रानुओं के अधीन करके उसके जीवट को अपने क्राबू में करना चाहता है। मनुष्य को केवल उन्हीं नियमों का पालन करना चाहिए जो वह खुद अपने लिए बनाता है। रूसी अराजकतावादी दार्शनिक पीटर क्रोपाटकिन मानवीय प्रकृति को ही सर्वोत्तम मानते थे। उनका विचार था कि राज्य के प्राधिकार का दूषित प्रभाव और पूँजीवाद द्वारा किया जाने वाला शोषण ही मनुष्य को उसकी मूलभूत श्रेष्ठता से भटकाता है।

हालाँकि मनुष्य की स्वार्थी और लालची प्रवृत्तियों के पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध हैं, पर समाजवादी चिंतकों का विचार है कि उसकी कैफ़ियत बुनियादी तौर पर आपसी सहयोग और सामाजिकता वाली है। उसके व्यवहार के नकारात्मक पहलू स्वाभाविक न हो कर उसकी सामाजिक परिस्थितियों के फलितार्थ हैं। कुछ ऐसे चिंतक भी हैं जो मानवीय प्रकृति के विचार को ही खारिज करते हैं। फ्रांसीसी अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्यॉ-पॉल सार्त्र के अनुसार ऐसी कोई इनसानी फ़ितरत होती ही नहीं है जिसके मुताबिक व्यक्ति अपना आचार-व्यवहार तय करता हो। मनुष्य का सार तो बाद में बनता है, उसका अस्तित्व पहले होता है। वह अपनी स्वतंत्रता का आनंद लेकर खुद को परिभाषित करता है जिसकी अभिव्यक्ति उसके कार्य-व्यवहार से होती है। किसी भी तरह की निर्धारित मानवीय प्रकृति के साथ उसे बाँधना उसकी इस आजादी का अपमान है।

जाहिर है कि सोच-विचार की दुनिया में मिलने वाले मानवीय प्रकृति के सभी मॉडल महज़ मानकीय (नॉर्मेटिव) हैं। उन्हें दार्शनिक और नैतिक पूर्वधारणाओं के आधार पर तैयार किया गया है। कई मॉडल एक-दूसरे का खण्डन या आंशिक समर्थन करते हैं। इन बहसों में सबसे बुनियादी विवाद है : मानवीय प्रकृति के निर्धारित होने का तर्क बनाम

उसके सामाजिक अनुभव द्वारा परिवर्तनशील होने का आग्रह।

दिलचस्प बात यह है कि मनुष्य के समाज-निर्धारित होने का तर्क तो राजनीतिक सिद्धांतों के मूल में है ही, उसके प्रकृति-निर्धारित होने का तर्क जीव विज्ञान की अवधारणाओं से प्रभावित होने के बावजूद अपने सामाजिक प्रभाव में पूरी तरह से राजनीतिक है।

मानवीय प्रकृति के जैविक सिद्धांत के शीर्ष पर चार्ल्स डार्विन की रचना *ऑन द ओरिजिन ऑफ़ स्पीशीज़* (1959) स्थित है। अपने युगांतरकारी शोध के जरिये डार्विन ने दिखाया है कि धरती पर मौजूद प्रजातियों की अनंत किस्मों का विकास क्रमहीन जेनेटिक म्यूटेशंस (उत्परिवर्तनों) के सिलसिले के तहत हुआ है। विकास की इसी प्रक्रिया में कुछ प्रजातियों को टिके रहने और मज़बूत होते जाने के गुण प्राप्त हो गये, जबकि कुछ कम भाग्यशाली प्रजातियाँ इन गुणों से वंचित हो कर नष्ट हो गयीं। समझा जाता है कि डार्विन को अपने इन निष्कर्षों के रैडिकल राजनीतिक फलितार्थों का एहसास था, पर उन्होंने कभी इस पहलू पर अपने विचार व्यक्त नहीं किये। लेकिन डार्विन की खोज के आधार पर सामाजिक डार्विनवाद का सूत्रीकरण हरबर्ट स्पेंसर ने किया। 'सरवाइवल ऑफ़ द फ़िटेस्ट' यानी मत्स्य न्याय का फ़िकरा रचते हुए स्पेंसर ने कहा कि जो शक्तिशाली होता है वही शीर्ष पर जाता है और बचता है, बाकी सभी नष्ट हो जाने के लिए प्रकृति द्वारा अभिशप्त होते हैं। स्पेंसर के अर्थ में सफलता-विफलता और अमीरी-ग़रीबी जैसे परिणाम किसी की भी जिंदगी के लिए जैविक रूप से तय हैं। इस नियम में फेर-बदल करना कुदरती क्रानून के साथ छेड़छाड़ करने के समान है जिसका नतीजा प्रजातियों के दुर्बल होने में निकलेगा। स्पेंसर के विचारों ने क्लासिकल उदारतावाद को गहराई से प्रभावित किया। इसी के आधार पर राज्य द्वारा आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करने का विरोध किया गया। सामाजिक डार्विनवाद के प्रभाव में ही यह फ़ासीवादी धारणा बनी कि दुनिया भर में विभिन्न राष्ट्र और प्रजातियाँ एक-दूसरे के खिलाफ़ अंतहीन संघर्ष में उलझे हुए हैं।

बीसवीं सदी में कोनार्ड लोरेज और निको टिम्बरगन ने पशुओं के व्यवहार का विस्तार से अध्ययन करके मानवीय प्रकृति से संबंधित सिद्धांत प्रस्तावित किये। इन अध्ययनों के प्रभाव में युद्ध और सामाजिक हिंसा के कारणों को खोजने की कोशिशें की गयीं। सत्तर के दशक में सामाजिक-जैविकी के अनुशासन का उदय हुआ और क्रम-विकासात्मक मनोविज्ञान उभरा। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र के इन आयामों के गर्भ से बायोटेक क्रांति निकली और मानवीय डीएनए पर पड़ा पर्दा हटा। रिचर्ड डॉकिंस ने 1989 में प्रकाशित अपनी रचना *द सेल्फ़िश जीन* के जरिये मनुष्य को 'जीन मशीन' के रूप

में दिखाया और दावा किया कि इनसान की खुदगर्जी और परोपकार का मूल उसकी जैविकी में निहित है।

जैविकी और समाज-विज्ञान के जोड़ से फ्रासीवादी आग्रह (आर्य नस्ल की शुद्धता का दावा) भी निकले हैं, और तात्त्विकतावादी नारीवाद की धारणाएँ भी सामने आयी हैं। रैडिकल नारीवाद की यह धारा दावा करती है कि स्त्री और पुरुष जैविक रूप से भिन्न हैं और उनकी इस भिन्नता ने दोनों लिंगों की प्रकृति को तात्त्विक तौर से अलग कर दिया है। 1975 में प्रकाशित अपनी रचना *अगोस्ट अवर विल* में सूसन ब्राउनमिलर कहती हैं कि सभी पुरुष सभी स्त्रियों पर एक जैविक प्रोग्रामिंग के तहत अपना प्रभुत्व जमाते हैं।

मानवीय प्रकृति को समाज-निर्धारित मानने वाले उसकी परिवर्तनशीलता में विश्वास करते हैं। उनके मुताबिक दरिद्रता, सामाजिक टकराव, उत्पीड़न, शोषण और नर-नारी विषमता के स्रोत जैविक न होकर सामाजिक हैं, इसलिए उनसे छुटकारा पाया जा सकता है। 1816 में प्रकाशित अपनी विख्यात रचना *अ न्यू व्यू ऑफ़ द सोसाइटी* में समाजवादी चिंतक रॉबर्ट ओवेन ने दावा किया कि किसी भी समुदाय में अच्छा या बुरा, ज्ञानी या अज्ञानी चरित्र विकसित किया जा सकता है। मार्क्स ने इसी विचार का विकास करते हुए अस्तित्व और चेतना के आपसी संबंध में अस्तित्व को चेतना का नियामक करार दिया। भौतिक परिवेश की निर्णायक भूमिका मानने के साथ-साथ मार्क्स ने यह भी कहा कि मनुष्य खुद तो बदलता ही है, लगातार अपनी दुनिया की शकल-सूरत बदलने में भी लगा रहता है। इस तरह उसके और उसके भौतिक संसार के बीच एक द्वंद्वात्मक संबंध है।

नारीवाद की संस्थापक सिमोन द बोउवार ने भी स्त्री के होने के बजाय स्त्री के स्त्री बनने का दावा करते हुए मनुष्य को सामाजिक कारकों द्वारा अनुकूलित होने का तर्क दिया है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, थॉमस हॉब्स, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवेटि, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गीयत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. विल किमलिका (1986), *लिबरलिज्म, कम्युनिटी एंड कल्चर*, पालग्रेव मैकमिलन, बेसिंगस्टोक.
2. एल. स्टीवेंसन (1990), *सेविन थियरीज ऑफ ह्यूमन नेचर*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. सी. बेरी (1996), *हमन नेचर*, पालग्रेव मैकमिलन, बेसिंगस्टोक.
4. मिहाइलो मारकोविक, 'ह्यूमन नेचर' (2000), टॉम बॉटमोर वगैरह

(सम्पा.), *अ डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट*, माया ब्लैकवेल, नयी दिल्ली.

5. थॉमस हॉब्स (1651), *लेवायथन*, एंड्रू क्रुक के लिए मुद्रित, लंदन.

—अभय कुमार दुबे

मानववाद

(Humanism)

ऐसी किसी भी विचार-प्रणाली को मानववाद कहा जा सकता है जो मानती हो कि मनुष्य हर चीज़ का मानक है। मानववाद मनुष्य की हैसियत, शक्ति, उपलब्धियों, सम्भावनाओं, रुचियों, सरोकारों और उसके प्राधिकार की संरचनाओं को अपना केंद्रीय सरोकार बनाता है। अपने इसी प्रबल आग्रह के कारण पश्चिम के मानववादी चिंतकों ने मनुष्य को इतिहास के केंद्र में कर्ता की तरह स्थापित किया। इस कर्ता की सार्वभौम हैसियत समाज-विज्ञान के दायरों में संरचनावादियों, उत्तर-संरचनावादियों और उत्तर-आधुनिकता के पैरोकारों द्वारा तरह-तरह से प्रश्नांकित की गयी है। मानववाद के कई रूपों में वैज्ञानिक मानववाद और समाजवादी मानववाद उल्लेखनीय हैं। ईसा से पहले पाँचवीं सदी में सोफ्रीवादियों और सुकरात ने दर्शन को स्वर्ग से पृथ्वी पर उतारने का आह्वान किया था। इसी के बाद से दार्शनिक मनुष्य को केंद्र बना कर सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक प्रश्नों पर विचार करने लगे। रिनैसाँ काल में यूनानी और लैटिन क्लासिकों का अध्ययन करने वाले कई विचारक खुद को मानववादी मानते थे, क्योंकि उनकी दिलचस्पी ईश्वर के बजाय इनसान में थी। नास्तिक न होने के बावजूद इन चिंतकों की निगाह में ईश्वर मानवीय जीवन के दैनंदिन रूपों का निकटतम नियंत्रक न हो कर एक दूरस्थ सृष्टिकर्ता और पालक था। ईश्वर को खारिज करने के बजाय दूर हटा देने के इस आग्रह ने पृथ्वी और ब्रह्मांड संबंधी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास को गुंजाइश पैदा की। उन्नीसवीं सदी में डार्विनवाद की युगप्रवर्तक सफलता ने धर्म के ऊपर विज्ञान की सत्ता स्थापित कर दी। इसी के बाद से मानववाद को निरीश्वरवाद और अज्ञेयवाद की रोशनी में परिभाषित किया जाने लगा। इस प्रक्रिया में वैज्ञानिक मानववाद उभरा जिसने प्रकृति और मानवीय प्रारब्ध की सभी धार्मिक व्याख्याओं को खारिज करके विज्ञानसम्मत बौद्धिक निष्कर्षों का महत्त्व स्थापित किया। बीसवीं सदी तक आते-आते मानववादी सभी तरह के धार्मिक विश्वासों और

धर्म संबंधी संस्थाओं की आलोचना करने लगे। दिलचस्प बात यह है कि इसके बावजूद निरीश्वरवाद और मानववाद में आंदोलन और संगठन के स्तर पर अंतर बना रहा।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद समाज-विज्ञान मानववाद के बारे में कई तरह की बहसों से गुँजता रहा है। जैसे, क्या कोई ऐसी सामान्य मानव-प्रकृति है जिसके अनिवार्य तत्त्वों को सभी मनुष्यों पर लागू किया जा सके? अगर ऐसी कोई प्रकृति है तो क्या वह मानव को कर्त्ता की तरह स्थापित करने में समर्थ है, एक ऐसे कर्त्ता के रूप में जो विवेक, चेतना और नैतिक प्रेरणा से लैस होता है? क्या मानव-प्रकृति को सामाजिक सिद्धांत की व्याख्यात्मक अवधारणा की तरह ग्रहण किया जा सकता है? अगर मानव-प्रकृति सामाजिक-ऐतिहासिक परिघटना का प्रमुख कारण है तो क्या मनुष्य को इतिहास के निर्माता के रूप में देखा जा सकता है? क्या इतिहास अपने-आप में एक मानवशास्त्रीय प्रक्रिया है? क्या मानववाद की अवधारणा सामाजिक स्थितियों की व्याख्या के लिए मानकीय आलोचना का ढाँचा मुहैया करा सकती है?

इन सभी प्रश्नों के इर्द-गिर्द होने वाले समाज-वैज्ञानिक विवादों का पहला युद्धोपरांत उद्घाटन 1947 में मार्टिन हाइडैगर की रचना 'लैटर ऑन ह्यूमनिज़म' से हुआ। इसमें हाइडैगर ने साल भर पहले किये गये उस दावे का खण्डन किया जिसमें ज्यॉ पॉल सार्त्र ने देकार्तियन *क्रोजिटो* को अस्तित्ववाद का प्रारम्भिक बिंदु और मानववाद का आधार करार दिया था। हाइडैगर ने तर्क दिया कि प्रत्येक मानववाद का आधार या तो तत्त्वमीमांसा में निहित है या वह खुद को किसी न किसी तत्त्वमीमांसा का आधार बना लेता है। हाइडैगर के अनुसार मानववाद मनुष्य की मानवता के साथ न्याय नहीं कर पाता क्योंकि मनुष्य की हैसियत स्वामी की न हो कर एक खेवनहार जैसी है।

मानववाद की यह दार्शनिक जाँच-पड़ताल हाइडैगर और सार्त्र के विवाद तक ही नहीं थमी। दो साल बाद सिमोन द बोउवार ने उसकी दावेदारियों को नारीवादी आईने में परख कर अपने मित्र सार्त्र के अस्तित्ववाद में छिपे हुए मर्दवादी रवैयों का पर्दाफाश किया। यह मानववाद पर पहला सीधा राजनीतिक हमला था। पचास के दशक में फ्रांस का औपनिवेशिक चेहरा अल्जीरियायी युद्ध में खुल कर सामने आया और बहुत से बुद्धिजीवियों ने 'क्लासिक ह्यूमनिज़म' की स्पष्ट निंदा की और सार्त्र पर नस्लवादी होने तक का इलज़ाम लगाया गया। इन बुद्धिजीवियों का प्रस्ताव था कि थमाये गये मानववाद की जगह एक 'सच्चे' मानववाद की स्थापना की जानी चाहिए।

फ्रांसीसी समाज-विज्ञान के हलकों में संरचनावाद के पैरोकारों ने तो खुद को मानववाद विरोधी सैद्धांतिकी के

प्रवक्ता के रूप में ही पेश कर दिया। इन विद्वानों में लकाँ, फूको, लेवी-स्ट्रॉस और अलथुसे प्रमुख थे। ये लोग मानवीय आत्मपरकता के किसी अनिवार्य और तात्त्विक रूप को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने एक सार्वभौम कर्त्ता के रूप में मनुष्य की भूमिका को खारिज कर दिया। सार्त्र को एक बार फिर आलोचना का निशाना बनाते हुए संरचनावादियों ने कहा कि मानववाद कर्त्ता को केंद्र बना कर तजवीज़ की गयी ज्ञानमीमांसा का नतीजा है। इसी के जरिये कर्त्ता इतिहास का विधेयक बन कर उभरता है और पश्चिम की ऐतिहासिक व सांस्कृतिक विशिष्टताएँ एक सार्वभौम आग्रह बना कर बाक़ी सभी पर थोप दी जाती हैं। 1962 में प्रकाशित अपनी रचना *द सेवेज माइंड* में लेवी-स्ट्रॉस ने विज्ञानसम्मत मानवशास्त्र को लाज़मी तौर पर साम्राज्यवाद विरोधी, ऐतिहासिकतावाद के खिलाफ़ और मानववाद-विरोधी करार दिया। उन्होंने रैडिकल घोषणा की कि मानव-विज्ञानों का अंतिम लक्ष्य विधेयक तत्त्वों की खोज के जरिये मनुष्य को रचने के बजाय उसका विसर्जन होना चाहिए। लेवी-स्ट्रॉस के इस विचार का फूको ने और अधिक रैडिकलाइज़ेशन किया।

पचास के दशक के आख़िर और साठ के दशक में मार्क्स द्वारा युवावस्था में किये गये लेखन को केंद्र बना कर मानववाद का एक मार्क्सवादी संस्करण लोकप्रिय हुआ। समाजवादी मानववाद के रूप में यह विचार एक तरफ़ तो पूँजीवादी उदारतावाद का विरोध करता था, और दूसरी तरफ़ स्तालिनवाद का। इसके पैरोकारों में सार्त्र, लूकाच, गोल्डमान और लेफ़ेब्र जैसे विद्वान थे। इन लोगों का कहना था कि उदारतावादी मानववाद परायेपन की कड़वी हक़ीक़त को रहस्य के आवरण में छिपा लेता है और स्तालिनवाद के हाथों मार्क्सवाद उत्पीड़क राज्य के तर्क में पतित हो जाता है। लेकिन समाजवादी मानववाद की गाड़ी ज़्यादा आगे नहीं बढ़ी क्योंकि अलथुसे ने संरचनावादी दृष्टिकोण के आधार पर यह मानने से इनकार कर दिया कि मानववाद में स्तालिनवाद के प्रभाव से मार्क्सवाद को मुक्त करने की जिम्मेदारी निभाने की क्षमता है। अलथुसे के विमर्श में संरचनावाद और मार्क्सवाद का जो मेल बना, वह मार्क्स की इस दलील के खिलाफ़ था कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता खुद होता है। अलथुसे के मुताबिक़ अस्मिता, आस्था-प्रणालियों और चेतना के रूप सामाजिक संबंधों द्वारा गढ़े जाते हैं।

संरचनावाद के बाद 1968 के बाद उत्तर-संरचनावाद का दौर आया। इसमें नीत्शे के विचारों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए फूको ने कहा कि किसी भी पाठ के अर्थ का उत्पादन और उसके आधार पर बनने वाली आत्मपरकता दरअसल समाज में चल रहे सत्ता संबंधी विमर्शों का नतीजा होती है न कि किसी स्वायत्त और सम्प्रभु कर्त्ता की कारिस्तानी। इसी

तरह देरिदा ने कहा कि ऐसा कोई कर्ता नहीं होता जो भाषा के दायरे के बाहर खड़ा हो और अपने मकसदों से भाषा का इस्तेमाल करता हुआ अर्थों की रचना कर रहा हो। देरिदा के दिखाया कि अर्थविषयक फ़िसलनें भाषा के भीतर ही घटित होती हैं।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, प्रौद्योगिकी, फ़ुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. टी. डेवीस (1997), *ह्यूमनिज़म*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.
2. ज्यॉ-पॉल सार्त्र (1946/1990), *एंग्लिस्टेंशियलिज़म ऐंड ह्यूमनिज़म*, अनु. फ़िलिप माइरेट, मेथ्युन, लंदन.
3. मार्टिन हाइडैगर (1947/1993), 'ए लैटर ऑन ह्यूमनिज़म', अनु. ग्रैंक ए. कैपुजी और जे. ग्लैन ग्रे, *बेसिक राइटिंग्स*, सम्पा. डी.एफ. क्रेल, रॉटलेज, लंदन.
4. के. सोपर (1986), *ह्यूमनिज़म ऐंड एंटी-ह्यूमनिज़म*, हचिंसन, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

मानवशास्त्र और मार्क्सवाद

(Anthropology and Marxism)

मानवशास्त्र के दायरों में रैडिकल ऐंथ्रोपोलॉजी या द्वंद्वत्मक ऐंथ्रोपोलॉजी या दार्शनिक ऐंथ्रोपोलॉजी का ज़िक्र सुना जा सकता है। मानवशास्त्र की यह प्रवृत्ति 'आदिम' को हेय और 'सभ्य' को श्रेष्ठ मानने का विरोध करते हुए 'प्राकृतिक' मनुष्य की तलाश पर जोर देती है। द्वंद्वत्मक ऐंथ्रोपोलॉजी यह भी चाहती है कि अपने अनुसंधानों के माध्यम से मानवशास्त्री अपनी ही सभ्यता की सतत आलोचना में भागीदारी करें। यह परिप्रेक्ष्य मार्क्स के शुरुआती लेखन ('इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल मैनुस्क्रिप्ट') और रूसो द्वारा की गयी आधुनिक समाज की आलोचना से प्रेरणा प्राप्त करता है। विद्वानों की मान्यता है कि पूँजीवादी समाज के प्रति अपनी बढ़ती हुई अरुचि के प्रभाव में मार्क्स और एंगेल्स प्राचीन समाजों के

विकास में गहरी दिलचस्पी दिखाने लगे थे। इसीलिए 1877 में अमेरिकी मानवशास्त्री लुइस हेनरी मोगन की रचना *एंग्लिस्ट सोसाइटी* के प्रकाशन के बाद मार्क्स ने तय किया था कि वे इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा की रोशनी में मोगन द्वारा निकाले गये निष्कर्षों की जाँच करेंगे। उस समय मार्क्स और एंगेल्स तत्कालीन नृशास्त्रियों द्वारा किये जाने वाले इस दावे से सहमत नहीं थे कि समाज और संस्कृतियाँ आम तौर पर क्रम-विकासीय ढंग से प्रगति करते हैं। मार्क्स इस लिहाज से प्राचीन समाजों की सराहना करते थे कि उनमें उत्पादन का लक्ष्य हमेशा मनुष्य-केंद्रित रहता था। मानव की प्राचीनता में 'शिशुवत' ताज़गी देखने वाले मार्क्स की निगाह में पूँजीवादी आधुनिकता 'गिरी हुई और भौंडी' थी। अपनी इन्हीं रुचियों के कारण मार्क्स ने मोगन के साथ-साथ माइने, लुबोक और कोवालेव्स्की जैसे अध्येताओं की रचनाओं पर भी ध्यान दिया। इसी दौरान मार्क्स ने अपनी नृशास्त्र संबंधी नोटबुक तैयार की।

मानवशास्त्र के इतिहास और मार्क्सवाद के संबंधों की जाँच करने पर इसी मुकाम पर एक दिलचस्प अंतर्विरोध सामने आता है। स्टेनली डायमण्ड का विचार है कि अपनी इन रुचियों के बावजूद उन्नीसवीं सदी में प्रचलित प्रगति के विचार के साथ अपनी प्रतिबद्धताओं के चलते मार्क्स शुरुआती संस्कृतियों की वास्तविक अवस्था के बारे में जानकारीयाँ हासिल करने को प्राथमिकता नहीं दे पाये। मार्क्स के निधन के बाद प्रकाशित 'परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति' में एंगेल्स ने भी यही दिखाया कि समाज अपने विकास के निचले चरण से ऊँचे चरण में अनिवार्य तौर से प्रगति करता चला जाता है। उन्होंने श्रम उत्पादकता, निजी सम्पत्ति और विनिमय के विकास का वर्णन किया और नातेदारियों पर टिके हुए पुराने समाज के बिखराव का ज़िक्र करते हुए वर्गों, वर्ग संघर्ष और राज्य की संस्था के उदय का आख्यान पेश किया। अपनी इस बहुचर्चित और बहुविश्लेषित रचना में एंगेल्स कुल मिला कर मोगन द्वारा प्रतिपादित सांस्कृतिक क्रम-विकासवाद के साथ ही खड़े नज़र आते हैं। सम्भवतः यही कारण है कि बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में जिस समय आधुनिक मानवशास्त्र का विकास हो रहा था, उस समय के प्रमुख विद्वानों फ्रेंज़ बोआस, ब्रोनिस्लाव मैलिनोव्स्की और रैडक्लिफ़-ब्राउन की रचनाएँ मार्क्सवाद का प्रभाव न के बराबर ही स्वीकार करती हैं। आख़िरकार उन्नीसवीं सदी में प्रचलित सांस्कृतिक क्रम-विकासवाद का खण्डन करके ही बोआस और उनके अनुयायियों ने बीसवीं सदी के मानवशास्त्र की नींव रखी थी। इस दौरान शायद गॉर्डन शिल्ड (जो मुख्यतः पुरातत्वशास्त्री थे) के अलावा मार्क्सवादी मानवशास्त्र का कोई और नमूना नहीं दिखाई देता।

बीसवीं सदी में साठ के दशक के बाद यह परिस्थिति बदलनी शुरू हुई और उत्तर अमेरिका में मानवशास्त्र के दो मार्क्सवादी संस्करण सामने आये : रैडिकल ऐंथ्रोपोलॉजी और संरचनावादी मानवशास्त्र। रैडिकल ऐंथ्रोपोलॉजी की मुख्य धारा मुख्यतः दो उद्देश्यों के इर्द-गिर्द विकसित हुई। उसका पहला मकसद पारम्परिक मानवशास्त्र और साम्राज्यवाद के बीच उस रिश्ते की आलोचना विकसित करना था जिसके तहत ऐंथ्रोपोलॉजी का इस्तेमाल औपनिवेशिक प्रशासकों को प्रशिक्षित करने के लिए किया जाता था। उसका दूसरा मकसद सोवियत नृशास्त्र पर आलोचनात्मक निगाह डालना था, क्योंकि सोवियत संघ की दिलचस्पी वर्तमान युग के आदिम समाजों का अध्ययन करने के बजाय 'प्राचीन' समाजों के बारे में जानकारीयाँ जमा करने में ज्यादा थी। इस तरह के पुरातात्विक और प्रागैतिहासिक तथ्यों के माध्यम से सोवियत संघ समाज के अनिवार्यतः पाँच चरणों में क्रम-विकास के सिद्धांत को सही साबित करना चाहता था।

मार्क्सवादी मानवशास्त्र का दूसरा संस्करण फ्रांसीसी संरचनावादियों के प्रभाव में विकसित हुए संरचनावादी मानवशास्त्र के रूप में उभरा। इसके मुख्य सिद्धांतकार क्लाँद लेवी-स्त्रॉस थे। इसने ब्रिटिश ऐंथ्रोपोलॉजी पर भी काफी असर डाला। मानवशास्त्र की इस शाखा में मॉरिस गोल्डियर, क्लाँद मीलासोक्स और इमैनुएल टेरे ने विशेष योगदान किया। इन लोगों की बौद्धिक परियोजना ऐतिहासिक भौतिकवाद से निकलने वाली अवधारणाओं की रोशनी में आदिम समाजों के अध्ययन से जुड़ी थी ताकि 'उत्पादन की आदिम विधियों' का सैद्धांतिक विश्लेषण किया जा सके।

इस तरीके से ये विद्वान उत्पादन-विधियों के सामान्य सिद्धांत को समृद्ध करना चाहते थे। आदिम समाजों की उत्पादन प्रणाली में नातेदारियों की भूमिका का विश्लेषण करके इस मानवशास्त्र ने कई तरह के परिप्रेक्ष्यों का विकास किया। लेवी-स्त्रॉस द्वारा किये गये मिथकों के अध्ययन से मार्क्सवादियों में कर्मकाण्डों (धर्मविधियों) और मिथकशास्त्र का अध्ययन करने के प्रति रुझान बढ़ा। आदिवासी समाजों और उनके नातेदारी संबंधों की जाँच करके मार्क्सवादियों ने प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन प्रणालियों के प्रति अपने सरोकारों को और साफ़ किया। इस तरह के अनुसंधानों और विश्लेषणों से एशियाटिक सोसाइटी के विचार से संबंधित उलझनों पर रोशनी पड़ी, और किसान समाजों की संरचना को और गहराई से समझने में मदद मिली।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, काशगार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का

समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. इमैनुएल टेरे (1969), *मार्क्सिज्म एंड 'प्रिमिटिव सोसाइटीज'*, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. स्टेनले डायमण्ड (सम्पा.) (1979), *टुवर्ड्स अ मार्क्सिस्ट ऐंथ्रोपोलॉजी*, मौटन, द हेग.
3. मॉरिस गोल्डियर (1973), *पर्सपेक्टिव्ज इन मार्क्सिस्ट ऐंथ्रोपोलॉजी*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
4. लॉरेंस क्रेडर (सम्पा.) (1972), *द इथ्नॉलॉजीकल नोटबुक्स ऑफ़ कार्ल मार्क्स*, वैन गोकुम.

— अभय कुमार दुबे

मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति

(Anthropology and Politics of Culture)

मानवशास्त्र संस्कृतियों और समाजों का भौतिक, भाषाई, पुरातात्विक और सांस्कृतिक अध्ययन करता है। उन्नीसवीं सदी में यह अनुशासन सांस्कृतिक क्रम-विकास के सिद्धांत की जकड़ में था। मानवशास्त्री उपनिवेशवादियों के बीच से आकर उपनिवेशित संस्कृतियों के बारे में जानकारीयाँ जमा करते थे। इस बौद्धिक उद्यम में उपनिवेशवाद को न्यायोचित ठहराने का रुझान स्पष्ट रूप से विद्यमान था। मानवशास्त्र के इतिहास को सकारात्मक दृष्टि से देखने वालों की मान्यता है कि बीसवीं सदी की शुरुआत में सांस्कृतिक सापेक्षतावाद का दृष्टिकोण अपना कर यह समाज-विज्ञान उदारतावादी और बहुलतावादी संस्करण में ढलता चला गया जिसके कारण उसे एक निष्पक्ष अनुशासन की आत्म-छवि मिल गयी। लेकिन यह धारणा उस बहस का समापन नहीं करती जो मानवशास्त्र के दायरे में चलने वाली संस्कृति की व्यापक राजनीति से जुड़ी हुई है। मानवशास्त्र के आलोचक आज भी कह रहे हैं कि यह अनुशासन पहले उपनिवेशवादियों के औजार की तरह काम करता था, और वि-उपनिवेशीकरण हो जाने के बाद पश्चिम के आधुनिकतावादी मूल्यों की कसौटी पर गैर-पश्चिमी संस्कृतियों को कसने की परियोजना चलाता है। उत्तर-आधुनिक विद्वत्ता के उभार और उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययनों के विकास के बाद मानवशास्त्र की ये आलोचनाएँ

पहले से कहीं ज्यादा आक्रामक हुई हैं। इनके मुकाबले मानवशास्त्र लगातार अपना बचाव करने के लिए मजबूर है।

आलोचकों के अनुसार मानवशास्त्र का बौद्धिक ढाँचा ही कुछ इस तरह का है कि वह किसी भी ग़ैर-पश्चिमी संस्कृति का अध्ययन उसकी अपनी शर्तों पर कर ही नहीं सकता। किसी संस्कृति के दायरे में अपनी विशिष्ट जीवन-शैली अपनाते हुए वास्तविक, जीवंत, अनुभूतिसम्पन्न और तात्पर्य निरूपण में सक्षम मनुष्यों को देख पाना उसके बस की बात नहीं है। एक मानवशास्त्री किसी संस्कृति के पास इस तरह से जाता है कि जैसे किसी 'अन्य' के पास जा रहा हो। संस्कृति उसके लिए मानवशास्त्रीय वस्तु में बदल जाती है। इस प्रक्रिया में उसका मानस अपने से भिन्न समाजों के जीवन की समरूपीकृत और विदेशज (एक्ज़ॉटिक) तस्वीर पेश कर देता है। यह चित्र आकर्षक तो होता है, पर इसमें दर्ज मनुष्यों पर खामोशी आरोपित कर दी जाती है। उनके बारे में जो आवाज़ सुनायी पड़ती है वह मानवशास्त्री की होती है। मानवशास्त्र द्वारा गढ़ी गयी इन 'वस्तुओं' को पश्चिमी मानस बोलने, सोचने और जानने में अक्षम मान कर ग्रहण करता है।

ज़ाहिर है कि आलोचकगण इस समाज-विज्ञान को उसकी उदारतावादी, बहुलतावादी और सापेक्षतावादी दावेदारियों के आड़ में देखने के लिए उस तरह तैयार नहीं हैं जिस तरह आधुनिक मानवशास्त्र के संस्थापक और अन्य महारथी (फ्रेंज़ बोआस, मारसेल मॉज़, क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस, मैलिनोव्स्की, मार्गरेट मीड और रुथ बेनेडिक्ट वगैरह) उन्हें दिखाना चाहते हैं। आलोचकों का कहना है सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के जिस सिद्धांत को बेहतर मानवशास्त्र का जिम्मेदार माना जाता है, वह दरअसल व्यवहार में ग़ैर-पश्चिमी संस्कृतियों का रुग्ण वि-देशजीकरण करने का रास्ता है। मानवशास्त्री पश्चिमी संस्कृति की दर्शनीय वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक सफलताओं को पैमाना बनाते हैं। बुनियादी रूप से अनुदार यह मानक अन्य संस्कृतियों की उपलब्धियों का सही आकलन करने से रोकता है।

इस प्रक्रिया में एक ज्ञानमीमांसक द्वि-भाजन उभरता है जिसमें पाले के एक तरफ़ 'श्रेष्ठ' पश्चिमी संस्कृति होती है और दूसरी तरफ़ बाक़ी संस्कृतियाँ। पश्चिम की दृष्टि से जो प्रौद्योगिकी 'अपरिष्कृत' है, उसे धार्मिक संरचनाओं की दुर्बलता, शक्तिहीन चिंतन, क्षयग्रस्त कर्मकाण्डों, कमज़ोर राजनीति और अर्थव्यवस्था का नतीजा मान लिया जाता है। सादी प्रौद्योगिकी स्तरहीन बौद्धिकता का पर्याय समझ ली जाती है। पश्चिम वैज्ञानिकता से सम्पन्न और उसका 'अन्य' जादू से गुज़र-बसर करता दिखाया जाता है। पश्चिम के पास इतिहास होता है, 'अन्य' के पास मिथक बताये जाते हैं। पश्चिम के पास अगर पुरोहित और वैज्ञानिक होते हैं तो 'अन्य' के पास झाड़-फूँक और तंत्र-मंत्र करने वाले ओझा

होते हैं। पश्चिम के पास दर्शन की शक्ति होती है, तो 'अन्य' के पास महज़ आस्था। पश्चिम साक्षर है, उसके पास लेखन की क्षमता है और वह व्यक्तिवाद से लैस है। इसके विपरीत 'अन्य' वाचिक परम्परा में जीता है और समुदाय की जकड़बंदी में कैद है। पश्चिम शासन और सरकार के दम पर व्यवस्थित रहता है, जबकि 'अन्य' को प्रधानों और मुखियाओं के फ़ैसलों पर निर्भर रहना पड़ता है। पश्चिम बुद्धिवादी के रूप में उभरता है जबकि उसका 'अन्य' चिंतन की उस अवस्था में दिखाया जाता है जब तर्कबुद्धि का विकास नहीं हुआ था।

इस प्रकार के आमने-सामने खड़े तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य से निकलने वाला विश्लेषण सांस्कृतिक सापेक्षतावाद की परियोजना का क्षय कर देता है। मानवशास्त्री आम तौर पर विज्ञान, धर्म, अर्थशास्त्र, राजनीति, समाज और नातेदारी की जिन अवधारणाओं को प्रासंगिक मान कर चलते हैं वे मुख्यतः पश्चिमी चिंतन और अनुभव की देन हैं। ग़ैर-पश्चिमी समाजों की सही समझ हासिल करने के लिहाज़ से ये औज़ार भोंथरे साबित होते हैं। आलोचकों का विचार है कि दावा कुछ भी किया जाए, इन औज़ारों के माध्यम से पश्चिमी मानस से लैस मानवशास्त्री 'अन्य' की स्थानीयता की समझ अपनी स्थानीयता के संदर्भ में हासिल करता है। उसकी अपनी स्थानीयता ही उसके लिए वह सार्वभौम मानक है जिसके आधार पर न केवल निष्कर्ष निकाले जाते हैं, बल्कि नृजाति-वर्णन भी किया जाता है। फ्रेंज़ बोआस द्वारा जिन सापेक्षतावादी इरादों की उद्घोषणा बीसवीं सदी की शुरुआत में की गयी थी, उन्हें इस पद्धति के रास्ते धरती पर नहीं उतारा जा सकता।

उत्तर-औपनिवेशिकता के अध्येताओं का आक्षेप है कि मानवशास्त्र आधुनिकतावादी वर्गीकरण के माध्यम से अधिकतर ग़ैर-पश्चिमी संस्कृतियों को पाषाणयुगीन या मध्ययुगीन क्रार दे कर दिक् और काल में जाम कर देता है। यह प्रक्रिया पारस्परिकता और आदर के साथ 'अन्य' के साथ किसी तरह का संवाद होने ही नहीं देती। इस तरह के संवाद के अभाव में मानवशास्त्री अपने अनुशासन की समस्याओं से वाकिफ़ ही नहीं हो पाता। इस तरह का मानवशास्त्र 'फ़र्स्ट वर्ल्ड' द्वारा चलाई गयी वैकासिक परियोजनाओं को वैचारिक दृष्टि से न्यायोचित ठहराने की सामग्री प्रदान करता है।

मानवशास्त्र की यह आलोचना अपने भीतर कई तरह की सच्चाइयों को समाहित किये हुए है। यह आलोचना मानवशास्त्रियों से उम्मीद करती है कि वे इस तरह के 'सांस्कृतिक फंडामेंटलिज़म' का पहलक़दमी ले कर सक्रिय प्रतिकार करें। बहुसंस्कृतिवाद, परासंस्कृतिवाद और पर-राष्ट्रवाद की जुमलेबाजी के बजाय मानवशास्त्रियों को सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्यों की बहुलता में विश्वास करना सीखना होगा।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइव्हेसी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. ऐन सालमोंद (1995), 'सेल्फ़ ऐंड अदर इन कंटेम्पेरी ऐंथ्रोपोलॉजी', आर. फ़ारदन (सम्पा.), *काउंटरवर्क्स : मैनेजिंग द डाइवर्सिटी ऑफ़ नॉलेज*, रॉटलेज, लंदन.
2. बी. मैकग्रेन (1989), *बियांड ऐंथ्रोपोलॉजी : सोसाइटी ऐंड द अदर*, कोलम्बिया युनिवर्सिटी, न्यूयॉर्क.
3. जोहानेस फ़ेबियन (1983), *टाइम ऐंड द अदर : हाउ ऐंथ्रोपोलॉजी मेक्स इट्स ऑब्जेक्ट*, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. मार्शल साहलिस (1976), *क्लचर ऐंड प्रेक्टीकल रीजन*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

— अभय कुमार दुबे

मानवेंद्र नाथ रॉय

(Manbendra Nath Roy)

अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन के विकास में अहम भूमिका निभाने वाले मार्क्सवादी सिद्धांतकार और रैडिकल ह्यूमनिज्म के प्रतिपादक मानवेंद्र नाथ रॉय (1887-1954) के राजनीतिक जीवन और उनके वैचारिक हस्तक्षेप की सबसे अहम घटना कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस से जुड़ी है। समाजवादी क्रांति के वैश्विक प्रसार की सम्भावनाओं और तत्संबंधी रणनीतियों पर चर्चा करने के लिए आयोजित की गयी कॉमिन्टर्न की इस दूसरी कांग्रेस का एक अहम मुद्दा यह था कि उपनिवेशों में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलनों के प्रति क्या रुख अपनाया जाए। कांग्रेस में पेश की जाने वाली अपनी थीसिस में लेनिन का मानना था कि सामाजिक-राजनीतिक चरित्र के लिहाज से उपनिवेशों में चल रहे आंदोलन बूज्वा धारणाओं से प्रभावित हैं। इसलिए कम्युनिस्टों को इन देशों में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलनों का समर्थन तो करना चाहिए लेकिन अपने विचारधारात्मक रुझान को इनसे अलग रखना चाहिए। लेनिन समझते थे कि उपनिवेशों में चल रहे आंदोलनों को एक मुकम्मल चीज़ न मान कर बाहर से

प्रभावित करके क्रांतिकारी तेवरों का समावेश कर सकने लायक संक्रमणशील प्रक्रिया की तरह देखा जाना चाहिए। इस तरह लेनिन का निष्कर्ष यह था कि कॉमिन्टर्न को औपनिवेशिक देशों के बूज्वा लोकतांत्रिक आंदोलनों में अपना विलय न करके उनसे एक अस्थाई गठजोड़ कायम करना चाहिए। लेकिन इस थीसिस को लेनिन आधिकारिक रूप देने से इसलिए संकोच कर रहे थे क्योंकि उन्हें उपनिवेशों की राजनीतिक परिस्थितियों का समुचित ज्ञान नहीं था। ऐसे में लेनिन ने रॉय को भी उपनिवेशों के मसले पर एक थीसिस तैयार करने का निमंत्रण दिया। हालाँकि रॉय की थीसिस मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की बुनियादी संकल्पनाओं पर ही आधारित थी परंतु अपने राजनीतिक निष्कर्षों में उनकी दलील लेनिन से ख़ासी अलहदा साबित हुई।

इस बहस में लेनिन का मानना था कि ऐशियाई देश मुख्यतः कृषि आधारित समाज हैं जबकि रॉय का विचार यह था कि भारत में बूज्वा वर्ग अन्य उपनिवेशों से कहीं ज़्यादा विकसित हो चुका है। उनका कहना था कि भारत में उद्योगीकरण की प्रक्रिया तेज़ से तेज़तर होती जा रही है इसलिए भारतीय बूज्वा मौजूदा अवसरों का अधिकतम लाभ उठाना चाहेगा। उनके इस वक्तव्य में यह बात निहित थी कि बूज्वा वर्ग का औपनिवेशिक सत्ता से सीधा टकराव नहीं है। तुलनात्मक रूप से उनका यह मत निश्चित तौर पर सटीक था। लेकिन मज़दूर वर्ग को लेकर उनका आकलन काफ़ी अतिरंजित था। रॉय भारतीय सर्वहारा को संख्या और राजनीतिक जागृति और समझदारी के लिहाज से बढ़ा-चढ़ा कर पेश कर रहे थे। उनका कहना था कि भारत में मज़दूर वर्ग तेज़ी से बढ़ रहा है। रॉय के इस सूत्रीकरण, बूज्वा वर्ग को आपेक्षिक रूप से कमज़ोर साबित करने तथा मज़दूर वर्ग को मज़बूत बताने की तार्किक निष्पत्ति उन्हें इस भविष्यवाणी की ओर ले जाती थी कि कांग्रेस जैसे बूज्वा संगठन अंततः सामंती और साम्राज्यवादी हितों के साथ समझौता कर लेंगे। ऐसे में राष्ट्रीय आंदोलन के लक्ष्य यानी राजनीतिक और आर्थिक मुक्ति का दायित्व सर्वहारा तथा बूज्वा वर्ग के रैडिकल हिस्सों के ख़ाते में जाएगा। इसलिए रॉय का मत यह था कि भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन को कांग्रेस और गाँधी के नेतृत्व में चलाये जा रहे मध्यवर्गीय राष्ट्रीय आंदोलन से कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए। बाद में रॉय ने अपनी किताब *इण्डिया इन ट्रांज़िशन* में भी यही प्रतिपादित किया कि औपनिवेशिक सरकार बढ़ते जन-असंतोष के कारण भारतीय बूज्वा को रियायतें देकर अपने पक्ष में करना चाहती है। हालाँकि लेनिन और रॉय की यह बहस 1920 में ही खत्म हो गयी थी लेकिन ये मसले कॉमिन्टर्न को लम्बे समय तक मथते रहे। अंततः कॉमिन्टर्न की इस कांग्रेस का बहुमत लेनिन के



मानवेंद्र नाथ रॉय (1887-1954)

पक्ष में गया जबकि रॉय के मत को कोमिन्टर्न के दस्तावेज़ में क्षेपक की हैसियत बरख़्शी गयी।

मानवेंद्र नाथ रॉय की शुरुआत एक अंतर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी के रूप में हुई और अंत एक ऐसे एकाकी चिंतक के रूप में कि जिसके बारे में यह भी साफ़ तौर पर नहीं कहा जा सकता था कि वह राजनीतिक है या आध्यात्मिक। राय की राजनीतिक दीक्षा भारत के तत्कालीन उग्रपंथी आंदोलन में हुई थी जो ब्रिटिश शासन को ताक़त के दम पर उखाड़ फेंकने में यत्नीन रखता था। इस आंदोलन के साथ रॉय का जुड़ाव बहुत लम्बा नहीं रहा। इस आंदोलन में उनकी भागीदारी का शीर्ष बिंदु यह था कि एक बार उन्हें बंगाल की खाड़ी में जर्मनी से आने वाले एक स्टीमर से हथियार हासिल करने की ज़िम्मेदारी दी गयी थी। लेकिन किसी वजह से यह योजना विफल हो गयी और कुछ समय बाद रॉय अमेरिका चले गये। समाजवादी सिद्धांतों से उनका सघन परिचय अमेरिका में ही हुआ। अमेरिका के बाद रॉय मैक्सिको पहुँचे जहाँ उन्होंने मेक्सिकन कम्युनिस्ट पार्टी के गठन में महत्वपूर्ण निभायी। यह जानना दिलचस्प होगा कि रूसी क्रांति के बाद नव-गठित कम्युनिस्ट इंटरनैशनल की दूसरी कांग्रेस में रॉय मेक्सिकन पार्टी के प्रतिनिधि के तौर पर ही मास्को पहुँचे थे। अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में रॉय की ख्याति का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि रूसी क्रांति के बाद 1920 में उन्हें भारतीय क्रांतिकारियों को प्रशिक्षण देने के लिए ताशकंद भेजा गया था। रॉय को भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के गठन की ज़िम्मेदारी दी गयी थी लेकिन यह काम बेहद जटिल साबित हुआ। खुद रॉय इस दिशा में कुछ ठोस पहल नहीं कर सके।

रॉय की यह समझ कॉमिन्टर्न की आधिकारिक रवैये से अलग थी लेकिन फिर भी कम्युनिस्ट आंदोलन में उनका प्रभाव ऐसा था कि 1927 में उन्हें कॉमिन्टर्न के प्रतिनिधि के तौर पर चीन भेजा गया जहाँ चीन की कम्युनिस्ट पार्टी अपना अस्तित्व बचाने के लिए लड़ रही थी। लेकिन सोवियत संघ और कॉमिन्टर्न के दिशा निर्देश भी चीनी कम्युनिस्ट पार्टी को अलगाव और पराजय से नहीं बचा सके। अगले ही साल कॉमिन्टर्न की छठी कांग्रेस में रॉय ने अपनी पुरानी थीसिस को फिर दोहराया कि भारत एक औद्योगिक देश बनता जा रहा है तथा वहाँ की कृषि व्यवस्था एक बुनियादी बदलाव से गुज़र रही है। इस थीसिस के आधार पर रॉय यह निष्कर्ष निकाल रहे थे कि जल्द ही भारत में बूज्वा वर्ग को पहले के मुक़ाबले ज़्यादा रियायतें दी जाएँगी। रॉय का यह भी मानना था कि इससे भारत में राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में वि-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा मिलेगा। रॉय की इस दलील पर ज़बरदस्त बहस-मुबाहिसा हुआ लेकिन अंततः उनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया गया। अपनी दलीलों, थीसिस और समझ के मामले में रॉय लगातार अकेले पड़ते जा रहे थे। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के मसले में भी उनकी भूमिका निरर्थक मानी गयी थी। इसलिए 1929 में उन्हें कॉमिन्टर्न से बर्खास्त कर दिया गया।

तीस के दशक में रॉय भारत वापस आये जहाँ उन्हें षड्यंत्र के पुराने मामलों में जेल में डाल दिया गया। तीसरे दशक में रॉय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हो गये। उनकी मंशा कांग्रेस को रैडिकल रूप देने की थी। लेकिन इस प्रयोग में विफल रहने पर उन्होंने कांग्रेस छोड़कर रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की। पर भारतीय राजनीति में उनकी यह पार्टी निष्प्रभावी रही। अंततः उन्होंने उसे भी भंग कर दिया और रैडिकल ह्यूमनिज़म नाम से एक ग़ैर-राजनीतिक आंदोलन का सूत्रपात किया। द्वितीय विश्व-युद्ध में रॉय ने इंग्लैण्ड का समर्थन किया पर अब तक उनका मार्क्सवाद से मोहभंग हो चला था और वे उदारवाद की ओर बढ़ने लगे थे।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में मानवेंद्र नाथ रॉय अपनी राजनीतिक उपलब्धियों और विरासत के लिहाज़ से एक विफल व्यक्तित्व माने जाते हैं। विद्वानों के अनुसार राष्ट्रीय आंदोलन में राजनीतिक सफलता के लिए जिन गुणों की दरकार थी वे उनमें अपने कई समकालीन और सफल नेताओं से कहीं ज़्यादा थे, लेकिन अपने मंसूबों और मक्रसदों में रॉय जिस क्रूर नकाम रहे वैसी विफलता भी शायद ही किसी के हिस्से में आयी हो। मसलन, कांग्रेस के अनेक नेता अपनी महत्वाकांक्षाओं, और नैतिक आदर्शों के मामले में उनसे कमतर और कई दफ़ा समझौतापरस्त तक दिखायी पड़ते थे लेकिन लोक-मानस में वे सफल नेता साबित होते हैं। इसी

तरह आंतक और हिंसा के बल पर ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ने का मंसूबा बाँधने वाले कई राजनीतिक व्यक्तित्व चाहे अपना इच्छित लक्ष्य हासिल न कर पायें हों लेकिन जनमानस में आज तक प्रतिष्ठित हैं। इसी तरह कम्युनिस्ट भी अपने निर्णयगत ऊहापोह और कई बार लोकवृत्त से सफाये के बावजूद राजनीति में टिके रहे। लेकिन रॉय न अपने जीवन में कोई लीक क्रायम कर सके, न अपने पीछे विचार और कार्यक्रम की कोई ऐसी विरासत छोड़ सके जो भविष्य की राजनीति को प्रेरित कर पाती।

विद्वानों का कहना है कि अपने मक्रसद और इरादे में रॉय के पास गज़ब की ताकत थी जिसे उन्होंने जनता के लिहाज़ से महत्त्वहीन मसलों पर खर्च कर दिया। उनके पास सांगठनिक क्षमता के साथ एक ऐसी तार्किकता भी थी जो अपनी दलील को राजनीतिक अर्थशास्त्र की भाषा में पेश करने में सक्षम थी। *स्क्राटिश लेबर जर्नल* में प्रकाशित उनके *ऐन इण्डियन कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* जैसे लेख को भारतीय राष्ट्रीय राजनीति को मार्क्सवादी नज़रिये से देखने का पहला सुसम्बद्ध उदाहरण माना जाता है। इसी तरह उनकी रचना *इण्डिया इन ट्रांज़िशन* को मार्क्सवादी विश्लेषण का शुरुआती दस्तावेज़ स्वीकार किया जाता है। लेकिन इसके बावजूद रॉय का क्रद एक छोटे से राजनीतिक गुट के अल्पचर्चित नेता से आगे नहीं बढ़ पाया।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में रॉय की भूमिका तथा उनकी मार्क्सवादी प्रस्थापनाओं की सूक्ष्म पड़ताल करने वाले विद्वानों का मानना है कि रॉय भारतीय राजनीति को इसलिए नहीं समझ पाये और उनका आकलन बार-बार इसलिए गलत साबित हुआ क्योंकि वे युरोपीय ज्ञानोदय की निष्पत्तियों से परे देख पाने में असमर्थ थे। रॉय की राजनीतिक चेतना पर युरोपीय इतिहास-बोध इतना हावी था कि भारत की विशिष्ट घटनाओं और परिस्थितियों में भी वे युरोपीय घटनाक्रमों का अक्स देखने लगते थे। मसलन, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं का मूल्यांकन करते हुए रॉय अक्सर उनकी तुलना फ्रांसीसी क्रांति के अलग-अलग किरदारों से करने लगते थे। और, जब उन्हें यह नेतृत्व अपने उदात्त फ्रांसीसी उद्धारण की बनिस्बत कमज़ोर या अप्रामाणिक लगता था तो वे इसे भारतीय परिस्थिति की ऐतिहासिक विशिष्टता न मान कर उसे फ़िज़ूल घोषित कर देते थे। इस तरह भारतीय राजनीति के संबंध में रॉय के निष्कर्ष युरोपीय संस्कृति से निर्धारित होते रहे। विद्वानों का मानना है कि अपने राजनीतिक चिंतन की इस युरो-केंद्रीयता के कारण रॉय गाँधी के रणनीतिक कौशल की सांस्कृतिक ताकत को भी समझने में नाकाम रहे। रॉय गाँधी की रणनीति को एक अर्थहीन रहस्यवाद मानते रहे और इस बात की पड़ताल नहीं कर सके कि सर्वहारा के हितों की अनदेखी के बावजूद गाँधी का नेतृत्व इन वर्गों को आंदोलित करने में क्यों सफल हो रहा था। रॉय की राजनीतिक दृष्टि इस मायने में पूर्व-निर्धारित कही जाएगी कि वे भारतीय

राष्ट्रीय आंदोलन को इतिहास का ऐसा रंगमंच मानते थे जहाँ केवल युरोपीय घटनाओं की पुनः प्रस्तुति ही हो सकती थी। चूँकि मानवेंद्र नाथ रॉय भारतीय राजनीति का कोई स्थानीय संदर्भ विकसित नहीं कर पाये इसलिए उनकी सैद्धांतिक स्थापनाएँ भी दूरगामी ढंग से सफल नहीं हो सकीं।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, माओ त्से-तुंग, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. सुदीप्त कविराज (1986), 'द हेट्रोनोंमस रैडिकलिज़म ऑफ़ एम.एन. रॉय', थॉमस पैथम तथा केनेथ एल. ड्यूश (सम्पा.), *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया*, सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
2. शंकर घोष, *सोशलिज़म, डेमोक्रेसी ऐंड नैशनलिज़म इन इण्डिया*, 1973

— नरेश गोस्वामी

मारसेल मौज़

(Marcel Mauss)

फ्रांसीसी विद्वान मारसेल मौज़ (1872-1950) को प्राक्-औद्योगिक और लघु संस्कृतियों में जादू, बलि और उपहारों के आदान-प्रदान का अध्ययन करके आधुनिक मानवशास्त्र को मानकीय रूप से समृद्ध करने का श्रेय जाता है। मौज़ ने अपना यह विमर्श उस ज़माने में रचा जब अमेरिका में फ्रेंज़ बोआस मानवशास्त्र के अनुशासन में पद्धतिमूलक और आनुभविक पहलुओं का समावेश कर रहे थे। इस लिहाज़ से मौज़ का नाम बोआस के साथ ही आधुनिक युग के दो सबसे महान मानवशास्त्रियों के रूप में लिया जाता है। आगे चल कर मौज़ के अध्ययनों ने संरचनागत मानवशास्त्र के संस्थापक क्लॉड लेवी-स्ट्रास पर भी गहरा असर डाला। विख्यात समाजशास्त्री एमील दुर्खाइम के भतीजे और शिष्य मौज़ पर समाजवादी विचारों का गहरा असर था, लेकिन वे अमेरिकी मानवशास्त्री मॉर्गन और ब्रिटिश मानवशास्त्री टायलर द्वारा स्थापित सांस्कृतिक क्रम-विकासीय अध्ययन की उस परम्परा



मारसेल मौज़ (1872-1950)

के सदस्य नहीं थे जिसने मार्क्स और एंगेल्स तक को अपनी ओर आकर्षित किया था। मौज़ ने दूसरे शोधकर्ताओं द्वारा जमा किये गये नृजातीय विवरणों की मदद से सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के समान प्रारूपों की पहचान करने की कोशिश की। अपनी महान रचना 'द गिफ्ट' में उन्होंने दिखाया कि उपहारों का लेन-देन पारस्परिक नैतिक दायित्व की एक ऐसी अनुभूति को जन्म देता है जो पूरे समाज को प्रभावित करती है। तोहफ़ा देने की मासूम सी लगने वाली कार्रवाई समाज के आर्थिक, विधिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों पर असर डाल कर एक सम्पूर्ण 'सामाजिक तथ्य' बन जाती है।

मारसेल मौज़ का जन्म इस्पिनाल, वोजेज़ (फ़्रांस) के एक यहूदी परिवार में हुआ था। उनके चाचा एमील दुर्खाइम यहीं अध्यापन करते थे। मौज़ दर्शन की पढ़ाई से शुरुआत की और फिर पेरिस जा कर तुलनात्मक धर्म और संस्कृत भाषा का अध्ययन करने लगे। 1896 में उनकी पहली रचना प्रकाशित हुई जिसके बाद उन्होंने कभी पीछे मुड़ कर नहीं देखा और एक के बाद एक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय कृतियाँ रचते चले गये। मौज़ ने जॉर्ज सोरेल के साथ मिल कर 'ल पॉप्युलैह', 'ल ह्यूमानीते', 'ल मूवमेंत सोसियालिस्त' जैसी वामपंथी पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया। 1901 के बाद से वे उनकी दिलचस्पी नृशास्त्र में बढ़ी और उन्होंने मानवशास्त्र में योगदान करना शुरू किया। प्रथम विश्व-युद्ध में मौज़ के कई दोस्त और सहयोगी मारे गये। कुछ ही दिनों बाद दुर्खाइम का भी देहांत हो गया। चूँकि दुर्खाइम ने फ़्रांस के स्कूली पाठ्यक्रम को बदलने की भूमिका निभायी थी, इसलिए युद्ध के बाद उनके शिष्यों के खिलाफ़ आवाज़ उठने लगी। इससे बचने के लिए मौज़ ने संस्थागत जिम्मेदारियों पर अधिक

ध्यान दिया और समाजशास्त्र, नृशास्त्र और मानवशास्त्र से जुड़ी संस्थाओं की स्थापना की। प्रथम विश्व-युद्ध के पहले और बाद में मौज़ ने सामीवाद विरोधी और नस्लवाद समर्थक राजनीति के खिलाफ़ जम कर संघर्ष किया।

'द गिफ्ट' में मौज़ ने दावा किया कि कोई तोहफ़ा कभी 'मुफ्त' में नहीं मिलता। मानव समाज का इतिहास बताता है कि तोहफ़ा आपसी लेन-देन को जन्म देता है। यह विनिमय आर्थिक भी हो सकता है, और राजनीतिक भी। यह विनिमय व्यक्तिगत भी हो सकता है, और सामाजिक भी। मौज़ सवाल पूछते हैं कि उपहार में दी जाने वाली वस्तु में आख़िरकार ऐसी कौन सी ताक़त निहित होती है जिसके कारण उसे लेने वाले के भीतर बदले में कुछ देने की कामना पैदा हो जाती है? उन्होंने उपहार देने की प्रक्रिया को आध्यात्मिक और भौतिक के जादुई दौराहे पर स्थित बताया और कहा कि उसे देने वाला केवल एक वस्तु का हस्तांतरण ही नहीं करता, बल्कि साथ में अपने वजूद का एक हिस्सा भी प्रदान कर देता है। विनिमय की प्रक्रिया के दौरान उपहार दोनों पक्षों के साथ अभिन्न हो कर एक सामाजिक बंधन को जन्म देता है जिसके तहत प्राप्तकर्ता का दायित्व उस समय तक पूरा नहीं होता जब तक वह बदले में कुछ न दे दे। ऐसा करने में विफल रहने पर प्राप्तकर्ता की प्रतिष्ठा और हैसियत पर तो आँच आती ही है, उसके आध्यात्मिक जगत में भी बेचैनियाँ पैदा हो जाती हैं। मौज़ ने बताया पोलिनीसिया में उपहार के बदले उपहार न देने का मतलब था अपना मानभंग करा लेना।

मौज़ ने उपहारों के आदान-प्रदान से उद्भूत तीन तरह के दायित्वों को इस प्रकार पेश किया है : उपहार देना अपने आप में एक दायित्व इसलिए है कि उसके जरिये सामाजिक रिश्तों को बनाने और बनाये रखने का शुरुआती आधार तैयार होता है; उपहार स्वीकार करना भी एक दायित्व है क्योंकि उसे टुकराने का मतलब होगा एक सामाजिक रिश्ते को टुकरा देना; और बदले में उपहार देना इसलिए एक दायित्व है कि उसके माध्यम से अपनी उदारता, प्रतिष्ठा और समृद्धि का प्रदर्शन किया जा सकता है।

मौज़ के उपहार-सिद्धांत का सबसे महत्वपूर्ण पहलू उपहार की 'अविभाज्यता' है। अर्थात् उपहार देने और लेने वाले के अस्तित्व का अभिन्न अंग हो जाता है। इस लिहाज़ से वह 'पण्य' नहीं रहता। पण्य बाज़ार में बिकने के लिए उत्पादित किया जाता है और बिकते ही उसका स्वामित्व पूरी तरह से एक हाथ से दूसरे हाथ में चला जाता है। पर उपहार हस्तांतरण के बावजूद देने वाले के प्रति 'पराया' नहीं होता। उपहार आधारित अर्थव्यवस्था में वस्तुएँ बिक्री हो जाने के बाद अपने पूर्व स्वामी से 'पृथक' नहीं होतीं। वे हमेशा एक दिये गये ऋज की भाँति रहती हैं। चूँकि देने वाले की

शरिखसयत उपहार से हमेशा जुड़ी रहती है इसलिए लेने वाला उसके प्रतिदान या अदायगी के लिए खुद को प्रतिबद्ध मानता रहता है। इससे लेने वाले और देने वाले के बीच परस्पर निर्भरता का संबंध बनता है। मौज़ कहते हैं कि जो उपहार 'मुफ्त' है यानी जिसके बदले कुछ नहीं दिया जाता, वह अपने आप में एक अंतर्विरोध है, क्योंकि वह सामाजिक रिश्ते कायम करने की भूमिका अदा नहीं करता। मौज़ के गुरु दुर्खाइम इससे पहले सामाजिक एकजुटता की अवधारणा का सूत्रीकरण कर चुके थे। मौज़ का कहना था कि उपहारों का विनिमय सामाजिक एकजुटता उपलब्ध कराने का माध्यम बनता है। दुर्खाइम द्वारा किये गये 'सामाजिक तथ्य' के सूत्रीकरण की रोशनी में ही मौज़ के एक शिष्य मॉरिस लीनहार्ट ने उपहार को एक 'सम्पूर्ण सामाजिक तथ्य' करार दिया, क्योंकि सामाजिक जीवन का कोई भी क्षेत्र उसके प्रभाव से अछूता नहीं रहता। यहाँ तक कि राजनीति में भी एक सम्भावित नेता उपहार के बदले निष्ठा की अपेक्षा करता है और अधिकतर मामलों में उसकी वह अपेक्षा पूरी होती है।

मौज़ के अध्ययनों ने मानवशास्त्र को गहराई से प्रभावित किया। लेकिन उपहार के विनिमय की प्रकृति से संबंधित उनके विख्यात सिद्धांत की आलोचना भी हुई। 'उपहार कभी मृत नहीं होता' जैसे दावे को झुटलाते हुए विद्वानों ने ध्यान दिलाया कि राहगीरों द्वारा भिखारियों को दिये जाने वाला धन 'मुफ्त' उपहार की श्रेणी में आता है। इस उदाहरण में देने और लेने वाले एक-दूसरे को नहीं जानते और दोनों को एक-दूसरे से दोबारा मिलने की भी कोई उम्मीद नहीं होती। भिखारी भीख देने वाले के प्रति कोई दायित्व महसूस नहीं करता। न ही यह विनिमय दोनों के बीच किसी तरह का सामाजिक संबंध स्थापित करता है। यह आलोचना कहती है कि मौज़ उपहार देने और स्वीकार करने की प्रक्रिया से पैदा होने वाले सामाजिक दायित्व को बढ़ा-चढ़ा कर पेश करते हैं। दरअसल जब तक इस दायित्व का कोई विधिक रूप न हो, वह सामाजिक यथार्थ का रूप ग्रहण नहीं करता। मौज़ की आलोचना में भारतीय जैन समुदाय के उदाहरण का भी इस्तेमाल किया गया है। जैन मुनि अपना पेट भरने के लिए जो भिक्षा ग्रहण करते हैं, उसके प्रति उनके मन में किसी कृतज्ञता का बोध नहीं होता। दरअसल वे उस भिक्षा को स्वीकार करने से इनकार करते रहते हैं और जब स्वीकार करते भी हैं तो उसके पीछे काफ़ी हिचक होती है। भिक्षा देने वाले परिवार के साथ उनका अनिवार्यतः कोई संबंध नहीं बनता। इस उदाहरण में देने और लेने की प्रक्रिया का विधेयक तत्त्व उपहार होता ही नहीं। लेने-देने से जुड़ी अनुभूतियों से जुड़ने का मतलब होगा जैन संन्यासी की तपस्या का भंग हो जाना। मौज़ ने 'द गिफ्ट' की रचना करने के अलावा एमील दुर्खाइम के साथ मिल कर 'प्रिमिटिव क्लासिफिकेशन' का लेखन किया। हेनरी ह्यूबर्ट के साथ उन्होंने 'आउटलाइन ऑफ़

जर्नल थियरी ऑफ़ मैजिक' और 'एसे ऑन द नेचर ऐंड फ़ंक्शन ऑफ़ सेक्रीफ़ाइस' की रचना की।

देखें : अल्फ्रेड लुइस क्रोबर, ऑग्युस्त कॉम्त, क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस, क्लिफ़र्ड गीर्टज़, जार्ज जिमेल, टैलकॉट पार्संस, डेविड एमील दुर्खाइम, पिएर बोर्दियो, फ्रेंज़ उरी बोआस, मारग्रेट मीड, मिल्टन सिंगर, मैक्स वेबर, रुथ बेनेडिक्ट।

संदर्भ

1. मारसेल मौज़ (1922/1990), *द गिफ्ट : फ़ॉर्मस ऐंड फ़ंक्शंस ऑफ़ एक्सचेंज इन आर्काइक सोसाइटीज़*, रॉटलेज, लंदन.
2. क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस (1950/1987), *इंट्रोडक्शन टु द वर्क ऑफ़ मारसेल मौज़*, रॉटलेज, लंदन.
3. मारसेल फ़ौरनर (1994), *मारसेल मौज़*, फ़ेयार्द, पेरिस.
4. ऐनेट वीनर (1992), *इनवेलिएनेबिल पज़ेशंस : द पैराडॉक्स ऑफ़ क्रीपिंग व्हाइल गिविंग*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

— अभय कुमार दुबे

मास-मीडिया

(Mass Media)

मीडियम (माध्यम) का बहुवचन है मीडिया। हर वह चीज़ मीडियम है जिसके जरिये किसी संदेश का सम्प्रेषण होता है। चित्रकार रंगों के माध्यम से बिम्बात्मक संदेश देते रहे हैं। पंद्रहवीं सदी से ही छापेखाने के जरिये किसी भी संदेश की प्रतियाँ तैयार करके उन्हें बहुत से लोगों तक पहुँचाया जाता रहा है। मीडिया में शुरू से शिक्षा, विज्ञापन, प्रचार और मनोरंजन की सम्भावनाएँ निहित थीं, पर इन्हें हकीकत का रूप देने की शुरुआत मोटे तौर पर बीसवीं सदी के तीसरे दशक में हुई जब राष्ट्रव्यापी रेडियो नेटवर्कों और बड़े पैमाने पर प्रसारित होने वाले समाचार पत्र और पत्रिकाओं से सांस्कृतिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत सूचनाएँ और विश्लेषण दूर-दूर तक पहुँचने लगा। आज मीडिया के दायरे में सिनेमा, टीवी, वीडियो, रिकॉर्ड किया हुआ म्यूज़िक और इंटरनेट भी शामिल हो गये हैं। मास-सोसाइटी के तहत सामुदायिक संबंधों से काफ़ी-कुछ कट चुके और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों में रचे-बसे इनसानों के मानस को मीडिया के ये सभी रूप गहराई से प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं।

दुनिया भर में मीडिया का वितरण और प्रवाह थोड़े से दैत्याकार कॉरपोरेशन नियंत्रित करते हैं। बीसवीं सदी के

आखिरी वर्षों में एनॉलॉग प्रौद्योगिकी से हट कर डिजिटल प्रौद्योगिकी को अपना आधार बना लेने के कारण मीडिया को दो हिस्सों में बाँट कर देखने की प्रवृत्ति उभरी है। डिजिटल से बाद के मीडिया को 'नये' के रूप में ग्रहण किया जा रहा है और 'पुराने' मीडिया-रूपों को व्यावसायिक और सांस्कृतिक रूप से बेकार माना जा रहा है। मीडिया के इन नये प्रौद्योगिकीय पहलुओं के कारण पहले से ही इजारेदार मीडिया-उद्योग की संरचना और भी केंद्रीकृत हुई है, लेकिन दूसरी ओर डिजिटल की वजह से ही मीडिया-रूपों की रचना-प्रक्रिया का अधिक लोकतंत्रीकरण भी हुआ है। डिजिटल प्रौद्योगिकी किसी भी मीडिया-उत्पादन की ठीक वैसी ही प्रतियाँ बनाने की क्षमता किसी को भी बहुत सस्ते में उपलब्ध करा देती है। एक सामान्य व्यक्ति डिजिटल के जरिये किसी भी मीडिया-उत्पाद को अपनी कल्पना के मुताबिक फेर-बदल करके अपना बना सकता है। नतीजे के तौर पर इसके कारण कॉपीराइट और मौलिकता की अवधारणाएँ पुनर्विचार के दायरे में आ गयी हैं। डिजिटल ने इंटरएक्टिविटी की जिन सम्भावनाओं को खोला है, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में मीडिया-उद्योग को सामग्री के उत्पादन में अपने उपभोक्ताओं की भूमिका की फ़िक्र करनी पड़ सकती है।

मनोरंजन, सूचना और विश्लेषण के रूप में अत्यंत विविध सामग्री परोसने वाले विशाल उद्योग के रूप में मास-मीडिया में कुछ समान विशेषताएँ देखी गयी हैं। इसके तहत सामग्री का प्रवाह मुख्यतः एक से अनेक की ओर है, और उसके उत्पादन में अनेक की भूमिका का तक्ररीबन कोई वजूद नहीं है। सामग्री का निर्माण किसी एक या गिनती करने लायक केंद्रों पर होता है और फिर वहाँ से उसका प्रसार अनगिनत दर्शकों, श्रोताओं और पाठकों तक संचार, परिवहन और बाज़ार की प्रक्रियाओं से किया जाता है। इसकी रचना आम तौर पर कुछ मानकीकृत विषय-वस्तुओं और शैलियों के इर्द-गिर्द उन्हें अदल-बदल कर की जाती रहती है। जैसे ही कोई विषयगत या शैलीगत नयी ज़मीन तोड़ी जाती है, मीडिया-उद्योग फ़ौरन उसे फ़ार्मूले में बदल कर उसकी पुनरावृत्ति में जुट जाता है। कहने के लिए मीडिया जन-रुचि और स्थापित नैतिकताओं को ध्यान में रख कर अपने उत्पाद तैयार करता है, पर इस विश्लेषण से जाहिर है कि वास्तव में यह सिलसिला एकतरफ़ा क्रिस्म का है। दर्शकों, श्रोताओं और पाठकों को मीडिया-उद्योग के तैयारशुदा माल में से ही अपने उपभोग के लिए जिसे चुननी पड़ती है। ऑडिंस के लिए उत्पाद-निर्माण की इस प्रक्रिया में भागीदारी की गुंजाइश न के बराबर ही रहती है।

मास-मीडिया की व्यापारिक संरचना बेहद ऊँची पूँजीगत लागत की देन है। इसलिए कुछ दैत्याकार कॉरपोरेशन

इसके ऊपर छाये हुए हैं। ये मीडिया-कॉरपोरेशन अपने इजारेदाराना रुझानों के लिए जाने जाते हैं। 2010 में दुनिया के सबसे बड़े मीडिया साम्राज्य की लगाम वाल्ट डिज़नी कॉरपोरेशन के हाथ में थी। इसके बाद न्यूज़ कॉरपोरेशन, टाइम वारनर और वाइकॉम का नम्बर आता है।

प्रौद्योगिकी बदलने से मीडिया उद्योग की संरचना पर प्रभाव पड़ता है। डिजिटल प्रौद्योगिकी के प्रभाव में विभिन्न मीडिया उत्पाद बनाने वाले उद्योगों के लिए अब अलग-अलग प्रौद्योगिकी आधारित उत्पादन ज़रूरी नहीं रह गया है। डिजिटल इनकोडिंग के माध्यम से एक ही चैनल पर चलती-फिरती और स्थिर छवियों, ध्वनि, टेक्स्ट और डेटा का संचार करना सम्भव हो गया है। जिस 'कनवर्जेंस' की चर्चा होती थी, उसे इस प्रौद्योगिकी ने सुलभ कर दिया। एक ही उपकरण (जैसे मोबाइल फ़ोन) में कम्प्यूटर, रेडियो, टीवी, इंटरनेट और म्यूज़िक सिस्टम जैसी सुविधाएँ मुहैया कराना मुमकिन है। परिणामस्वरूप विभिन्न कॉरपोरेशनों ने भूमण्डलीय पैमाने पर अपने विविध उत्पादों को नीचे से ऊपर तक (लम्बवत्) संकेंद्रित करना शुरू कर दिया। इसकी मिसाल न्यूज़ कॉरपोरेशन के रूप में देखी जा सकती है। यह कॉरपोरेशन एक साथ टेलिविज़न, प्रिंट और सिनेमा उद्योगों को तो नियंत्रित करता ही है, वह स्पोर्टिंग क्लबों और उन प्रतियोगिताओं को भी अपनी मर्जी से चलाता है जिनके कारण दर्शक वर्ग उसके मीडिया उत्पादों की तरफ़ खिंचते हैं।

डिजिटल प्रौद्योगिकी के प्रभाव का एक दूसरा पहलू भी है। नये मीडिया ने उपभोक्ताओं और मीडिया-निर्माताओं के बीच एकतरफ़ा संबंधों पर असर डालना शुरू कर दिया है। इसकी मिसाल इंटरएक्टिव कम्प्यूटर गेम्ज़ के रूप में देखी जा सकती है। इंस्टेंट कम्प्यूटर गेम्ज़ में उन्हें खेलने वालों की ज़रूरतों और माँगों का ध्यान रखना आवश्यक होता है। यह स्थिति एक से अनेक की ओर होने वाले मीडिया-वितरण और प्रवाह को अनेक से अनेक की ओर होने वाले प्रवाह में बदल सकने की सम्भावनाओं से सम्पन्न है। इस परिवर्तन के पत्रकारिता, टेलिविज़न और मास-मीडिया के अन्य पक्षों पर पड़ सकने वाले असर पर अभी पूरी तरह से गौर किया जाना बाकी है। इंटरनेट की तक्ररीबन असीमित अभिलेखागारीय क्षमताओं और उसकी तेज़ी से बढ़ती हुई ग्लोबल पहुँच ने भी मीडिया की दुनिया में रैडिकल सम्भावनाओं की सृष्टि की है। जिन पत्रकारों से पहले मीडिया-कम्पनियाँ केवल सूचना और अन्य सामग्री जमा करवाने का काम लिया करती थीं, वे अब नेट का फ़ायदा उठा कर खुद को सम्पादकों के रूप में देखने लगे हैं। वेब कैमरों के माध्यम से निजी जीवन की घटनाओं को साइबरस्पेस में प्रक्षेपित किया जा सकता है जिससे समाचार, सूचना और उनकी प्रामाणिकता की धारणाओं पर फिर से सोचने-विचारने की ज़रूरत महसूस की

जाने लगी है। डिजिटल के कारण मीडिया की सम्भावनाओं में आये परिवर्तन को समझने के लिए टीवी प्रसारण के नज़ारे पर एक नज़र डालना उचित होगा।

डिजिटल प्रौद्योगिकी ने टीवी देखने के सौंदर्यमूलक अनुभव में तो वृद्धि की ही है, उसके उपभोक्ताओं के सामने चयन और विविधता के नये क्षेत्र भी खुल गये हैं। अब टीवी का ब्रॉडकास्ट मॉडल पहले जैसा नहीं रह गया है। पहले थोड़े से चैनल होते थे, लेकिन अब डिजिटल के कारण चैनलों की संख्या अनाप-शनाप हो गयी है। पहले टीवी के दर्शकों के रूप में एक विशाल संख्या की 'मास ऑडिअंस' के रूप में कल्पना की जाती थी, पर आज दर्शकों को अपनी रुचियों के हिसाब से चैनल और कार्यक्रम देखने को मिलते हैं। टीवी के बाज़ार ने खुद को उसी के मुताबिक ढालना शुरू कर दिया है। इस परिस्थिति ने प्रसारण के अधिक खुले और बहुलतामूलक बंदोबस्तों की सम्भावना पैदा की है। दर्शक अब चैनल मालिकों द्वारा निर्धारित किये गये समय के गुलाम भी नहीं रह गये हैं। वे डिजिटल रिकॉर्डिंग के आसानी से उपलब्ध प्रावधान के कारण अपने पसंदीदा कार्यक्रम को अपने इच्छित समय पर देख सकते हैं। इंटरएक्टिविटी का प्रावधान होने के कारण टीवी पर परोसी जाने वाली सामग्री में उपभोक्ताओं की मर्जी को शामिल करना निकट भविष्य में ज़रूरी हो सकता है। ये परिवर्तन कुल मिला कर सांस्कृतिक उपभोग की प्रक्रिया को उत्तरोत्तर घरेलूकरण, निजीकरण और व्यक्तिपरकता की ओर ले जा रहे हैं।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाज़ारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्केयर, मीडिया और राज्य, मीडिया-पक्षपात, मीडिया-अध्ययन, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. पीटर स्टीवन (2000), *द नो-नान्सेंस गाइड टु ग्लोबल मीडिया*, न्यू इंटरनेशनल पब्लिकेशंस और बिटवीन द लाइंस, टोरंटो, ऑंटारियो, कनाडा.
2. जे. कोर्नर (1998), *स्टडीइंग मीडिया : प्रॉब्लम्स ऑफ़ थियरी ऐंड मेथड*, एडिनबरा युनिवर्सिटी प्रेस, एडिनबरा.
3. एम. ओशौगनेसी (1999), *मीडिया ऐंड सोसाइटी : ऐन इंट्रोडक्शन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. एल. टेलर और ए. विलिस (1999), *मीडिया स्टडीज़ : टेक्स्ट्स, इंस्टीट्यूशंस ऐंड ऑडिअंसिज़*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

मार्सिलियस, पाडुआ के

(Marsilius, of Padua)

यूरोप में चर्च के ऊपर राज्य की सत्ता कायम करने में इतालवी विद्वान मार्सिलियो द माइनादिनी (1275-1343) द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक सिद्धांतों की निर्णायक भूमिका रही है। पाडुआ, इटली में पैदा होने के कारण मार्सिलियो को विचारों की दुनिया में पाडुआ के मार्सिलियस के नाम से भी जाना जाता है। राजनीतिक दर्शन के इतिहास में मील का पत्थर समझी जाने वाली उनकी महान रचना *डिफेंसर पेशिस* (डिफेंडर ऑफ़ पीस) की दार्शनिक बुनियाद अरस्तू के विचारों पर पड़ी है। चर्च के कोप से बचने के लिए यह ग्रंथ 1324 में अनाम प्रकाशित हुआ था। तेरहवीं और चौदहवीं सदी में यूरोप की ज़मीन पर राष्ट्र-राज्य का उदय हो रहा था। उसकी प्रतिक्रिया में चर्च के प्रभुत्व की पैरोकारी करने वाले चिंतकों का दावा था कि सेकुलर शासकों को आध्यात्मिक ही नहीं, बल्कि सांसारिक मामलों में भी पोप की मातहती स्वीकार करनी चाहिए। राजाओं को सिंहासन पर बैठाने, उनके काम-काज का आकलन करने और ज़रूरत पड़ी तो उन्हें गद्दी से हटाने का अधिकार पोप के पास ही होना चाहिए। बारहवीं सदी में जॉन ऑफ़ सेलिसबरी के ग्रंथ *पॉलिक्रेटिक्स* का यही केंद्रीय विमर्श था। मार्सिलियस ने इस आग्रह का प्रबल प्रतिकार करते हुए साबित किया कि पोप और पुरोहित वर्ग को न केवल सांसारिक बल्कि 'आध्यात्मिक' मामलों में भी समस्त जनता और उसके द्वारा दिये गये प्राधिकार के दम पर हुकूमत करने वाले राजा की मातहती स्वीकार करनी चाहिए।

मार्सिलियस का जन्म पाडुआ, इटली में हुआ था। उन्होंने पाडुआ व पेरिस में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया। वे पेरिस विश्वविद्यालय में रेक्टर भी रहे। अनाम प्रकाशित होने के दो साल बाद जैसे ही उनकी रचना *डिफेंसर पेशिस* के लेखक का परिचय उजागर हुआ, पोप जॉन बाईसवें ने उन्हें विधर्मी घोषित कर दिया। नतीजतन अपने मार्सिलियस को अपने दोस्त जॉन ऑफ़ जैडुन के साथ न्यूरेम्बर्ग में बावेरिया के लुडविग के दरबार की शरण लेनी पड़ी। लुडविग और पोप जॉन के बीच राजनीतिक विवाद चल रहा था। बाद में मार्सिलियस ने लुडविग द्वारा इटली पर की गयी चढ़ाई में उसका साथ भी दिया।

मार्सिलियस पुरोहितों को कर्मकाण्ड करने और दैवी क्रानून की शिक्षा देने से ज्यादा अधिकार देने के लिए तैयार नहीं थे। उनका कहना था कि इन दायरों में भी पुरोहितों को जनता और उसके द्वारा निर्वाचित सरकार का नियंत्रण मानना



मार्सिलियो द माइनादिनी (1275-1343)

होगा। मार्सिलियस के विचारों का नतीजा यह निकला कि मानवीय समाज को पुरोहितों के नेतृत्व में धार्मिक मूल्यों के आधार पर नियोजित करने की कोशिश पूरी तरह धराशायी हो गयी। निर्वाचित सरकार के नेतृत्व में सेकुलर हुकूमत का रास्ता खुल गया। अपनी इसी थीसिस के कारण मार्सिलियस को आधुनिक विश्व का पुरोगामी माना जाता है। उनके सिद्धांतों ने चर्च के भीतर पोप की सत्ता के मुकाबले प्रतिनिधित्वमूलक परिषद् के निर्णय को प्राथमिकता देने वाले कॉंसिलियर आंदोलन और ईसाई धर्म-सुधारों की प्रक्रिया को भी गहराई से प्रभावित किया।

मार्सिलियस संत थॉमस एक्विना के तुरंत बाद की पीढ़ी के विद्वान थे। एक्विना की ही तरह उन्हें अरस्तू के दर्शन पर महारत थी। लेकिन एक्विना के विमर्श में चर्च और राज्य के संबंधों पर कोई विस्तृत और स्पष्ट थीसिस नहीं मिलती। उनके मुकाबले मार्सिलियस ने अरस्तू के सिद्धांतों का अधिक रैडिकल इस्तेमाल किया। उन्होंने तर्क दिया कि राज्य अपने-आप में एक सम्पूर्ण समुदाय है। अरस्तू ने भी *पोलिस* को इसी तरह परिभाषित करते हुए कहा था कि इस समुदाय में व्यक्ति मनुष्य के लिए उपयुक्त जीवन की प्राप्ति कर सकता है। मार्सिलियस ने छह तरह के पेशे गिनाये जिन्हें अपनाते हुए मनुष्य समान हित के लिए एक-दूसरे से समरस हो कर जीवन जी सकता है : किसान, दस्तकार, व्यापारी, सैनिक, पुरोहित और मुंसिफ़। राज्य के विभिन्न अंगों के साथ अन्योन्यक्रिया करते हुए व्यक्ति इन व्यवसायों के जरिये बुद्धिसंगत उत्तम जीवन का प्रयोजन हासिल कर सकता है।

ज़ाहिर है कि मार्सिलियस द्वारा प्रतिपादित राज्य का यह पहला सिद्धांत अपनी प्रकृति में सकारात्मक, प्रयोजनमूलक और उपयोगितावादी है। लेकिन, राज्य संबंधी उनका दूसरा सिद्धांत नकारात्मक और न्यूनतम उपयोगिता के नज़रिये से दिया गया है। पहले सिद्धांत में जहाँ उनका जोर सहयोग और समरसता पर है, वहीं दूसरे सिद्धांत में वे मनुष्यों के बीच होने या हो सकने वाले टकराव के अंदेशों पर गौर करते हैं। यहाँ राज्य इन टकरावों को क़ानून के आधार पर नियंत्रित और विनियमित करने वाली दमनकारी संस्था के रूप में सामने आता है। मार्सिलियस बार-बार आग्रहपूर्वक कहते हैं कि ऐसे क़ानूनों की ग़ैरमौजूदगी में मानव-समाज ख़ुद को नष्ट कर लेगा। इसी चर्चा को आगे बढ़ाते हुए वे क़ानून की प्रत्यक्षवादी अवधारणा प्रतिपादित करते हैं। दिलचस्प बात यह है कि मार्सिलियस की न्याय-संबंधी अवधारणा प्रत्यक्षवादी नहीं है। अधिकतर मध्ययुगीन राजनीतिक दार्शनिकों के विपरीत मार्सिलियस की मान्यता है कि न्याय को क़ानून की अनिवार्य शर्त नहीं बनाना चाहिए। बजाय इसके क़ानूनी नियमों से दमनकारी ताक़त निकलने की गारंटी होनी ज़रूरी है। मार्सिलियस को यक़ीन था कि अगर समाज को टिकाये रखना है तो राज्य के पास ऐसे क़ानून लागू करने की एकात्मक शक्ति और संस्था का होना अनिवार्य है।

मार्सिलियस का तीसरा राज्य-सिद्धांत दावा करता है कि राजनीतिक प्राधिकार की वैधता का एकमात्र स्रोत जनता में निहित होना चाहिए। या तो सारे नागरिक या उनका महत्वपूर्ण और बहुसंख्यक अंश मिल कर क़ानून बनायें, या फिर उनके निर्वाचित प्रतिनिधि विधिकर्ता की भूमिका निभायें। लोगों को सरकार चुनने, उसके ग़लत कामों को संशोधित करने और सरकार को अपदस्थ करने तक का अधिकार होना चाहिए। इस तीसरे राज्य-सिद्धांत के ज़रिये मार्सिलियस ने राज्य का गणतांत्रिक रूप की पैरोकारी की है।

मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन के कई दूसरे प्रतिपादकों ने भी राज्य के इन तीन सिद्धांतों का आसरा लिया है, पर मार्सिलियस का अनूठापन दूसरे और तीसरे सिद्धांत को अपने दावे में केंद्रीय हैसियत देने में निहित है। मनुष्य द्वारा उत्तम जीवन उपब्लध करने की इस समग्र योजना में ईसाई पुरोहितों की भी भूमिका है, पर वे उस प्रक्रिया का नेतृत्व न करके मातहत के किरदार में हैं। मार्सिलियस धार्मिक निष्ठा को संस्थागत रूप से आरोपित मानने के लिए तैयार नहीं हैं और उनकी सिफ़ारिश है कि धर्म स्वेच्छा का मामला होना चाहिए। चर्च के संस्थागत स्वरूप के बारे में उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि उसका श्रेणीबद्ध संगठन केवल सुविधा का मसला है, न कि किसी दैवी आदेश का परिणाम। दिलचस्प बात यह है अन्य अरस्तूवादियों की तरह मार्सिलियस वर्तमानगत जीवन के बुद्धिसंगत होने के बारे में विश्वस्त और भविष्यगत जीवन

के तर्कसंगत होने के बारे में संदिग्ध हैं। लेकिन आखिर में वे इस ईसाई मत का समर्थन कर देते हैं कि भविष्यगत जीवन वर्तमानगत से श्रेष्ठ होता है। लेकिन दूसरी तरफ़ वे यह भी मानते हैं कि सेकुलर मूल्य और धार्मिक मूल्यों में किसी तरह का मेल-मिलाप नहीं हो सकता, क्योंकि वे बुनियादी रूप से एक-दूसरे के ख़िलाफ़ होते हैं।

देखें : आशिस नंदी-1 और 2, भारतीय राज्य, राष्ट्र-राज्य, राज्य-1 और 2, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, सेकुलरवाद, सेकुलरीकरण, सेकुलर राष्ट्र के धार्मिक आयाम, सेकुलरवाद बनाम बहुसंख्यकवाद, सेकुलरवाद बनाम धार्मिक राज्य, सेकुलरवाद : भारतीय मॉडल-1 और 2, सेकुलरवाद-महाविवाद-1 से 7 तक।

संदर्भ

1. ए. गेविर्थ (1951), *मार्सिलियस ऑफ़ पाडुआ ऐंड मिडीवल पॉलिटिकल फ़िलॉसफ़ी*, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. मार्सिलियस ऑफ़ पाडुआ (1956), *द डिफेंडर ऑफ़ पीस*, अनु. ए. गेविर्थ, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, कोलम्बिया.

— अभय कुमार दुबे

मिखायल मिखायलोविच बाख्तिन

(Mikhail Mikhailovich Bakhtin)

साहित्यालोचक, दार्शनिक और रूसी रूपवाद के प्रमुख सूत्रकार मिखायल मिखायलोविच बाख्तिन (1895-1975) ने उपन्यास की विधा, युरोप की ग्रामीण मेला परम्परा और अभिव्यक्ति संबंधी रूपों पर विशेष तौर पर लेखन किया। बाख्तिन के विचारक रूप को स्वीकृति जीवन के अंत में ही मिल सकी जब साठ के दशक के उपरांत उनके लेखन को रूसी विद्वानों और शोधकर्तियों ने विशेष रूप से रेखांकित करना आरम्भ किया। 1975 में प्रकाशित अपने चार निबंधों के संकलन *द डायलॉजिक इमेजिनेशंस* में उन्होंने तर्क प्रस्तुत किया कि औपन्यासिक भाषा और उपन्यास विधा में गहरा अंतःक्रियात्मक संबंध होता है। इस संकलन में उनके चार महत्वपूर्ण निबंध 'एपिक ऐंड नॉवेल', 'फ़ॉर्म द प्रीहिस्ट्री ऑफ़ नॉवलिस्टिक डिस्कोर्स', 'फ़ार्म ऑफ़ टाइम ऐंड ऑफ़ द क्रोनोटोप इन द नॉवेल' और 'डिस्कोर्सेज़ इन द नॉवेल' संकलित हैं। उन्होंने उपन्यास-विधा पर विचार करते हुए सिद्ध किया कि संवादशीलता की प्रचुरता से सम्पन्न यह विधा

दृष्टिकोण संबंधी और विभिन्न वर्गों की आकांक्षाओं की बहुलता के लिहाज़ से भी विशिष्ट है। उनका विचार था कि महाकाव्य की तुलना में उपन्यास युरोप की औद्योगिक क्रांति के बाद के दौर के लिए अधिक उपयुक्त विधा है। बाख्तिन का कहना था कि उपन्यास विविधता और बहुलता को अधिक आत्मसात् कर सकता है, जबकि महाकाव्य ख़ास तरह की एकरूपता और ख़ास दृष्टिकोण को आरोपित करने की चेष्टा करते हैं।

बाख्तिन का जन्म मास्को के निकट ओरेल नामक कस्बे में हुआ था। सेंट पीटर्सबर्ग युनिवर्सिटी से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात उन्होंने कई जगह शिक्षण कार्य किया। उन्होंने डॉक्टरेट हासिल करने का प्रयास किया लेकिन उनकी थीसिस ख़ारिज कर दी गयी। बाख्तिन द्वारा प्रतिपादित बहुलता, व्यक्ति की निस्सीमता और सम्भावनाशीलता की अवधारणा तत्कालीन सोवियत व्यवस्था के विरुद्ध थी। बाख्तिन की अवधारणाएँ प्रायः सर्वहारा के सामूहिक संघर्ष के स्थान पर व्यक्ति-स्वातंत्र्य के अधिक निकट बैठती थीं। इन्हीं कारणों से तत्कालीन राजनीतिक मार्क्सवाद से उनका टकराव हुआ और उन्हें यंत्रणा भी भुगतनी पड़ी। उन्हें कज़ाकिस्तान में निर्वासित कर दिया गया। कुल मिला कर उनका जीवन कठिन और चुनौतीपूर्ण रहा, लेकिन परेशानियों के बीच भी उनकी बौद्धिक प्रतिभा निरंतर सक्रिय रही।

बाख्तिन की मान्यता थी कि उपन्यास निरंतर परिवर्तनशील स्थितियों के बीच जीवित रहता है और उसकी गतिशीलता उसे अन्य विधाओं से, जो अपेक्षाकृत अपने रूप-विन्यास से अधिक बँधी होती हैं, अलग करती है। उपन्यास के रूप-विन्यास तथा अंतर्वस्तु की यही गतिशीलता, उसे प्रहसन, नाच-तमाशा आदि खुली शैलियों को आत्मसात् करने के लिए भी प्रेरित करती है। बाख्तिन की यही रचना डायलॉजिज़म (संवादपरकता), हेट्रोग्लासिया और क्रोनोटॉप (देश-काल) की अवधारणाएँ प्रस्तुत करती है। कुल मिला कर इन अवधारणाओं की मूल स्थापना यही थी कि भाषा का स्वरूप पूरी तरह से संवादधर्मी होता है। संवाद में किसी के ग़लत अथवा सही होने का प्रश्न नहीं होता बल्कि उसका उद्देश्य तो भिन्न तरीक़े से अनुभव-सत्य व भिन्न सामाजिक मूल्य को व्यक्त करना होता है। बाख्तिन के मुताबिक़ जीवन का मतलब ही संवाद है और संवाद में साझेदारी से ही जीवन का अस्तित्व है। यानी प्रश्न करना, सहमत या असहमत होना, प्रतिक्रिया व्यक्त करना आदि जीवन के मूलभूत निर्धारक तत्व हैं।

बाख्तिन की एक अन्य महत्वपूर्ण पुस्तक *टुवर्ड्स ए फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ द एक्ट* है। बाख्तिन ने फ़्रांस के पुनर्जागरणकालीन लेखक फ़्रांस्वाँ रेबेलेयस का अध्ययन करते



मिखायल मिखायलोविच बाखिन (1895-1975)

हुए युरोपीय आनंदोत्सव परम्परा (कार्निवाल परम्परा) का दिलचस्प विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन व विश्लेषण ने उन्हें अकादमिक जगत में काफ़ी प्रसिद्धि भी दिलायी, हालाँकि जब उन्होंने इसे डॉक्टरेट की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया तो इसे खारिज कर दिया गया। उनकी मृत्यु के बाद *रेबेलेयस ऐंड हिज़ वर्ल्ड* के नाम से इसे प्रकाशित किया गया। इसमें उन्होंने लोक-जीवन में मौजूद उत्सव-मेला परम्परा तथा अतिशय गम्भीर दिखने वाली बोझिल सरकारी संस्कृति को परस्पर विपरीत करार दिया। बाखिन के मुताबिक लोक-जीवन की परम्परा में धर्म व सामाजिक वर्चस्व से आक्रांत जीवन की तुलना में ज़्यादा हास्य और खुलापन होता है। उत्सव व हाट की यह संस्कृति सामाजिक क्रान्तियों-प्रतिबंधों को नकारती है और सत्ता-सरकार के घुटन भरे जीवन से परे एक भिन्न जीवन-शैली का विकल्प रखती है। मेले जब तक चलते हैं, स्वयं में स्वायत्त संसार होते हैं। वे ऐसे सामाजिक दायरे और समय-खण्ड का निर्माण करते हैं जिसमें यूटोपियन स्वतंत्रता, सामुदायिकता तथा समानता एक साथ सम्भव है।

लोक-जीवन तथा ग्रामीण परम्पराओं में उत्सवों के महत्त्व को रेखांकित करते हुए बाखिन ने दिखाया कि वे एक वैकल्पिक तथा अस्थाई सांस्कृतिक गतिविधियों को सम्भव बनाते हैं। वर्चस्वशाली संस्कृति से उनका संबंध दुविधापूर्ण और अस्थिर होता है। लेकिन विरोध का तत्त्व सीमित होने के कारण ये गतिविधियाँ वर्चस्वशाली सत्ता-संस्कृति के लिए खतरा पैदा नहीं करतीं। मेलों तथा सरकारी-संस्कृति के परस्पर विरोध के परिप्रेक्ष्य में सत्ता व विरोध के ध्रुवीकरण

की चर्चा के स्थान पर बाखिन इस बात पर अधिक बल देते हैं कि आनंदोत्सव की संस्कृति प्रभुत्वशाली संस्कृति का नरम तथा संयमित प्रतिकार ही पैदा करती है, हालाँकि उसमें इतनी शक्ति अवश्य होती है कि वह विमर्श-विचार के प्रचलित रूपों को सार्थक ढंग से चुनौती दे सके। सरकार द्वारा पोषित संस्कृति को मेले प्रत्यक्ष चुनौती नहीं देते, लेकिन भाषा व विचार के प्रचलित पारम्परिक रूपों का विकल्प पेश कर देते हैं। व्यक्ति को सरकार व सत्ता के दबावपूर्ण तथा निगरानी से भरे माहौल से कुछ समय के लिए छुटकारा मिल जाता है।

बाखिन ने महान रूसी रचनाकार दोस्तोएव्स्की के लेखन पर भी विस्तार से लिखा। उनकी रचना *प्राबल्म्स ऑफ़ दोस्तोएव्स्कीज़* आर्ट उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियों में गिनी जाती है। इसी पुस्तक में उन्होंने व्यक्ति की अनिश्चितता, सम्भावनाशीलता और अंतःकरण की गोपनीयता जैसे दावों को सैद्धांतिक स्वरूप प्रदान किया। इन सिद्धांतों के पीछे ईसाइयत और नव-कांटवादी प्रभावों का योगदान था। बाखिन ने व्यक्ति की छिपी हुई आत्मा तथा सामाजिक जगत में उसकी असीमित सम्भावना पर बल दिया। बाहरी समाज के प्रभावों के प्रति व्यक्ति का निरंतर संवेदनशील रहना और उन्हें स्वयं के व्यक्तित्व पर ग्रहण करने को भी बाखिन ने विशेष तौर पर रेखांकित किया। दोस्तोएव्स्की के उपन्यासों का उदाहरण देते हुए उन्होंने दिखाया कि हर व्यक्ति कितने भिन्न तरीके से अपने व्यक्तित्व तथा जीवन की चिंताओं को व्यक्त कर रहा है। इसी को उन्होंने उपन्यास में निहित सत्य के बहुलतावादी स्वरूप से जोड़ कर देखा।

बाखिन के 1986 में प्रकाशित निबंध संकलन *स्पीच जॉर्न्स ऐंड अदर लेट एसेज़* में संचार के विभिन्न क्षेत्रों के बीच होने वाली अंतःक्रियाओं तथा उसकी सीमाओं का अध्ययन करके यह पता लगाने का प्रयास किया गया है कि मौखिक या लिखित संचार पर व्यवस्थागत अंकुश तथा नियंत्रण लगाने का काम किस प्रकार किया जाता है। इस निबंध में उन्होंने विभिन्न भाषा-रूपों की अंतःक्रिया के विचार को सम्बोधित किया है। उन्होंने किसी खास संस्कृति द्वारा अभिव्यक्ति को सूक्ष्म ढंग से नियंत्रित करने का मुद्दा उठाया है। इसमें सबसे पहले आती है अर्थ-साम्यता तथा अर्थ विषमता की समस्या जो सम्प्रेषण व संचार के जटिल रूपों से जुड़ी होती है और इसका संबंध वक्ता द्वारा अपने विषय को सहेजने तथा उसका रूपाकार सीमित करने की मजबूरी से होता है। अभिव्यक्ति की समग्र योजना इसके बाद अभिव्यक्ति की विधा से जुड़ी समस्या को जन्म देती है जहाँ अभिव्यक्ति का क्षेत्र ही अभिव्यक्ति को नियंत्रित करने लगता है। इस तरह अभिव्यक्ति व्यक्तिगत रचनात्मकता के बावजूद भाषा-रूपों के पूरी तरह स्वतंत्र संयोग को सम्भव नहीं बना

पाती है। बाख़िन के मुताबिक़ इस तरह विधा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को बाधित कर देती है। सम्प्रेषण के लिए भाषा के चुनाव तथा उसकी इच्छानुसार इस्तेमाल की आज़ादी भी कम हो जाती है। विचार मुख्य रूप से किसी के द्वारा सुने जाने, प्रयोग किये जाने और प्रत्युत्तर पर निर्भर होते हैं। पर वक्ता संचार के विविध रूपों का पूरी तरह से प्रयोग नहीं कर पाता और न ही निर्बाध आत्माभिव्यक्ति सम्भव हो पाती है। बाख़िन के मुताबिक़ यह कहना विवादग्रस्त स्थापना ही है कि भाषा अंतरानुशासनिक खुलेपन की ओर ले जाती है। बल्कि सच तो यह है कि प्रत्येक अभिव्यक्ति अपनी शैली व विधा से प्रभावित होती है और अपने नियंत्रणों के बीच रहने वाली सापेक्षिक स्वायत्तता से जुड़ती है।

बाख़िन के विचारों का विभिन्न अनुशासनों तथा विचारधाराओं पर प्रभाव पड़ा। उपन्यास संबंधी धारणा, रूपवाद, संरचनावाद-उत्तर संरचनावाद और भाषा-संबंधी चिंतन की विभिन्न धाराओं ने बाख़िन के प्रभाव को ग्रहण किया।

देखें : ज्याँ-पाल सार्त्र, फ्रेंकफ़र्ट स्कूल, बाज़ारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, रोलाँ बार्थ, लुई अलथुसे, संस्कृति, संस्कृति-अध्ययन, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक पूँजी, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा, सौंदर्यशास्त्र।

संदर्भ

1. एम.एम. बाख़िन (1981), *द डायलॉजिक इमेजिनेशंस : फ़ोर एसेज़*, टेक्सास युनिवर्सिटी प्रेस, टेक्सास.
2. कैटरीना क्लार्क और मिशेल होलक्विस्ट (1984), *मिखाइल बाख़िन*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. ब्रैंडिस्ट क्रेग (2002), *द बाख़िन सर्किल, फ़िलॉसफ़ी कल्चर एंड पॉलिटिक्स*, प्लूटो प्रेस, लंदन.

— वैभव सिंह

मिज़ोरम

(Mizoram)

मिज़ोरम मिज़ो भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है पहाड़ी लोगों का देश (मि-लोग, जो-पहाड़ और रम-देश)। यह उत्तर-पूर्वी भारत के सात राज्यों में से एक है। भारत के तेईसवें राज्य के रूप में मिज़ोरम का गठन 20 फरवरी, 1987 को हुआ। पूर्ण राज्य का दर्जा मिलने के बाद मिज़ोरम की राजनीति में अहम बदलाव हुए। पृथकतावादी माँगों के लिए हथियारबंद विद्रोह की राजनीति से संसदीय राजनीति में संक्रमण के कारण शांति-व्यवस्था क्रायम हुई और विकास हुआ। यहाँ चुनाव भी तुलनात्मक रूप से स्वतंत्र और निष्पक्ष रहे हैं। मिज़ो नैशनल फ्रंट (एमएनएफ) के नेता लालडेंगा और केंद्र सरकार के बीच हुए समझौते के प्रावधानों के अनुरूप एमएनएफ और कांग्रेस की गठबंधन सरकार बनी। लालडेंगा मुख्यमंत्री बने। फ़रवरी, 1987 में हुए चुनाव में एमएनएफ को पूर्ण बहुमत मिला और लालडेंगा फिर से मुख्यमंत्री बने। लेकिन बड़े पैमाने पर दल-बदल होने के कारण उन्नीस महीनों के बाद उनकी सरकार का पतन हो गया। इसके बाद राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया और जनवरी, 1989 में फिर से चुनाव हुए। ललथनहवला के नेतृत्व में कांग्रेस को जीत मिली और राज्य में अगले दस साल तक कांग्रेस की ही सरकार रही। 1998 के चुनावों में एमएनएफ को फिर जीत मिली। इस समय तक लालडेंगा का देहांत हो चुका था, इसलिए ज़ोरामथंगा राज्य के नये मुख्यमंत्री बने। इसके बाद अगले चुनावों में एमएनएफ को ही जीत मिली और ज़ोरामथंगा ही राज्य के मुख्यमंत्री रहे। लेकिन 2008 में हुए चुनावों कांग्रेस की सत्ता में वापसी हुई और ललथनहवला राज्य के मुख्यमंत्री बने। मिज़ोरम में लोकसभा चुनावों में भी मुख्य तौर पर कांग्रेस पार्टी और एमएनएफ के बीच ही चुनावी संघर्ष होता है।

मिज़ोरम के उत्तर में इसकी सीमाएँ असम और मणिपुर से लगती हैं, दक्षिण और पूर्व में म्यांमार है तथा इसके पश्चिम में त्रिपुरा और बांग्लादेश स्थित है। इसकी राजधानी आईज़ॉल है। यहाँ मुख्य रूप से मिज़ो जनजाति के लोग रहते हैं जो उत्तर-पश्चिमी म्यांमार और बांग्लादेश के कुछ हिस्सों में भी मौजूद है। इसके पहाड़ों, नदियों और प्राकृतिक सुंदरता के कारण इसे पूर्व के स्कॉटलैण्ड की उपमा भी दी जाती है। यहाँ का क्षेत्रफल 21,081 वर्ग किमी है और इस हिसाब से यह भारत का चौबीसवाँ सबसे बड़ा राज्य है। 2011 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 1,091,04 है और इस लिहाज़ से भारत में इसका स्थान सत्ताइसवाँ है। यहाँ



मिज़ोरम : पृथक्तावादी संघर्ष से मुख्यधारा में

की जनसंख्या का घनत्व 51.8 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी है। मिज़ोरम की साक्षरता दर 89.9 प्रतिशत है और यह भारत का दूसरा सबसे ज्यादा साक्षर राज्य है। मिज़ो और अंग्रेज़ी यहाँ की राजकीय भाषाएँ हैं। यहाँ की विधायिका एकसदनीय है, जिसमें कुल 40 सदस्य होते हैं। यहाँ लोकसभा का एक और राज्य सभा का एक सदस्य चुना जाता है। गुवाहाटी उच्च न्यायालय ही मिज़ोरम के उच्च न्यायालय की भूमिका निभाता है।

इस बात के स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नहीं हैं कि मिज़ो लोग कब इस क्षेत्र में बसे। लेकिन इस पर कोई विवाद नहीं है कि मिज़ो लोग इण्डो-मंगोल नस्ल के तिब्बती-बर्मन शाखा के कुकी-चिन समूह से संबंधित हैं। इस समूह के भीतर लुसेई, पेट, लखर्स, राल्टे, थाडो और स्नेडुस जैसी जनजातियाँ होती हैं। इसमें चकमा नाम का एक छोटा समूह भी होता है जो लोग इण्डो-आर्यन मूल के हैं और चटगाँव की पहाड़ियों से यहाँ आये हैं। माना जाता है कि पंद्रहवीं सदी में मिज़ो लोग बर्मा से इस इलाके में आये थे।

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों द्वारा 1889-90 में की गयी लुशाई खोजयात्रा ने मिज़ो लोगों के इतिहास में एक नये दौर

का आगाज़ किया। इसके बाद से यह पूरा क्षेत्र सीधे ब्रिटिश नियंत्रण में आ गया। प्रशासनिक उद्देश्य से लुशाई पहाड़ों को दो भागों में बाँटा गया—नार्थ लुशाई हिल्स और साउथ लुशाई हिल्स। नार्थ लुशाई हिल्स को असम सरकार के अंतर्गत रखा गया। इस क्षेत्र के प्रशासनिक प्रमुख को राजनीतिक अधिकारी कहा जाता था, जो असम के चीफ कमिश्नर को रिपोर्ट करता था। साउथ लुशाई हिल्स को बंगाल प्रांत के चटगाँव डिवीज़न के अंतर्गत रखा गया। बाद में दोनों भागों को एक ज़िला बनाकर 1 अप्रैल, 1898 को असम राज्य के अंतर्गत कर दिया गया। 1919 के गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया एक्ट में गवर्नर जनरल ने लुशाई हिल्स और असम के दूसरे पहाड़ी ज़िलों को 'पिछड़ा क्षेत्र' घोषित किया। इस व्यवस्था में राज्य विधायिका को इन क्षेत्रों को क़ानून बनाने के अधिकार मिले, लेकिन इसके साथ ही इन क्षेत्रों के प्रशासन के संबंध में गवर्नर को सर्वोच्च शक्तियाँ दे दी गयीं। 1935 के गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया एक्ट द्वारा इस क्षेत्र पर कई और भी पाबंदियाँ लगायी गयीं। इसमें असम के दूसरे पहाड़ी ज़िलों के साथ लुशाई हिल्स को भी 'बहिष्कृत क्षेत्र' घोषित किया गया। असम के गवर्नर को इस क्षेत्र में प्रशासन का विशेष प्राधिकार मिला जिस पर राज्य विधायिका का भी कोई नियंत्रण नहीं था। इन सारे प्रावधानों का नतीजा यह हुआ कि मिज़ो लोग शेष भारत की गतिविधियों से अलग-थलग रहे। इसके अलावा, असम के बजट में इस क्षेत्र के लिए बहुत कम संसाधन उपलब्ध कराये गये जिससे इस क्षेत्र का विकास बाधित हुआ।

भारत की आज़ादी के समय यहाँ यंग लुशाई एसोसिएशन और मिज़ो यूनियन नामक दो प्रमुख संगठन थे। मिज़ो यूनियन का वामपंथी धड़ा यहाँ पर सामंतवाद को खत्म कर इसका विलय भारत के साथ करना चाहता था। लेकिन इसका एक गुट इस इलाके को स्वतंत्र बनाने या इसका विलय बर्मा (या म्यांमार) में करने के पक्ष में था। आखिरकार इसका भारत में विलय हो गया। इसे असम राज्य का एक ज़िला बनाया गया। इसे लुशाई हिल्स डिस्ट्रिक्ट के नाम से जाना जाता था और इसे विशेष दर्जा दिया गया था। भारतीय संविधान में उत्तर-पूर्वी राज्यों के विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों के प्रशासन के लिए छठी अनुसूची का प्रावधान किया है। छठी अनुसूची का मुख्य उद्देश्य यह है कि इस क्षेत्र के मूल निवासियों की परम्पराओं, संस्कृति और प्रथागत क़ानूनों की बाहरी अतिक्रमण या हमले से सुरक्षा की जाए। इसी कारण मिज़ोरम (जो उस समय लुशाई हिल्स के रूप में असम का एक ज़िला था) को अपने प्रशासन में कुछ हद तक प्रशासनिक स्वायत्तता हासिल हुई। अनुसूची के प्रावधानों के अनुरूप ही असम विधानसभा ने लुशाई हिल्स डिस्ट्रिक्ट कौंसिल एक्ट, 1952 पारित किया जिसके कारण लुशाई हिल्स स्वायत्तशासी ज़िला परिषद् का गठन हुआ। यद्यपि इस

क्षेत्र को प्रशासनिक स्वायत्तता दी गयी, लेकिन वित्तीय मामलों में यह राज्य सरकार पर ही निर्भर रहा।

1959 में इस क्षेत्र में सूखा पड़ा जिससे यहाँ की अर्थव्यवस्था बर्बाद हो गयी। झूम खेती पर निर्भर लोगों को भुखमरी का सामना करना पड़ा। असम की सरकार की उदासीनता के कारण कुछ स्वैच्छिक संस्थाएँ लोगों की मदद के लिए आगे आयीं। मिजो नेशनल फ्रेमिंग फ्रंट इसी तरह का एक संगठन था जिसके प्रयासों की आम जनता में बहुत तारीफ हुई। जब सूखा खत्म हो गया तो 22 अक्टूबर, 1961 को यह संगठन एक राजनीतिक दल में बदल गया और इसका नाम मिजो नेशनल फ्रंट (एमएनएफ) रखा गया। इसने स्थानीय और विधानसभा चुनावों में भागीदारी तो की लेकिन इसे खास सफलता नहीं मिली। इसके बाद फ्रंट ने मिजो-राष्ट्रवाद की राजनीति शुरू करते हुए एक स्वतंत्र मिजो देश की माँग की। अपनी माँग के समर्थन में इसने हिंसक गतिविधियाँ की और एक भूमिगत संगठन के रूप में काम करने लगा।

दरअसल भारत की स्वतंत्रता के समय भी मिजो अभिजनों के एक रैडिकल तबके ने एक सम्प्रभुता-सम्पन्न स्वतंत्र मिजोरम की पृथकतावादी माँग रखी थी, लेकिन उस समय इसे बहुत ज्यादा समर्थन नहीं मिला था। 1960 के दशक में एमएनएफ ने इस मुद्दे को फिर से उठाया और भारतीय संघ से मिजोरम की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। फ्रंट ने इस बात पर जोर दिया कि भारतीय संघ के भीतर रहना मिजो लोगों के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक हितों के खिलाफ है। उसने दावा किया कि एक स्वतंत्र मिजो राष्ट्र का निर्माण करके सभी समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। जाहिर है कि 1966 से हिंसक विद्रोही गतिविधियों की शुरुआत हुई लेकिन इसकी बुनियाद बहुत पहले पड़ चुकी थी। इन गतिविधियों में दफ्तरों को जलाना, सरकारी कोष की लूट, सरकारी कर्मचारियों का अपहरण और हत्या जैसी घटनाएँ हुईं। भारतीय राज्य ने इन विद्रोही गतिविधियों का नियंत्रण करने के लिए थल सेना और वायु सेना का प्रयोग किया। दूसरी तरफ, एमएनएफ की हिंसक गतिविधियों के बावजूद इस क्षेत्र में चुनावी गतिविधियाँ जलती रहीं।

केंद्र सरकार एक ओर विद्रोहियों का सख्ती से दमन करती रही और दूसरी ओर उसने राजनीतिक छूटों और विकास-कार्यों के द्वारा लोगों को तुष्ट करने की भी कोशिश की। बीस साल तक स्वायत्तशाली जिला रहने के बाद 1972 में मिजोरम को एक केंद्र-शासित प्रदेश घोषित किया गया। इसके साथ ही बहुत सारी विकास गतिविधियाँ भी शुरू की गयीं। इस तरह के क्रदमों के कारण बहुत से विद्रोहियों ने आत्म-समर्पण कर दिया और आम जिंदगी गुजारने की इच्छा जाहिर की। लेकिन एमएनएफ के कट्टरपंथियों ने अपनी माँगें मनवाने के लिए आतंकी गतिविधियाँ और तेज कर दीं।

इसी बीच चर्च की पहल पर और मिजो समाज के विभिन्न तबकों के समर्थन से सरकार ने एमएनएफ के नेता लालडेंगा से अनौपचारिक समझौता-वार्ता की शुरुआत की। कई चरणों की बातचीत के बाद भारत सरकार के गृह-सचिव, मिजोरम सरकार के मुख्य सचिव और एमएनएफ नेता लालडेंगा के बीच समझौता हुआ। इसे मिजोरम समझौते के रूप में जाना जाता है। इससे एक लम्बे विद्रोही आंदोलन का अंत हुआ और एमएनएफ लोकतांत्रिक राजनीति में लौट आया। समझौते के अनुसार ही सरकार ने संसद में मिजोरम को भारत का तेईसवाँ राज्य बनाने का प्रस्ताव पारित कराया।

देखें : अरुणाचल प्रदेश, असम, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडिशा, कर्नाटक, केरल, गोवा, गुजरात, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झाड़खण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, बिहार, पंजाब, पश्चिम बंग, मणिपुर, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मेघालय, राजस्थान, हरियाणा।

संदर्भ

1. एस.एन. सिंह (1994), *मिजोरम : हिस्टोरिकल, जियोग्राफिकल, सोशल, इकॉनॉमिक, पॉलिटिकल ऐंड एडमिनिस्ट्रेटिव*, मित्तल पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
2. आर. के. सत्पथी (2009), 'मिजोरम, रिन्यूड मैडेन फॉर द स्टेट गवर्नमेंट', संदीप शास्त्री, के.सी. सूरी और योगेंद्र यादव (सम्पा.), *इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन इण्डियन स्टेट्स : लोकसभा इलेक्शंस 2004 ऐंड बियांड*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.
3. एस. गुरुदेव (1996), *एनॉटमी ऑफ रिवोल्ट्स इन नॉर्थ-ईस्ट ऑफ इण्डिया*, लेंसर्स बुक, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

मिथक

(Myth)

अंग्रेज़ी शब्द मिथ से हिंदी में मिथक शब्द बनाया गया है। इसका श्रेय हजारी प्रसाद द्विवेदी को है। उन्होंने मिथ में क प्रत्यय जोड़कर इसे हिंदी की प्रकृति के अनुकूल बना लिया। समाज-विज्ञान के लिहाज़ से मिथक का मतलब है एक ऐसी कहानी जिसकी समांतर संरचना अतीत को वर्तमान से जोड़ते हुए भविष्य की तरफ़ भी इशारा करती हो। क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस ने पश्चिमी संस्कृति के उस रवैये की आलोचना की है जिसके तहत मिथकों के महत्त्व को कमतर मानने की बौद्धिक प्रवृत्ति पैदा हुई है। लेवी-स्ट्रॉस मिथक की पुनः जाँच करते हुए उसे एक सांस्कृतिक आख्यान के रूप में स्थापित करते हैं। लेवी-

स्त्रॉस का विचार था कि मिथकों के माध्यम से गैर-औद्योगिक संस्कृतियों की प्रच्छन्न संरचनाओं की शिनाख्त की जा सकती है। उन्हें विश्वास था कि आगे चल कर विज्ञान के दायरे में भी मिथकों को मान्यता मिलनी शुरू हो जाएगी। हिंदी में मिथ के लिए दंतकथा, कल्पकथा, पुरावृत्त, पुराकथा, पुराख्यान, धर्मगाथा आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है। अंग्रेज़ी में यह शब्द यूनानी भाषा के शब्द माइथास से आया है जहाँ इसका अर्थ है अतर्क कथन, मुख से उच्चरित वाणी या मौखिक कथा।

अरस्तू ने इसका प्रयोग कथा के अर्थ में किया है। लेकिन मिथ और मिथक में अर्थगत भिन्नता को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। मिथ का आशय अविश्वसनीय एवं काल्पनिक कथाओं से लिया जाता है, जबकि मिथक ऐसी कथाएँ हैं जिनमें अलौकिकता का पुट होते हुए भी लोकानुभूति जुड़ी होती है। मिथक का संबंध मूलतः आदिम लोक मानस से है। मिथक आदिम मनुष्यों के मानसिक और भौतिक जीवन के कथामय संसार की अभिव्यक्ति करते हैं। मिथ शब्द का प्रयोग देवी-देवताओं अथवा अतिप्राकृत पात्रों और मानव-जीवन के अनुभव से परे किसी (सुदूर) काल की असाधारण घटनाओं एवं परिस्थितियों से सम्बद्ध आख्यानों के लिए होता है। डॉ. नगेन्द्र के मतानुसार मिथक का आशय ऐसी परम्परागत कथा से है जिसका संबंध अतिप्राकृत घटनाओं और भावों से है। इस प्रकार मिथक मानवजाति का सामूहिक इतिहास, स्वप्न एवं अनुभव है। उसका आधार आस्था, अनुभूति एवं विश्वास है। मिथक का प्रयोजन परम्परा रूप में प्राप्त मान्यताओं, संस्कारों एवं धार्मिक अनुष्ठानों की व्याख्या करना है। मानव जाति की एकता तथा सभ्यता और संस्कृति की विकास-यात्रा को समझने की दृष्टि से मिथक महत्वपूर्ण हैं।

यूनानी भाषा के विद्वान एच.जे. रोज़ ने मिथकों की तीन क्रिस्मों का उल्लेख किया है : सृष्टि संबंधी मिथक, प्रलय संबंधी मिथक तथा देवताओं के प्रणयाचार संबंधी मिथक। सभी प्राचीन जातियों के साहित्य में इन तीनों का प्रचुरता से उल्लेख मिलता है। डॉ. नगेन्द्र ने विषय के अनुसार मिथकों में दो भेद बताये हैं : पहला प्राकृतिक एवं दूसरा धार्मिक। इसके बाद उन्होंने धार्मिक मिथक को पुनः दो उपभेदों में बाँटा है। पहला उपभेद है उपास्य देवों के स्वरूप से संबंधित मिथकों का एवं दूसरा उपभेद कर्मकाण्ड संबंधी मिथकों का है। सर्जन प्रक्रिया के अनुसार भी उन्होंने मिथक के दो वर्ग किये हैं : पहला मौलिक या प्राथमिक मिथक जो सामूहिक अचेतन की सृष्टि है तथा दूसरा आनुषंगिक या द्वितीयक मिथक जिनकी रचना वैयक्तिक अचेतन द्वारा होती है।

मिथक के उद्भव के संबंध में विद्वानों ने कई सम्भावनाएँ प्रकट की हैं। आज के वैज्ञानिक, तार्किक एवं बौद्धिक मानव से भिन्न होते हुए भी आदिम मानव जिज्ञासु

था। उसने अपने चारों ओर घटित प्राकृतिक घटनाओं का निरीक्षण करके उसके कारणों की व्याख्या अपनी कल्पनाशक्ति एवं बौद्धिकता के आधार पर की। उसी से अनेक कथाओं का जन्म हुआ जो कालांतर में मिथक बन गयीं। डॉ. नगेन्द्र के मतानुसार मिथक की रचना उस समय हुई जब मानव और प्रकृति के बीच की विभाजक रेखाएँ स्पष्ट नहीं थीं— दोनों एक सार्वभौम जीवन के सहभागी थे। वे परस्पर सहयोग एवं संघर्ष के सूत्रों से बँधे हुए थे और चेतन मानव का मन अज्ञात रूप से प्रकृति की घटनाओं को अपने जीवन की घटनाओं तथा अनुभवों के माध्यम से समझने का प्रयास करता था। प्रकृति के तत्त्वों और घटनाओं के मानवीकरण की यह अचेतन प्रक्रिया ही मिथक रचना का मूल है।

आदिम मानव में कार्य और कारण के मध्य तार्किक एवं वैज्ञानिक सोच अपेक्षाकृत कम और कल्पनाशीलता अधिक थी। उसने जड़ पदार्थों पर भी चेतन का आरोप किया। वस्तुतः आदिम मानव की भावुकता, जिज्ञासा, कल्पनाशीलता आदि ने ही अनेक जादुई घटनाओं, अनुष्ठानों, कर्मकाण्डों और रीति-रिवाजों को जन्म दिया। मिथक की उत्पत्ति के संबंध में डॉ. मालती सिंह ने दो पक्ष प्रत्यक्षीकरण एवं अमूर्तन बताये हैं। जब आदिम मानव बाह्य सत्त्यों का प्रत्यक्षीकरण करता है तब उसके आधार पर अमूर्तन भी करता है। अमूर्तन की इस मानवीय वृत्ति ने ही विभिन्न मिथकों को जन्म दिया है। भय और आनंद मिथक निर्माण के महत्वपूर्ण तत्व रहे हैं। प्रारम्भ में समाज में मिथक की मौखिक परम्परा रही, लेकिन भाषा और लेखन के विकास के साथ ही उन्हें लेखनीबद्ध कर लिया गया।

मिथक की अवधारणा जटिल एवं गतिशील है। प्रारम्भिक स्तर पर मिथक को धर्मशास्त्र से जोड़कर देखा गया। अट्टारहवीं एवं उन्नीसवीं सदी में विज्ञान के प्रचार-प्रसार और बुद्धिवाद के विकास के फलस्वरूप मिथक की अवधारणा में परिवर्तन आया। मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास, भाषा-विज्ञान, लोक-साहित्य आदि अनुशासनों में भी मिथक का विवेचन किया गया और विद्वानों ने मिथकों द्वारा मानव समाज पर बहुविध असर डालने की बात स्वीकार की। अब मिथक को आदिम मानव की ऐसी संरचना के रूप में स्वीकार किया गया जो आस्था एवं विश्वास के कारण अस्तित्व में हैं, लेकिन उनकी ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक पुष्टि मुश्किल है। शाब्दिक अर्थानुसार भी मिथक में तर्क का स्थान नहीं है। मिथक ऐसे आख्यान हैं जिनमें प्रकट की गयी घटनाएँ तर्क से परे होती हैं। अधिकांश मिथक ऐसे सवालों से जुड़े हैं जिनके जवाब खोजे जाने हैं।

मिथक की व्याख्या और विश्लेषण के संबंध में विविध अनुशासनों से सम्बद्ध विद्वानों के अलग-अलग मत

हैं। समाजशास्त्रियों ने मिथक की निर्मिति के मूल में सामाजिक व्यवस्था के संरक्षण एवं संचालन की आवश्यकता को कारण रूप में स्वीकार किया तो मनोविश्लेषणवादियों ने मिथक को समूह के मानस की उत्पत्ति के रूप में ग्रहण किया। मानवशास्त्रियों ने मिथक को विशुद्ध मानसिक रूपात्मक क्रिया के रूप में स्वीकार किया। भाषाशास्त्रियों के मत में भाषा की उत्पत्ति सांकेतिक अभिव्यक्ति से हुई और मिथक भाषा के विकास की एक मंजिल है। साहित्य में मिथक को जटिल विषयों की सरल एवं प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया। आदिम युग के विश्वासों की अभिव्यक्ति के रूप में मान्य मिथक की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं : मिथक सामान्यतः कथात्मक होते हैं, मिथक लोकविश्वास और आस्था से युक्त होते हैं और इनमें तर्क की भूमिका गौण होती है, मिथक की रचना में कल्पना की अधिकता होने पर भी अपने समय का सामाजिक यथार्थ निहित रहता है, मिथक में वर्णित कथाएँ अतिप्राकृत होने पर भी मानव जीवन को प्रभावित करती हैं, मिथक गतिशील होते हैं।

आदिम मानव के मनोवर्गों के परिणाम होने के बावजूद मिथक किसी विकसित समाज की मानसिकता एवं विश्वासों में भी पैठे होते हैं। गतिशील होने के कारण ये देश-काल के साथ-साथ अपना स्वरूप बदलते रहते हैं। देशकाल की आवश्यकतानुसार पुराने मिथकों को संश्लिष्ट करके नये मिथक भी बनाये जाते हैं। इस तरह मिथकों का विकास एक जटिल एवं निरंतर प्रक्रिया है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, समाज-विज्ञान, समाज-कार्य, समाजीकरण, समुदायवाद, सामाजिक आंदोलन, सामाजिक बहिर्वेशन, सामाजिक पूँजी, सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक एकजुटता, सामाजिक चयन का सिद्धांत, सांस्कृतिक मानवशास्त्र, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, सांस्कृतिक पूँजी, सेवानिवृत्ति, वाचिकता, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस (1995), *मिथ एंड मीनिंग : क्लैकिंग द कोड ऑफ कल्चर*, शोकेन, न्यूयॉर्क.
2. डॉ. नगेंद्र (1979), *मिथक और साहित्य*, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. रमेश कुंतल मेघ (1976), *मिथक और स्वप्न*, ग्रंथम प्रकाशन, कानपुर.

4. उषा विद्यावाचस्पति (1996), *मिथक : उद्भव और विकास तथा हिंदी साहित्य*, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

— प्रीति सागर

मिल्टन फ्रीडमैन

(Milton Friedman)

मिल्टन फ्रीडमैन (1912-2005) बीसवीं सदी के उत्तरार्ध के दो-तीन सबसे ज्यादा चर्चित और विख्यात अर्थशास्त्रियों में एक हैं। उन्हें न केवल आर्थिक विज्ञान के महारथियों के बीच सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त है, बल्कि उनकी रचनाएँ सारी दुनिया में सामान्य पाठकों के बीच भी लोकप्रिय हैं। अर्थशास्त्र की दुनिया में फ्रीडमैन को कींसियन आर्थिक सिद्धांतों के खिलाफ जिहाद चलाने के लिए और मौद्रिकवाद के संस्थापक के रूप में मान्यता प्राप्त है। उन्हें शिकागो स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स का विकास करने वाले विद्वान के रूप में भी जाना जाता है। फ्रीडमैन के रचना संसार के केंद्र में दो विचार हैं : धन और आज़ादी। धन उनके लिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि मुद्रा की सप्लाई में होने वाले परिवर्तनों से आर्थिक गतिविधियों में तब्दीली आ जाती है, और आज़ादी की अहमियत इसलिए है कि इनसान होने की शर्त उसके बिना पूरी नहीं हो सकती। धन और आज़ादी का रिश्ता फ्रीडमैन की नज़रों में साफ़ है : अगर सरकार कीमतों, विनिमय दरों और आर्थिक जीवन के अन्य क्षेत्रों को नियंत्रित करना बंद कर दे तो अर्थव्यवस्था ठीक से चलती रहेगी और बाज़ार अपने आप खुशहाली की गारंटी कर सकता है। 1976 में फ्रीडमैन को नोबेल पुरस्कार दिया गया। पुरस्कार कमेटी ने उनके योगदान के तीन पहलुओं को रेखांकित किया : उपभोग की भूमिका का अध्ययन, स्थिरीकरण की नीति पर अमल करने में आने वाली दिक्कतों और समस्याओं का अध्ययन, और मोनेटरी थियरी (मौद्रिक सिद्धांत) व इतिहास में योगदान।

ब्रुकलिन, न्यूयॉर्क के एक गरीब यहूदी परिवार में जन्मे मिल्टन फ्रीडमैन को बचपन से ही गणित के विषय से प्रेम था। गणित के जरिये वे अर्थशास्त्र तक पहुँचे और बाद में दोनों विषयों में उच्च शिक्षा प्राप्त की। शिकागो और कोलम्बिया विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के बाद वे शिकागो में हेनरी शुल्ज के सहायक हो गये। इसके बाद उन्होंने रूज़वेल्ट की न्यू डील वाली सरकार के लिए उपभोग के आँकड़े जुटाने का काम किया। नैशनल ब्यूरो ऑफ़ इकॉनॉमिक रिसर्च में साइमन कुज़नेत्स के साथ काम करते हुए उन्होंने डॉक्टरी, वकालत और इंजीनियरिंग जैसे



मिल्टन फ्रीडमैन (1912-2005)

पेशों के बाज़ार का अध्ययन किया। यही अध्ययन बाद में उनकी पीएचडी थीसिस बन गया जिसका एक निष्कर्ष काफी विवादास्पद था कि डॉक्टरों की तनख्वाहें ऊँची बनी रहें इसीलिए डॉक्टरों की सप्लाई कम रखी जाती है। फ्रीडमैन के इस अवलोकन के कारण उनकी थीसिस छपने में देर हुई। जॉर्ज सिटगलर के साथ ही उन्होंने शिकागो स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स का विकास किया। *न्यूज़वीक* पत्रिका में अट्ठारह साल तक स्तम्भ लिखने, अर्थशास्त्र पर एक बेस्ट सेलिंग किताब लिखने और दस कड़ियों वाले एक टीवी सीरियल के कारण उनका नाम विद्वानों की दुनिया से बाहर निकल कर सामान्य पाठकों और दर्शकों के बीच भी लोकप्रिय हो गया।

कीस द्वारा प्रवर्तित स्थिरीकरण की नीतियों के खिलाफ़ फ्रीडमैन का मुख्य तर्क यह है कि राजकोषीय नीति का इस्तेमाल करके बाज़ार में मुद्रा सप्लाई कम-ज़्यादा करने से व्यापार चक्र खराब हो जाता है और मुद्रास्फीति बढ़ जाती है। फ्रीडमैन ने उपभोग की भूमिका, अर्थव्यवस्था में मुद्रा सप्लाई के महत्त्व और बेरोज़गारी की स्वाभाविक दर का जिस प्रकार अध्ययन किया, उससे निकलने वाले नतीजे भी कीस और उनके अनुयायियों की सिफ़ारिशों के खिलाफ़ जाते हैं।

कीस की मान्यता यह थी कि उपभोक्ता चीज़ें ख़रीदने का निर्णय लेते समय अपनी चालू आमदनी को आधार बनाता है। फ्रीडमैन ने इस सहज सिद्धांत पर वैकल्पिक निगाह डाली और परमानेंट इनकम हायपोथैसिस (स्थाई

आमदनी से संबंधित परिकल्पना) का सूत्रीकरण किया। उन्होंने दावा किया कि उपभोक्ता अपनी दीर्घावधि के दौरान अपनी आमदनी संबंधी उम्मीदों के आधार पर उपभोग के फ़ैसले करता है। अपनी बात साबित करने के लिए फ्रीडमैन ने बहुत सारे तथ्य भी जुटाये और इस प्रक्रिया में ऐसी कई उलझनों को भी सुलझा दिया जो कीस के सहज सिद्धांत के कारण पैदा हुई थीं। कीस के सिद्धांत से यह निष्कर्ष भी निकलता था कि जैसे-जैसे आमदनी बढ़ेगी, उसका उपभोग वाला हिस्सा घटना चाहिए और बचत का हिस्सा बढ़ना चाहिए। सम्भवतः कीस की मान्यता यह रही होगी कि उपभोग एक सीमा तक ही बढ़ेगा इसलिए बढ़ती हुई आमदनी में बचत का अंश ज़्यादा बड़ा हो जाएगा। लेकिन, साइमन कुज़नेत्स अमेरिका में आमदनी, उपभोग और बचत का अध्ययन करते हुए इस नतीजे पर पहुँचे थे कि कीस का यह निष्कर्ष सही नहीं है, क्योंकि कई दशकों तक आमदनी में काफी बढ़त होने के बावजूद अमेरिका के लोगों की बचत का स्तर नहीं बढ़ा था। कीस और कुज़नेत्स के इन निष्कर्षों के इस विरोधाभास पर विचार करते हुए फ्रीडमैन ने दिखाया कि भविष्य में अपेक्षित आमदनी को अगर व्यय संबंधी निर्णयों का आधार समझा जाए तो यह पहेली सुलझ सकती है। अगर किसी की आमदनी बढ़ती है तो उसके साथ उसकी भविष्य में और आमदनी होने की आशा भी बढ़ जाती है। इसलिए उपभोक्ता भविष्य के उपभोग के लिए बचत करने में कम दिलचस्पी दिखाता है।

स्थाई आमदनी से संबंधित मिल्टन फ्रीडमैन की परिकल्पना यह संकेत भी देती है कि छोटे धंधे करने वाले लोग या ऐसे ही अन्य आय-समूह क्यों अपनी आमदनी का बड़ा हिस्सा बचत के हवाले कर देते हैं और क्यों फिर बचत के उस स्तर को कम कर देते हैं। फ्रीडमैन ने कहा कि अगर बचत चालू आमदनी पर निर्भर होती तो ऐसा नहीं हो सकता था। दरअसल, ऐसा इसलिए होता है कि लोगों का वास्तविक व्यय कई वर्षों के दौरान होने वाली आमदनी के औसत पर निर्भर होता है। यह परिकल्पना कीस की सिफ़ारिशों के मुताबिक़ बनी नीतियों के विकल्प में नीतिगत सलाहों के स्रोत के रूप में भी उभरती है। कीस का कहना था कि राजकोषीय नीति इस तरह बनानी चाहिए जिससे मंदी के दौरान रोज़गार के अवसर बढ़ाये जा सकें। फ्रीडमैन ने दिखाया कि जब सरकार राजकोषीय नीति का इस्तेमाल करके लोगों की आमदनी बढ़ाने की कोशिश करती है तो नतीजे के तौर पर लोग अपना ख़र्चा नहीं बढ़ाते क्योंकि उनकी समझ में उस आमदनी का चरित्र स्थाई नहीं होता। कुल मिला कर इस तरह की राजकोषीय नीति का अर्थव्यवस्था पर वह असर नहीं होता जिसके लिए उसे बनाया जाता है।

कीस के विपरीत फ्रीडमैन ने तर्क दिया कि मुद्रा और मौद्रिक नीति को आर्थिक गतिविधियों के निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभानी चाहिए। क्लासिकल मौद्रिक सिद्धांतकारों का खयाल था कि अर्थव्यवस्था में मुद्रा की सप्लाई का वेग संस्थागत लिहाज से तय होता है, लेकिन फ्रीडमैन ने कहा कि सप्लाई की रफ्तार ब्याज दर और अपेक्षित मुद्रास्फीति जैसे कारकों पर निर्भर हो सकती है। फ्रीडमैन ने यह भी पाया कि लोग चीजें खरीदने के अलावा अन्य कारणों से भी पैसे की बचत करते हैं। मसलन, वे ज़मीन-जायदाद या शेयरों की क्रीमत गिर सकने के डर से भी बचत करने के बारे में सोच सकते हैं। अपने इस अवलोकन को जब फ्रीडमैन ने तथ्यगत कसौटियों पर कसा तो उन्हें लगा कि इन कारकों का मुद्रा सप्लाई की रफ्तार पर फ़र्क पड़ता है, पर बहुत कम और वह भी आगे चल कर कम होता चला जाता है। यानी मुद्रा की आपूर्ति का वेग अपेक्षाकृत स्थिर रहता है और आर्थिक गतिविधि का स्तर मुद्रा की मात्रा से प्रभावित होता रहता है। इसी के साथ फ्रीडमैन ने यह भी जोड़ा कि मुद्रा यह प्रभाव अल्पावधि के लिए ही डालती है, और दीर्घावधि में उसकी भूमिका तटस्थ हो जाती है। धन की मात्रा पहले छह या आठ महीनों तक ही उत्पादन के स्तर को प्रभावित करेगी, बाद में उसका असर केवल दामों तक ही रह जाएगा। मुद्रा सप्लाई में बढ़ोतरी साल-डेढ़ साल बाद दामों को बढ़ायेगी और मुद्रास्फीति में उछाल आयेगा।

आम तौर पर अर्थशास्त्री मुद्रास्फीति के कारणों में लागत और माँग को गिनते हैं, पर फ्रीडमैन की दलील थी कि सभी तरह की मुद्रास्फीति चीजों की माँग बहुत ज्यादा बढ़ जाने और उसके कारण मुद्रा का सृजन होने से पैदा होती है, इसलिए अर्थव्यवस्था में मुद्रा की सप्लाई हमेशा संयमित रखनी चाहिए। केंद्रीय बैंक का प्रयास होना चाहिए कि तीन से चार फ्रीसदी सालाना से ज्यादा की दर से मुद्रा अर्थव्यवस्था में न पहुँचने दी जाए। इससे होगा यह कि अतिरिक्त चीजें खरीदने के लिए लोगों को पैसा भी मिलता रहेगा और मुद्रास्फीति की नौबत भी नहीं आयेगी। किसी और तरीके से अगर मुद्रा सप्लाई का प्रबंधन किया गया तो नतीजे या मंदी में निकलेंगे या स्फीति में। फ्रीडमैन ने आरोप लगाया कि तीस के दशक की महामंदी अमेरिका के फ़ेडरल रिजर्व की कारिस्तानियों का ही नतीजा थी। पहले तो उसने मुद्रा सप्लाई में अपना हाथ तंग रखा क्योंकि उसे स्टॉक मार्केट में सट्टेबाज़ी का डर था, और फिर 1930 से 1931 के बीच उस समय कुछ नहीं किया जब जमाकर्ता बैंकों से अपना धन निकालने में लगे हुए थे। उसने ब्याज दरें तब बढ़ायी जब सितम्बर, 1931 में ब्रिटेन ने गोल्ड स्टैंडर्ड को त्याग दिया। ये तमाम कारवाइयाँ अमेरिकी अर्थव्यवस्था में मुद्रा सप्लाई में भारी गिरावट लाने वाली साबित हुईं, जिससे लोगों का खर्च का स्तर घट गया और मंदी आ गयी।

फ्रीडमैन ने 1968 में दिखाया कि हर अर्थव्यवस्था में बेरोज़गारी की एक संतुलनावस्था दर काम क्रायम रहती है। हर एक के पास काम हमेशा नहीं रहेगा। दो नौकरियों के बीच लोग बेरोज़गार रहेंगे ही। नयी श्रम-शक्ति को काम मिलने में कुछ देर होगी ही। बेरोज़गारी भत्ते और अन्य सामाजिक सुरक्षाओं के कारण भी लोग ज्यादा समय तक उपयुक्त नौकरी तलाशते रहेंगे। पति-पत्नी में से अगर एक नौकरी कर रहा है, तो दूसरे को ज्यादा बेरोज़गार रहने का मौक़ा मिलेगा। अगर बेरोज़गारी की इस संतुलनावस्था को एक निश्चित स्तर से घटाने की कोशिश की गयी तो उसका नतीजा मुद्रास्फीति में उछाल आने में निकलेगा। दाम बढ़ जाँगे और लोग कम चीजें खरीद पायेंगे। खर्च गिरेगा, तो उत्पादन और रोज़गार भी गिरेगा। अर्थव्यवस्था को सिकुड़ना पड़ेगा।

फ्रीडमैन द्वारा प्रवर्तित मौद्रिकवाद का व्यावहारिक रूप समस्याग्रस्त साबित हुआ है। अमेरिका, ब्रिटेन और युरोपीय देशों में जब इन नीतियों को लागू किया गया तो जल्दी ही समस्याएँ पैदा होने लगीं। मुद्रा सप्लाई को परिभाषित करना मुश्किल हो गया। हर बार जब सप्लाई के मानक बनाये गये तो उससे अपेक्षित लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हुई और हर बार नयी परिभाषा की ज़रूरत पड़ी। न ही मुद्रा सप्लाई की रफ्तार का निर्धारण हो पाया और न ही उसकी मात्रा का।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कीस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्त्राफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेरर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. ईमन बटलर (1985), *मिल्टन फ्रीडमैन : अ गाइड टु हिज़ इकॉनॉमिक थॉट*, युनिवर्स बुक्स, न्यूयॉर्क।

2. अब्राहम हिर्श और नील डि मार्ची (1985), *मिल्टन फ्रीडमैन : इकॉनॉमिक्स इन थियरी ऐंड प्रैक्टिस*, युनिवर्सिटी ऑफ मिशिगन प्रेस, ऐन आरबर, मिशिगन.
3. लॉरेंस ए. बोलैण्ड (1979), 'ए क्रिटिक ऑफ फ्रीडमैनस क्रिटिक्स', *जरनल ऑफ इकॉनॉमिक लिटरेचर*, 17.
4. डब्ल्यू. मेल्विन रेडर (1982), 'शिकागो इकॉनॉमिक्स : परफारमेंस ऐंड चेंज', *जरनल ऑफ इकॉनॉमिक लिटरेचर*, 20.

— अभय कुमार दुबे

मिल्टन सिंगर

(Milton Singer)

अमेरिका के प्रसिद्ध मानवशास्त्री मिल्टन सिंगर (1912-1994) को भारत में जारी आधुनिकीकरण के विशेष अध्ययन के लिए जाना जाता है। वे ऐसे प्रमुख विद्वानों में थे जिन्होंने अमेरिका में दक्षिण-एशियाई समाजों के अध्ययन को काफ़ी महत्व दिलाया। उन्होंने भारतीय शिक्षाविदों और शोधकर्ताओं के साथ समन्वय स्थापित करने पर खास बल दिया और पूरे विश्व में उस क्षेत्र में अपने काम से नया मॉडल प्रस्तुत किया। सिंगर ने 1950 से 60 के दशक के मध्य भारत में अपना प्रत्यक्ष और क्षेत्रीय अध्ययन किया। उस समय तक अमेरिकी अकादमिक जगत में भारत के आधुनिकीकरण और आर्थिक विकास को लेकर संदेह किये जाते थे और माना जाता था कि परम्परा और जाति व्यवस्था में जकड़ा समाज इस दिशा में विकास करने में अक्षम है। मैक्स वेबर पहले ही भारत में पूँजीवाद के विकास पर संदेह जता चुके थे और उनका मानना था कि चरम भाग्यवाद, जातिवाद और परम्पराबद्धता के कारण भारत में मौजूद सांस्कृतिक परिस्थितियाँ पूँजीवादी विकास में सहायक नहीं हैं। हिंदू धार्मिक मूल्य उद्यमिता के विकास में रुकावट हैं।

सिंगर ने टेक्सास विश्वविद्यालय से एमए की शिक्षा प्राप्त की और शिकागो विश्वविद्यालय से 1940 में दर्शनशास्त्र में पीएच.डी की उपाधि हासिल की। इसके बाद अगले वर्ष ही उन्होंने इसी विश्वविद्यालय में शिक्षण कार्य आरम्भ कर दिया और लगभग 29 साल पढ़ाने के बाद 1979 में सेवानिवृत्त हुए। सिंगर का भारत संबंधी शोध तब आरम्भ हुआ जब उन्होंने राबर्ट रेडफ़ील्ड के साथ मिलकर संस्कृति व सभ्यताओं के अंतरानुशासनिक अध्ययन की परियोजना को आरम्भ करने में योगदान दिया। पर 1958 में रेडफ़ील्ड का निधन हो गया और सिंगर को ही परियोजना निदेशक बना दिया गया। रेडफ़ील्ड का मत था कि मानवशास्त्रीय अध्ययनों

को अन्य समाज-विज्ञानों तथा मानविकी से जुड़े विषयों के साथ मिलाकर चलना चाहिए और रेडफ़ील्ड-सिंगर की टीम ने एंथ्रोपोलॉजी को नयी ऊँचाई पर पहुँचाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

सिंगर ने अपने शोध और निष्कर्षों से मैक्स वेबर की धारणा का खण्डन किया। उन्होंने दक्षिण भारत, खास तौर पर मद्रास के कारोबारियों का अध्ययन किया और यह जानने का प्रयास किया कि किस प्रकार उनकी संस्कृति ने कारोबार के क्षेत्र में उनकी नवोन्मेषी प्रतिभा और कारोबार संबंधी क्षमताओं के विकास में सहायता की है। अपनी इस फ़ील्ड-स्टडी के दौरान सिंगर ने बड़ी संख्या में पुजारियों, नर्तकों, सामान्य आस्तिक हिंदुओं और कारोबारियों के साथ बातचीत की और उनके साक्षात्कार लिए। उन्होंने राबर्ट रेडफ़ील्ड की तरह लोक-संस्कृति के अध्ययन और नगरों में सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं का बारीक विवेचन किया। उन्होंने यह समझने का प्रयास किया कि किसी प्रकार एक प्राचीन संस्कृति ने पिछली एक शताब्दी के दौरान विदेशी विश्वासों और गतिविधियों का सामना किया और किस प्रकार नयी स्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढाला। इस अध्ययन पर आधारित उनकी पुस्तक *व्हेन ए ग्रेट ट्रेडिशन माडर्नाइजेस : एन एंथ्रोपोलॉजिकल अप्रोच टु इण्डियन सिविलाइजेशन* का प्रकाशन 1972 में हुआ। उन्होंने ऐसे काल-खण्ड में भारतीय समाज का अध्ययन किया जब वह ब्रिटिश उपनिवेशवाद से मुक्त होने के बाद विकासशील देश के रूप में उद्योगीकरण और आधुनिकता की दिशा में प्रयास कर रहा था। उन्होंने प्राचीन संस्कृति और नगर-समाज को औपनिवेशिक नगरीकरण की तुलना में रख कर देखा है। उन्होंने दो प्रकार की नगर-संस्कृतियों का उल्लेख किया। इसमें उन्होंने काशी-मदुरै जैसे पुराने नगरों तथा कलकत्ता-मद्रास जैसे औपनिवेशिक महानगरों में भेद किया। पहली श्रेणी के नगरों को उन्होंने मूल-सम्भूत और दूसरी श्रेणी के नगरों को अपर-सम्भूत कहा है। सिंगर ने राबर्ट रेडफ़ील्ड द्वारा विकसित लघु-परम्परा और दीर्घ-परम्परा की अवधारणाओं का भी सहारा लिया और कहा कि आम लोगों की पुरानी चली आती लघु-परम्परा को नये परिवेश में परिष्कृत करने का काम प्राचीन नगर करते हैं और उन्हें दीर्घ-परम्परा में ढाल देते हैं। उन्होंने परिवर्तन तथा उद्यमिता की स्वीकृति को भी भारतीय संस्कृति के मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने किसी देश की रूढ़-छवि के आधार पर उसका मूल्यांकन करने के प्रयासों की आलोचना की और ज़मीन से जुड़े शोधों के आधार पर इन छवियों पर पुनर्विचार की निरंतरता का पक्ष लिया। इसी आधार पर अमेरिका तथा युरोप में प्रचलित भारतीय छवियों को उन्होंने वास्तविकता से दूर भी बताया।

सिंगर ने नतीजा निकाला कि मद्रास के कारोबारियों

और उद्योगपतियों के काम में बाधा बनने के स्थान पर उनकी सामाजिक संस्थाओं, विश्वासों और संस्कारों ने उन्हें सहायता प्रदान की। उनका ग्रामीण-कस्बाई जीवन से महानगरीय, कृषि संस्कृति से कारोबारी संस्कृति व आधुनिक शिक्षा-उद्योग की दिशा में रूपांतरण हुआ और इसके लिए उन्हें परम्परागत विशेषताएँ अनिवार्य रूप से त्यागने की विवशता से भी नहीं गुज़रना पड़ा। परिवेश के नयेपन में भी उनके व्यावसायिक क्षमताएँ बनी रहीं। यानी एक तरह की धारावाहिकता होती है जिसमें परम्परागत व्यवसायी जातियाँ नये पेशों में भी प्रधानता हासिल कर लेती हैं। सिंगर ने अपनी रचना में सिद्ध किया है कि किस प्रकार से परम्परा व आधुनिकता, निरंतरता व नवीनता आदि परस्पर विरोधी दशाएँ भारतीय समाज में अपना स्थान तथा समन्वय स्थापित करती हैं। भारतीय बौद्धिक परम्परा की शक्ति और समृद्धि को भी उन्होंने खास तौर पर उभारा है।

उनकी इन स्थापनाओं से पुराने निष्कर्ष प्रश्नांकित भी होते हैं कि औपनिवेशिक काल में भारत में पूरी तरह से नये महानगर बने जिसका प्राचीन संस्कृति-परम्परा से संबंध न था और नये व्यवसायों का उदय भी पूरी तरह से नयी शिक्षा-दीक्षा का परिणाम था और इसमें पारम्परिक जाति-संरचना का कोई प्रभाव न था। यह भी माना जाता था कि औद्योगिक शहरीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय समाज में से सबसे अधिक भारतीय पारिवारिक संरचना को प्रभावित किया है। सिंगर ने मद्रास सिटी के उद्योगपतियों के बीच सम्मिलित परिवार संरचना का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि सम्मिलित परिवार प्रथा उद्यमिता के विकास में रुकावट नहीं है, बल्कि इसने उद्योगीकरण को बढ़ावा दिया है और उसे अपनाया है। उन्होंने डिब्बाबंद समाज के रूप में यथार्थ की व्याख्या की। उनका मानना था कि मद्रास के कारोबारियों ने बतौर हिंदू ब्राह्मण तथा व्यवसायी के रूप में अपनी अस्मिता के मध्य टकराव का अनुभव नहीं किया और इन्हें दो भिन्न वास्तविकताओं के रूप में स्वीकार किया। एक को दूसरे के विरोध में नहीं खड़ा किया बल्कि सामाजिक गतिविधियों के मामले में उन्हें परस्पर अलग-अलग भी रखा।

सिंगर का भारत के अन्य विद्वान तथा समाजशास्त्रियों जैसे एम.एन श्रीनिवास आदि से गहरा संवाद था और श्रीनिवास ने ही उनकी मद्रास सिटी के अध्ययन पर आधारित पुस्तक की भूमिका भी लिखी है। श्रीनिवास ने मैसूर ने निकट स्थित गाँव रामपुरा के व्यापक समाजशास्त्रीय अध्ययन में व्यक्तियों तथा परिवारों के बीच गहन रूप से फैले जाल का उल्लेख किया है। विभिन्न जातियों में अंतर्विवाह तथा खानपान संबंधी नियमों के कारण दूरी पायी जाती है। विभिन्न धार्मिक अवसरों आदि पर यह दूरी समाप्त होती है और सामूहिक चेतना का विकास होता है। आर्थिक दृष्टि से भी

जातियों के सदस्य परस्पर निर्भर होते हैं।

सिंगर ने श्रीनिवास के इन अध्ययन संबंधी निष्कर्षों को खासतौर पर रेखांकित किया और अपने भारतीय समाज संबंध शोध तथा क्षेत्रीय-अध्ययन में व्यापक उपयोग किया। रेडफ़ील्ड और श्रीनिवास के अलावा लुई दूमों और डेविड मैडलबाम के भारत संबंधी अध्ययनों का भी सिंगर पर प्रभाव नजर आता है। हालाँकि उन्होंने इन सभी प्रभावशाली विद्वानों से अपनी शब्दावली के चयन में सहायता ली है पर मूलतः उनके बृहद् और मौलिक तर्कों के सामने शब्दावली का प्रभाव गौण प्रतीत होता है। सिंगर ने 1970 में अमेरिकी समाज-संस्कृति के मानवशास्त्रीय अध्ययन की पद्धतियों के विकास की ओर भी ध्यान दिया। खास तौर पर सांस्कृतिक परिवर्तनों के बारे में छात्रों की शिक्षा की जरूरत ने उन्हें ऐसा करने के लिए प्रेरित किया। उथल-पुथल भरे समय में छात्रों की ओर से कार्यशाला चलाने संबंधी माँग के आधार पर उन्होंने विशेष शोधपूर्ण सामग्रियाँ तैयार कीं। भारत और अमेरिका में जारी सांस्कृतिक नवोन्मेष के विविध पक्षों की उन्होंने तुलनाएँ भी कीं। अकादमिक कामों और गतिविधियों के बारे में समस्त ब्योरे उनकी पुस्तक *मैस ग्लासी इसेंस : एक्सप्लोरेशंस इन सेमियाटिक एंथ्रोपोलॉजी* (1984) में संकलित हैं।

उपरोक्त पुस्तकों के अलावा सिंगर की अन्य प्रमुख पुस्तकें हैं : *सेमियाटिक्स ऑफ सिटीज़, सेल्क्स ऐंड कल्चर* (1991), *अ साइकोएनालिटिक ऐंड अ कल्चरल स्टडी* (1953)।

देखें : अल्फ्रेड लुइस क्रोबर, ऑग्युस्त कॉम्त, क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस, क्लिफर्ड गीर्टज़, जार्ज जिमेल, टैलकॉट पार्संस, पिपर बोर्दियो, फ्रेंज उरी बोआस, मारग्रेट मीड, मारसेल मौज़, मार्गरेट मीड, मैक्स वेबर, रुथ बेनेडिक्ट।

संदर्भ

1. मिल्टन सिंगर (1968), 'द इण्डियन जाइंट फ़ैमिली इन मॉडर्न इण्डस्ट्री', एम. सिंगर (सम्पा.), *स्ट्रक्चर ऐंड चेंज इन इण्डियन सोसाइटी*, अल्डाइन पब्लिकेशन, शिकागो।
2. मिल्टन सिंगर (1972), *व्हेन ए ग्रेट ट्रेडिशन माडर्नाइज़ेज़ : एन एंथ्रोपोलॉजिकल अप्रोच टू इण्डियन सिविलाइज़ेशन*, प्रेइजर पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क।
3. मिल्टन सिंगर (1984), *मैस ग्लासी इसेंस : एक्सप्लोरेशंस इन सेमियाटिक एंथ्रोपोलॉजी*, इण्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस।

— वैभव सिंह

मिशेल पॉल फूको-1

विक्षिप्तता और सभ्यता

(Michel Paul Foucault-1)

फ्रांसीसी विद्वान मिशेल पॉल फूको (1926-1984) को दर्शन, इतिहास और सामाजिक सैद्धांतिकी के क्षेत्र में युगप्रवर्तक चिंतन करने का श्रेय दिया जाता है। उन पर नीत्शे, हाइडेगर और एडोर्नो का वैचारिक प्रभाव जरूर था, लेकिन द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद मानवीय और सामाजिक अस्तित्व के रहस्यों का मौलिक अनावरण करने या उसके लिए ज़मीन बनाने के मामले में वे अपने सभी समकालीन चिंतकों से आगे निकल जाते हैं। फूको के कृतित्व में अपने ज़माने की उन सभी बौद्धिक प्रविधियों के प्रति गहरा असंतोष था जो मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद और घटनाक्रियाशास्त्र के औज़ारों से तैयार की गयी थीं। यह क्षोभ ही उन्हें जाँच-पड़ताल का एक ऐसा अनूठा रवैया बनाने की तरफ़ ले गया जिसने युरोपीय चिंतन के दायरे में स्थापित चली आ रही वैज्ञानिक अनुसंधान की मूल्य-तटस्थता तथा राजनीतिक और नैतिक दायरे में बुद्धिवादी रवैये के बोलबाले को प्रगल्भ चुनौती दी। विचारों के क्षेत्र में नीत्शे, मार्क्स और फ़ॉयड को 'संदेह और प्रश्नांकन के बादशाह' की संज्ञा देने वाले फूको स्वयं इस प्रक्रिया में इन तीनों महान चिंतकों की ही तरह बीसवीं सदी में संदेह और प्रश्नांकन के उस्ताद बन गये। उन्होंने जो शास्त्र रचा वह इतना दिलचस्प और विचारोत्तेजक है कि उनके सूत्रीकरणों के ज़िक्र और रचनाओं के उद्धरण के बिना समाज-विज्ञान और मानविकी का कोई विमर्श पूरा नहीं होता। वे समाज और राजनीति, संस्कृति और इतिहास की सहज-सामान्य लगती संरचनाओं को इस तरह खोलते चले जाते हैं कि उनकी सर्वस्वीकृत व्याख्याएँ एक क्षण में ध्वस्त हो जाती हैं। दार्शनिक लहजे में कहें तो फूको का बुनियादी अवदान यह है कि दुनिया और उसकी व्यवस्था के जिस स्थिर रूप से हम परिचित हैं वह उसकी कई सम्भावित बहुलताओं का महज एक रूप है। इस प्रतिपादन में यह पूर्वनिहित है कि सामाजिक मान्यताएँ तथा व्याख्याएँ मूलतः और अंततः सांस्कृतिक निर्मितियाँ होती हैं जो समय और स्थान के साथ बदल जाती हैं।

स्वीकृत और स्थापित मान्यताओं की गहन परीक्षा को फूको के चिंतन का मर्म कहा जा सकता है। यह एक ऐसा तत्त्व है जो उनके शोध के विषयों— विक्षिप्तता, यौनिकता और जेंडर से लेकर सत्ता के विमर्श में निरंतर मौजूद रहता है। सामाजिक जीवन की परिघटनाओं और उनसे जुड़ी मान्यताओं को समझने के लिहाज़ से फूको की शुरुआती रचना *मैडनेस ऐंड सिविलाइज़ेशन : अ हिस्ट्री ऑफ़*

इनसेनिटी इन द एज ऑफ़ रीज़न (1961) एक युगांतरकारी प्रस्थान बिंदु मानी जाती है। इस कृति में फूको विक्षिप्तता की ऐतिहासिक पड़ताल करते हुए दिखाते हैं कि सत्रहवीं शताब्दी से पहले युरोप में विक्षिप्तता को केवल रैशनलिटी का अनुलोम माना जाता था। इसे लेकर आम सामाजिक धारणा यह थी कि विक्षिप्त ऐसे व्यक्ति को कहा जाता जो भावना या भावोद्रेक को तर्क से ज़्यादा तवज्जो देता है। हालाँकि उस दौर में भी विक्षिप्त व्यक्ति को समाज की मुख्यधारा का हिस्सा तो नहीं माना जाता था परंतु उनके बारे में आम धारणा यह भी थी कि ऐसे लोग जनता की उम्मीदों और बेवकूफ़ियों को अभिव्यक्त करते हैं। फूको बताते हैं कि शेक्सपीयर, सर्वेन्तीज़ तथा ड्रैस्मस जैसे लेखकों की रचनाओं में विक्षिप्त पात्र साधारण-जन के इसी चरित्र को रूपायित करते हैं। लेकिन तथाकथित क्लासिकल युग (1650-1800) के बाद विक्षिप्तता को समाज की रीति-नीति से भटकाव या विपथगमन के अर्थ में देखा जाने लगा। उनके मुताबिक़ इस काल में विक्षिप्त व्यक्ति से उसकी सामाजिकता छीन ली गयी। उसे रुग्ण घोषित कर समाज की नैतिकता व रैशनलिटी के लिए ख़तरा मान लिया गया। फूको का मानना है कि इस रवैये ने विक्षिप्त माने जाने वाले लोगों को एक ख़ास घेरे में क़ैद कर दिया और उनके साथ अपराधियों व भिखमंगों जैसा बरताव किया जाने लगा।

फूको इस बात का प्रतिवाद करते हैं कि उन्नीसवीं सदी में मानसिक रोगियों के लिए विशेष आश्रय स्थलों की व्यवस्था करना एक मानवीय क़दम था। उनकी दलील है कि यह व्यवस्था उनके लिए ज़्यादा क्रूर साबित हुई क्योंकि इसके बाद रोगियों को उनकी इस बीमारी के लिए नैतिक रूप से ज़िम्मेदार मान लिया गया। फूको विक्षिप्तता को समाज में अलग से चिह्नित करने की इस प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं कि इसने मानसिक रोगी को पहले से भी कातर और दीन बना दिया। इसने उसके अंदर यह भावना बैठा दी कि समाज और नैतिकता के किसी भी सम्भावित ख़तरे के लिए उसकी अपनी इयत्ता ज़िम्मेदार है इसलिए अगर उसे दण्ड दिया जाता है तो इसके लिए वह ख़ुद ही उत्तरदायी है।

मानसिक रोग के लिए ख़ुद व्यक्ति को ज़िम्मेदार ठहराने की इस प्रवृत्ति के निहितार्थों पर विचार करते हुए फूको इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि नैतिकता की एकसार अवधारणा गढ़ कर असल में ये आश्रय स्थल उन तमाम लोगों को भी अपने पाश में खींचने की कोशिश करते हैं जो उनकी गिरफ्त से बाहर निकलना चाहते हैं। लेकिन ध्यान रहे कि आश्रय स्थल की व्यवस्था इसके लिए दमनकारी उपाय नहीं अपनाती। इसके लिए वह रोगी को नियंत्रित करने के लिए निगरानी, दण्ड और पुरस्कार का एक बारीक तंत्र बुनती है जो



मिशेल पॉल फ़ूको (1926-1984)

बाहर से तो उसके हित में खड़ा दिखता है लेकिन वास्तव में वह रोगी को शेष समाज से काटकर उसे अकेला कर देता है। फ़ूको वक्रोक्ति में कहते हैं कि मानसिक रोगियों को इस हालत में पहुँचाने वाली व्यवस्था के पैरोकार कभी अपने अंदर की विक्षिप्तता नहीं देख पाते।

रोग की पहचान, निदान और इलाज की प्रक्रियाओं के इतिहास में जाते हुए फ़ूको अपनी दूसरी रचना *द बर्थ ऑफ़ द क्लिनिक : ऐन आर्कियोलॉजी ऑफ़ मेडिकल परसेप्शन* में बताते हैं कि अट्ठारहवीं सदी से पहले रोगों को मानव शरीर के संदर्भ में नहीं देखा जाता था। रोग के निदान में व्यक्ति की खास भूमिका नहीं मानी जाती थी। उस समय यह विश्वास दृढ़ था कि रोग के लक्षण रोग की प्रकृति को समझने में बाधक बन सकते हैं। लेकिन उन्नीसवीं सदी की इबदा के साथ यह धारणा पूरी तरह बदल गयी। अब यह माने जाने लगा कि रोग मानव शरीर में ही स्थित होता है। लिहाज़ा चिकित्सक रोग की प्रकृति का अध्ययन करने के लिए शरीर की ऑटोप्सी पर जोर देने लगे, और इस तरह बीमारियों के वर्गीकरण पर निदान हावी होने लगा। ध्यान से देखें तो यह ऐसा क्षण था जिसमें चिकित्सा की दृष्टि त्रिआयामी हो गयी। चिकित्सक बाहरी लक्षणों की पड़ताल करता हुआ रोग के अदृश्य तंतुओं की ओर जाने लगा।

इस विश्लेषण को इतिहास की शोध पद्धति से जोड़ते हुए फ़ूको यह सूत्र प्रतिपादित करते हैं कि इतिहासकार को भी व्यक्ति केंद्रित विचारों के अध्ययन के बजाय विचार की ज़्यादा बुनियादी और गहरी संरचनाओं की पड़ताल करनी

चाहिए। इतिहास की इस पड़ताल को फ़ूको आर्कियोलॉजिकल मैथड का नाम देते हैं।

अपनी एक अन्य रचना *द ऑर्डर ऑफ़ थिंग्स : ऐन आर्कियोलॉजी ऑफ़ ह्यूमन साइंसेज़* (1966) और *आर्कियोलॉजी ऑफ़ नालेज़* (1969) में फ़ूको इस पद्धति के तत्त्वों पर रोशनी डालते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि इतिहास को देखने की स्थापत्यपरक पद्धति बौद्धिक इतिहास के परम्परागत रूपों से किस मायने में अलग है। उनके अनुसार इतिहास में कालक्रम को सीधी रेखा की तरह नहीं देखा जा सकता। वे उन इतिहासकारों को खारिज करते हैं जो वर्तमान को ज्ञानोदय से निकली विचार-प्रक्रिया का परिपाक मानते हैं। फ़ूको का मानना है कि इतिहास में निरंतरता और प्रगति का विमर्श इसी ज़िद से पैदा होता है। उनकी नज़र में इतिहास रिनैसाँ से शुरू हुए और वर्तमान में चल रहे विकास की अविकल और क्रमागत कथा नहीं हो सकती, क्योंकि बीच-बीच में यह निरंतरता भंग होती रही है। फ़ूको की दलील है कि सोलहवीं सदी के अंत तक जीवन का पूरा विमर्श इस धारणा पर टिका था कि संसार की हर चीज़ एक दूसरे से संबंधित है तथा उनके आपसी संबंधों के मूल में ईश्वर छिपा है। फ़ूको के मुताबिक विश्व को ईश्वर का प्रतिरूप मानने के इस सिद्धांत को क्लासिकल युग में प्रतिनिधित्व के सिद्धांत ने मात दे दी। गौरतलब है कि क्लासिकल युग के चिंतकों का यह दृढ़ मत था कि भाषा समाज और प्राकृतिक संसार के वास्तविक रूप को दर्शाने में पूरी तरह सक्षम है। लेकिन उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में ही इस सिद्धांत को यह कहकर चुनौती दे दी गयी कि विचारक जिस तरह लोगों और विमर्शों का इस्तेमाल करते हैं वह खुद सीमित और संदर्भ से बंधा होता है।

फ़ूको अपनी इस स्थापत्यमूलक पद्धति के पक्ष में यह तर्क भी रखते हैं कि इससे इतिहासकार को यह समझने में मदद मिलती है कि मनुष्य हमेशा तर्कसंगत होकर नहीं सोचता तथा जीवन की बहुविध प्रक्रियाओं के मामले में वह सम्प्रभु नहीं होता। उनका मानना है कि लोगों के विचार ऐसे नियमों या स्थाई संरचनाओं से तय होते हैं जिनके बारे में उन्हें कोई भान तक नहीं होता। उनका कहना है कि मनुष्य को रिप्रलेक्सिव मानने का खयाल वास्तव में एक सामाजिक निर्मित/गढ़ंत है जो उन्नीसवीं सदी से पहले अस्तित्व में ही नहीं थी। वे व्यंग्यात्मक अंदाज़ में कहते हैं कि मनुष्य की समूची अवधारणा ही हाल फ़िलहाल का आविष्कार है, और वह चीज़ों की एक खास व्यवस्था पर निर्भर करती है। अगर उस व्यवस्था की आधार सामग्री ग़ायब हो जाए तो हम मनुष्यता के बारे में किसी और ही ढंग से बात करने लगेंगे।

फ़ूको अपने विश्लेषण में एक विशेष पद आरकाइव का प्रयोग करते हैं। इसे वे नियमों या स्थाई संरचनाओं के एक ऐसे तंत्र के तौर पर व्याख्यायित करते हैं जो अंततः यह

तय करता है कि समय के किसी विशेष बिंदु पर क्या सोचा जा सकता है और क्या नहीं। इसके अर्थ का विस्तार करते हुए वे यह कहते हैं कि नियमों के एक समुच्चय के रूप में आरकाइव इतिहास द्वारा निर्धारित और बदलावों से प्रतिकृत होता है। यहाँ से वे विमर्श के बारे में एक महत्वपूर्ण स्थापना करते हैं कि विमर्श का न केवल एक अर्थ या सत्य होता है बल्कि उसका एक निश्चित इतिहास भी होता है।

अपनी विख्यात रचना *डिसिप्लिन ऐंड पनिश : द बर्थ ऑफ़ द प्रिज़न* (1975) में फूको ने एक नयी प्रस्थापना पेश की। इससे पहले के लेखन में जहाँ फूको विचारों, अवधारणाओं, सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक परिघटनाओं के इतिहास का तुलनात्मक ढंग यानी स्थापत्यमूलक पद्धति के जरिये उद्घाटन कर रहे थे, वहीं चिंतन और कृतित्व के इस मोड़ पर आकर फूको को लगता है कि विभिन्न विमर्शों को एक दूसरे के संदर्भ में तौलने से यह तो प्रकट होता है कि किसी खास विचार या व्यवस्था को इतिहास के प्रवाह में एक दूसरे से श्रेष्ठ या उच्चतर नहीं ठहराया जा सकता, लेकिन इस पद्धति से यह समझने में मदद नहीं मिलती कि चिंतन के रवैये या तरीके में बदलाव अथवा संक्रमण कैसे पैदा होता है। कई विद्वानों के अनुसार इस काल में फूको इस मसले से जूझ रहे थे कि किसी खास दौर में कोई विचार, रवैया या दृष्टिकोण दूसरों से ज्यादा ताकतवर क्यों हो जाता है या उसे ज्यादा तरजीह क्यों दी जाने लगती है। फूको के अध्येताओं का कहना है कि *डिसिप्लिन ऐंड पनिश* में फूको अपनी पहली पद्धति आर्कियोलॉजिकल मैथड छोड़ कर एक नयी पद्धति जीनियोलॉजिकल मैथड अपनाते हैं। फूको जीनियोलॉजी का इस्तेमाल जिस मकसद के लिए करते हैं वह नीत्शे की नैतिकता संबंधी प्रस्तावनाओं से प्रेरित है। नीत्शे नैतिकता के उदय को इतिहास की किसी प्रगतिशील और महान योजना का हिस्सा न मानकर उसे एक ऐसी जटिल और सांसारिक सी परिघटना की तरह देखते हैं जो अक्सर किसी भी कोण से उदात्त नहीं कही जा सकती। ऐसे में किसी विश्लेषण में जीनियोलॉजी का इस्तेमाल करने का मकसद यह दिखाना होता है कि किसी काल में विचारों का तंत्र या व्यवस्था तार्किक रूप से अपरिहार्य प्रवृत्तियों का परिणाम न होकर इतिहास की आकस्मिक घटनाओं की देन होती है।

देखें : कार्ल मार्क्स, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, एडमण्ड हसर और घटनाक्रियाशास्त्र, थियोडोर एडोर्नो, फ्रेड्रिख नीत्शे-1 और 2, सेक्शुअलिटी, समलैंगिकता, पनोप्टिकॉन, जेरेमी बेंथम।

संदर्भ

1. एल. मैके (1994), *फूको : अ क्रिटिकल इंटरडक्शन*, केम्ब्रिज, पॉलिटी प्रेस.
2. पीटर बुर्के (सम्पा.) (1992), *क्रिटिकल एसेज ऑन फूको*,

केम्ब्रिज, स्कॉलर प्रेस.

3. जे. गोलडस्टीन (सम्पा.) (1994), *फूको ऐंड द राइटिंग ऑफ़ हिस्ट्री*, ऑक्सफ़र्ड, बेसिल-ब्लैकवेल.
4. जे. बरनौर और डी. रैसमुसेन (सम्पा.) (1998), *द फ़ाइनल फूको*, केम्ब्रिज, एमआइटी प्रेस.

— नरेश गोस्वामी

मिशेल पॉल फूको-2

सत्ता-निगरानी और सेक्शुअलिटी का इतिहास

(Michel Paul Foucault-2)

डिसिप्लिन ऐंड पनिश में फूको कारागार की संस्था के विकास का विवेचन करते हुए यह विमर्श खड़ा करते हैं कि अपराधियों को दण्डित करने के लिए उनका अंग-भंग करने या उनकी हत्या करने के बजाय उन्हें कारावास में डाल देना बाहर से भले ही अपेक्षाकृत सभ्य और उदारतापूर्ण उपाय माना गया हो पर सुधारों की समस्त सदाशयता के बावजूद कारावास नियंत्रण का एक ज्यादा प्रभावशाली तरीका ही साबित हुआ है। उससे दण्ड की मात्रा में कमी नहीं आयी। बस दण्ड देने के तरीके को ज्यादा दक्षतापूर्ण बना दिया गया। फूको आगे कहते हैं कि दण्ड देने का यह तरीका अंत में पूरे समाज और उसकी संस्थाओं— अस्पताल, स्कूल और फ़ैक्ट्रियों के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण बन गया। लेकिन यहाँ इस एक बात पर अलग से ध्यान देने की ज़रूरत है। फूको यह नहीं कहते कि यह सब किसी नियंत्रणकारी एजेंसी के आदेश या सायास प्रस्ताव से होता है। उनका विश्लेषण दिखाता है कि दूसरों को अनुशासित या दण्डित करने की आधुनिक व्यवस्था ऐसी तकनीकों और संस्थाओं के आकस्मिक उभार और ताल-मेल से निकली है जिनका मूल उद्देश्य यह नहीं था।

फूको बताते हैं कि आधुनिक समाज में लोगों को नियंत्रित या अनुशासित करने के लिए निगरानी की एक बहुस्तरीय व्यवस्था के अलावा दूसरों द्वारा किये गये फ़ैसलों को आत्मसात् करने तथा परीक्षा प्रणाली जैसे उपाय अपनाये जाते हैं। फूको जोर देकर कहते हैं कि लोगों पर नज़र रखने मात्र से सत्ता का आधा काम पूरा हो जाता है। इसके लिए वे स्टेडियम की व्यवस्था का हवाला देते हैं जिसमें सीटों की व्यवस्था इस तरह की जाती है कि दर्शक किसी कार्यक्रम को आसानी से देख पायें पर साथ ही यह व्यवस्था सत्ता के नियंत्रकों को दर्शकों पर निगाह रखने की सहूलियत भी प्रदान

करती है। यहाँ फ़ूको अनुशासन और नियंत्रण की सत्ता का मॉडल चिह्नित करने के लिए राजनीतिक चिंतक जेरेमी बेंथम द्वारा कल्पित जेल पनोप्टिकॉन का उल्लेख भी करते हैं। जिसकी मूल वास्तु-योजना कुछ ऐसी थी कि कोठरियों में बंद कैदी एक दूसरे के लिए तो अदृश्य रहें लेकिन जेल के केंद्रीय टॉवर की निगरानी से बाहर न हो पाये। कैदियों को कभी इस बात का पता नहीं चलता कि उन पर निगाह रखी जा रही है या नहीं पर उनके जेहन में यह बात बैठ जाती है कि कोई उन पर नज़र रखता है। फ़ूको पनोप्टिकॉन के सिद्धांत को एक ऐसे रूपक की तरह देखते हैं जो जेल की चौहद्दी के पार जाकर स्कूलों, फ़ैक्ट्रियों और अस्पतालों में अनुशासन का आम ढर्रा बन जाता है। हालाँकि बेंथम की यह प्रस्तावित जेल कभी मूर्त रूप नहीं ले पायी लेकिन एक सिद्धांत के रूप में वह आधुनिक समाज की लगभग हर गतिविधि पर क्राबिज़ हो गयी है। आधुनिक समाज में अनुशासन क्रायम करने वाली व्यवस्थाओं के लिए वह एक ऐसा औज़ार सिद्ध हुई है जिसने प्राक्-आधुनिक काल के राजाओं और हाकिमों को अपदस्थ कर उनकी जगह खुद को स्थापित कर लिया है।

इस क्रम में फ़ूको यह भी दर्शाते हैं कि आधुनिक सत्ता या अनुशासन क्रायम करने वाली व्यवस्था सिर्फ़ लोगों की गतिविधियों पर ही नज़र नहीं रखती बल्कि वह लोगों को उनकी अक्षमता दिखाकर भी नियंत्रित करती है। उनके अनुसार आधुनिक सत्ता समझ, प्रतिभा, सामान्य और असामान्य व्यवहार जैसी कोटियों का निर्माण करती है और जब कोई व्यक्ति इसके द्वारा स्थापित कसौटियों या मानकों पर खरा नहीं उतरता तो व्यवस्था ऐसे व्यक्ति को कमतर या असामान्य घोषित करने का मौक़ा नहीं चूकती। इस संदर्भ में फ़ूको यह याद दिलाना नहीं भूलते कि आधुनिक समाज की इन अनुशासनकारी संस्थाओं का यह रवैया किसी तरह के प्रतिशोध से नहीं बल्कि सुधार से प्रेरित होता है। इसका अंतिम लक्ष्य यह होता है कि व्यक्ति समाज की प्रदत्त कसौटियों या मानकों को स्वीकार कर ले। ग़ौर करें कि समाज की मान्यताओं के ज़रिये अनुशासन क्रायम करने का यह ढंग न्यायिक दण्ड की उस व्यवस्था से ख़ासा अलग है जिसमें किसी व्यक्ति को सिर्फ़ इस आधार पर दण्डित किया जाता था कि उसका कृत्य क़ानून सम्मत है या नहीं। ऐसे किसी फ़ैसले में यह नहीं कहा जाता था कि व्यक्ति सामान्य है या असामान्य। लेकिन आधुनिक समाज शैक्षिक कार्यक्रमों, चिकित्सा के तौर-तरीकों तथा उद्योग व उत्पादों के मामलों में कुछ निश्चित मानक स्थापित करने पर ज़ोर देता है और इन मानकों का वर्चस्व इतना चौतरफ़ा होता है कि व्यक्ति का व्यवहार और व्यक्तित्व उन्हीं के हिसाब से ढलने लगता है।

आधुनिक सत्ता की निर्णायक व्यापकता को फ़ूको परीक्षा प्रणाली और चिकित्सा के क्षेत्र में रोगी की जाँच-

पड़ताल के ज़रिये उजागर करते हुए यह अहम सूत्र प्रतिपादित करते हैं कि ज्ञान मुक्तिकारी तत्त्व न होकर सत्ता का ही एक रूप होता है। उनके अनुसार जब किसी व्यक्ति से परीक्षा में कोई बात पूछी जाती है या रोगी से उसके स्वास्थ्य के बारे में जानकारी देने को कहा जाता है तो इससे परीक्षा और चिकित्सा तंत्र के व्यवस्थापकों को व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने का अधिकार मिल जाता है। इस मामले में परीक्षा की प्रणाली तथा रोग की जाँच-पड़ताल दोनों ही व्यक्ति से संबंधित जानकारी का दस्तावेज़ तैयार करने पर ज़ोर देती हैं ताकि इस आधार पर वह व्यक्ति को किसी ख़ास श्रेणी— शैक्षिक लिहाज़ से कुशाग्र, मेहनती, सामान्य आदि तथा रोग के संदर्भ में स्वस्थ, सामान्य या गम्भीर आदि में रख सके। दिलचस्प बात यह है कि इस तरह परीक्षा और रोग की जाँच-पड़ताल की यह व्यवस्था जहाँ व्यक्ति से जुटायी गयी जानकारी के आधार पर श्रेणियों, औसत प्रवृत्तियों या मानकों का निर्माण करके उन्हें ज्ञान की वृद्धि के लिए इस्तेमाल करती है तो दूसरी ओर व्यक्ति को जाँचने की यह व्यवस्था उसे वैज्ञानिक अध्ययन के लिए एक उदाहरण भी बना देती है, जिसे ज़रूरत के अनुसार स्वास्थ्य संबंधी देखभाल का पात्र भी घोषित किया जा सकता है। फ़ूको स्पष्टता के साथ कहते हैं कि देखभाल करना केवल सत्कर्म नहीं होता। वह दूसरे को नियंत्रित करने का अवसर भी होता है।

फ़ूको का यौनिकता संबंधी अध्ययन *द हिस्ट्री ऑफ़ सेक्शुअलिटी : ऐन इंट्रोडक्शन* (1976) उनके इस सूत्रीकरण का एक अन्य दृष्टांत पेश करता है कि सत्ता और अनुशासन के रूप व्यक्ति के अंतर में पैठकर एक समय बाद उसके स्वभाव में शामिल हो जाते हैं और वह उन्हें किसी दमनकारी सत्ता के निर्देश के बग़ैर खुद अपनी मर्ज़ी से अपने आत्म का हिस्सा बना लेता है। इस किताब में फ़ूको यौनिकता की आधुनिक समझ का जायज़ा लेते हुए विक्टोरियाई काल में स्त्री और बच्चों की यौनिकता के साथ यौनिकता के असामान्य रूपों तथा यौन अपराधों से जुड़े चिकित्सकीय व मनोवैज्ञानिक विमर्शों की पड़ताल करते हुए यह दिखाते हैं कि इन विमर्शों का मुख्य उद्देश्य यौनिकता के ऐसे रूपों को रेखांकित करना था जो संतानोत्पत्ति के लक्ष्य से मेल नहीं खाते थे। इन विमर्शों का प्रभाव इतना ज़बरदस्त था कि व्यक्ति को समझने के लिए यौनिकता को मुख्य आधार माना जाने लगा। समाज और व्यक्ति दोनों ही यह मानने लगे कि यौनिकता के संबंध में आत्मस्वीकारोक्ति व्यक्ति के समूचे सत्य को उजागर कर देती है। लेकिन फ़ूको मानते हैं कि यौनिकता के विचलन को उद्घाटित करने की यह ग्रंथ व्यक्ति के आत्म के बारे में कोई इज़ाफ़ा नहीं करती। इसके उलट वह हमें अनुशासनकारी सत्ता के जाल में फाँस लेती है, क्योंकि

यौनिक अपराध की आत्मस्वीकृति से शुरू हुआ यह सिलसिला अब व्यक्ति को कई मुकामों में घेरने लगता है। आत्म-स्वीकृति के विभिन्न रूप व्यक्ति के आत्म में इस तरह समा जाते हैं कि एक समय बाद वह यह समझ ही नहीं पाता कि वह जिसे सहज व्यवहार मान रहा है वह असल में सत्ता का प्रभाव है। इस विश्लेषण के आधार पर अंत में फ़ूको यह स्थापना करते हैं कि समाज पर नियंत्रण स्थापित करने की प्रक्रिया प्रत्यक्ष दमन के साथ इस बात पर भी टिकी होती है कि खुद हम भी सामान्य दिखने की चाह से घिरे होते हैं।

एकबारगी सत्ता के इस अनुशासनकारी वर्चस्व में व्यक्ति की निजी भूमिका का यह विवरण उसे विकल्पहीन सा करता दिखता है लेकिन अपने परवर्ती लेखन में फ़ूको इस बात की ओर भी इशारा करते हैं कि व्यक्ति सत्ता और अनुशासन की इन ताकतों को आत्मसात् करने से कैसे बच सकता है। इस संदर्भ में वे कांट की रैशनैलिटी की सार्वभौमिक धारणा का खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि रैशनैलिटी का कोई एक ऐतिहासिक रूप स्थिर नहीं किया जा सकता। लिहाजा व्यक्ति को अपनी पहचान और दुनिया की हर सहज लगने वाली चीज़ को प्रश्नांकित करना चाहिए। प्रसंगवश, फ़ूको की अनेक रचनाएँ इंगित करती हैं कि ऐसे मसलों की परख में इतिहास एक अहम औजार बन सकता है।

फ़ूको के बौद्धिक अवदान पर समग्रता में विचार करें तो उनके कृतित्व ने चिकित्सा, यौनिकता, दण्ड और विक्षिप्तता जैसे विषयों पर जमे ज्ञानोदय के उस कुहासे को छाँटने में मदद की है जो सार्वभौमिकता के बहाने व्यापक स्वीकृति हासिल करके मनुष्य की स्वतंत्रता में बाधक बन गया था। आज अगर हम इन सामाजिक परिघटनाओं और वर्जनाओं को अपरिवर्तनीय सत्य न मानकर इतिहास के प्रवाह का एक बिंदु भर मानते हैं तो इसके पीछे फ़ूको का मौलिक लेखन ही है। उनका कृतित्व उन सारी बंदिशों, बेड़ियों, प्रतिबंधों, वर्जनाओं और निषेधों को निरावृत्त करने की प्रेरणा देता है जो आदर्शों, अवधारणाओं और कसौटियों की शकल में मनुष्य की चेतना में विन्यस्त हो गया है।

लेकिन फ़ूको के अध्येताओं का मानना है कि अपनी समस्त अग्रगामिता और नवोन्मेष के बावजूद उनका लेखन साक्ष्यों के मामले में पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हो पाता। इसलिए कई बार उनकी व्याख्या चयनित सामग्री से छिटकी हुई दिखायी पड़ती है। रोम और यूनानी संस्कृति के विद्वानों का कहना है कि इन क्षेत्रों से संबंधित फ़ूको के अध्ययन में त्रासदी, हास्य, कविता आदि की समझ दुरुस्त नहीं है। उन पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि वे अपने तर्क को आवेशपूर्ण ढंग से पेश करके उसे ज्यादा विश्वसनीय बनाने

की कोशिश करते हैं। कुल मिलाकर फ़ूको के कृतित्व की आलोचना मुख्यतः इन सवालों के इर्द-गिर्द रखी जा सकती है: एक, क्या मध्ययुग और रिनैसाँ को तर्क और भावना का आपसी संवाद माना जा सकता है या ज्ञानोदय से उपजी रैशनैलिटी महज सामाजिक नियंत्रण की इच्छा से ही प्रेरित थी।

फ़ूको के कृतित्व को युगांतरकारी मानने वाले विद्वानों को भी लगता है कि उनके चिंतन और दृष्टिकोण की कतिपय खामियों से ज्यादा अहम यह तथ्य है कि उनके विचारों और सूत्रों को या तो नारेबाजी और सांस्कृतिक अध्ययन की खास ढंग की शब्दावली में सीमित कर दिया गया है या फिर उसे इतना आमफ़हम बना दिया गया है कि वह अपनी आब ही खो बैठा है। इसलिए कई विद्वानों का आग्रह है कि फ़ूको के कृतित्व को दुबारा और नये सिरे से पढ़ा जाना चाहिए।

मिशेल फ़ूको का जन्म 15 जून, 1926 को पोइटियर्स, फ्रांस में हुआ था। उनके पिता चिकित्सक थे। ईकोल नारमेल सुपीरियर में दर्शन और मनोविज्ञान की शिक्षा लेने के बाद वे स्वीडन, पोलैण्ड और जर्मनी में अकादमीय पदों पर रहे। इसी दौरान उन्होंने आधुनिक मनोचिकित्सा पर अपनी डॉक्टरेट पूरी की। इसी का प्रकाशन 1961 में *मैडनेस ऐंड सिविलाइज़ेशन* के रूप में हुआ। इस पुस्तक ने विचारक के रूप में फ़ूको की धाक जमा दी। फ्रांस लौट कर 1969 में वे कॉलेज द फ्रांस में विचार-प्रणालियों के इतिहास के प्रोफ़ेसर बन गये और सारे जीवन इसी पद पर रहे। 25 जून, 1984 को एड्स की बीमारी से उनका निधन हुआ।

देखें : कार्ल मार्क्स, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, एडमण्ड हसर और घटनाक्रियाशास्त्र, थियोडोर एडोर्नो, फ्रेड्रिख नीत्से-1 और 2, सेक्सुअलिटी, समलैंगिकता, पनोप्टिकॉन, जेरेमी बैंथम।

संदर्भ

1. सी. ओफ़ैरेल (1989), *फ़ूको : हिस्टोरियन ऑर फ़िलॉसफ़र*, मैकमिलन, लंदन.
2. आर्नल्ड डेविडसन (सम्पा.) (1997), *फ़ूको ऐंड हिज़ इंटरलॉक्युटर्स*, शिकागो, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस.
3. एच. ड्रेफ़स और पी. रैबिनाँव (1983), *मिशेल फ़ूको : बियाँड स्ट्रक्चरलिज़म ऐंड हर्मैन्यूटिक्स*, दूसरा संस्करण, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.
4. डेविड हॉय (सम्पा.) (1986), *फ़ूको : अ क्रिटिकल रीडर*, ऑक्सफ़र्ड, ब्लैकवेल.

— नरेश गोस्वामी

मीडिया-अध्ययन

(Media Studies)

मीडिया-अध्ययन के उभार और मास-सोसाइटी के सिद्धांत के बीच गर्भनाल का रिश्ता है। बीसवीं सदी के मध्य में मास-सोसाइटी (जन-समाज या जनपुंज समाज) पर चिंतन की शुरुआत हुई। विद्वानों को लगा कि पश्चिमी औद्योगिक समाजों में अविभेदित और विवेकहीन यांत्रिक समरूपता, धर्म और परम्परा के ह्रास, परायेपन के एहसास, नैतिक मूल्यों के प्रति उदासीनता, पारिवारिक और सामुदायिक बंधनों की उत्तरोत्तर दुर्बलता का बोलबाला होता जा रहा है। इस प्रक्रिया से एक ऐसे समाज की रचना हो रही है जो कला, साहित्य, संगीत, दर्शन और विज्ञान में रुचि रखने में अक्षम हो गया है। उन्हें यह भी लगा कि समाज की इस स्थिति और बड़े पैमाने पर श्रोताओं, पाठकों और दर्शकों को सूचना और मनोरंजन संबंध उत्पादों की सप्लाई करने वाले मास-मीडिया के बीच गहरा संबंध है। मीडिया-उद्योग जन-रुचि के निकृष्टतम मानकों को मनोरंजन की सामग्री का आधार बनाता है और उसकी पूरी तरह से समरूप और सपाट अभिव्यक्तियाँ परोसी जाती हैं जिससे पारम्परिक और स्थानीय सांस्कृतिक बहुलता नष्ट होती है। यह सामग्री अपने उपभोक्ताओं के भीतर एक तरह की जड़वाती अनुक्रिया पैदा करती है जिसके असर में वे मीडिया द्वारा थमाये गये संदेश की बुद्धिसंगत विवेचना नहीं कर पाते।

मीडिया को बेहद शक्तिशाली मानने और उसके उपभोक्ताओं को पूरी तरह से निष्क्रिय शिकारों के रूप में ग्रहण करने वाले इस विचार के फलस्वरूप जो शुरुआती जाँच-पड़ताल हुई वह आनुभविक (इम्पिरिकल) क्रिस्म की थी। उसका मक़दस व्यक्ति और समाज पर मीडिया के हानिकारक प्रभावों को रेखांकित करना था। इन अनुसंधानों ने दिखाया कि किस तरह मीडिया हिंसा को बढ़ावा देकर समाज में नैतिक संकट पैदा कर रहा है, और विचारधारा (विशेष तौर से मार्क्सवादी) के प्रचार का औज़ार बन कर लोकतंत्र को संकटग्रस्त बनाने की भूमिका निभा रहा है। मीडिया-अनुसंधान के इस दौर को 'इंफ़ेक्ट रिसर्च' के नाम से भी जाना जाता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद मीडिया-अध्ययन का दूसरा और अधिक परिष्कृत दौर आया जिस पर समाजशास्त्रीय प्रकार्यवाद (फ़ंक्शनलिज़म) की छाप थी। इसे 'यूज़िज़ एंड ग्रेटिफ़िकेशन' रिसर्च के नाम से जाना जाता है। इसके विद्वानों की मान्यता यह थी कि मीडिया का उपभोक्ता न तो समरूप है और न ही बौद्धिक रूप से निष्क्रिय। उसकी संरचना विविधतामूलक है। विभिन्न सामाजिक और भौतिक

परिस्थितियों के कारण उसकी आवश्यकताएँ भी तरह-तरह की हैं। विद्वानों ने देखा कि इस तरह के उपभोक्ता पर मीडिया तीन तरह के प्रभाव डाल रहा है : उसकी सामग्री के उपभोग के जरिये व्यक्ति रोज़मर्रा की ज़िंदगी के दबावों और तनावों से कुछ राहत महसूस करता है जो अपने-आप में कोई अवांछित बात नहीं है, मीडिया-कार्यक्रमों के माध्यम से निजी संबंधों और सामाजिक मेल-जोल संबंधी मदद मिल रही है, और व्यक्ति की निजी अस्मिता गढ़ने में भी मीडिया की भूमिका है क्योंकि उसके कार्यक्रम अक्सर निजी मूल्यों को पुष्ट करते नज़र आते हैं।

पचास के दशक में मीडिया-सिद्धांत का कनाडियन स्कूल उभरा जिसके शीर्ष पर हैरल्ड इनिस और मार्शल मेकलुहन का चिंतन था। इनिस ने मीडिया को दो हिस्सों में बाँट कर देखा : पहला, वह मीडिया जिसे आसानी से स्थानांतरित नहीं किया जा सकता (जैसे मिट्टी और पत्थर की रचनाएँ) लेकिन जो बहुत टिकाऊ होता है और लम्बी अवधियों तक परम्परा के पुनरुत्पादन की भूमिका निभाता रहता है। दूसरा, वह मीडिया (जैसे कागज़) जो टिकाऊ तो नहीं होता, पर जिसे आसानी से एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जा सकता है। मीडिया के इस रूप का इस्तेमाल बड़े-बड़े भू-क्षेत्रों पर प्रशासकीय और राजनीतिक प्राधिकार की पुष्टि के लिए किया जाता है। मार्शल मेकलुहन का कहना था कि मीडिया-प्रौद्योगिकियों ने मानवीय संज्ञान पर बुनियादी असर डाला है। छपे हुए शब्द का बोलबाला होने से वाचिक संचार-परम्परा के मुक़ाबले दृष्टि की अहमियत बहुत बढ़ गयी क्योंकि सूचनाओं को रैखिक, समरूप और असीमित दोहराव के साथ पेश किया जाने लगा। मानवीय बोध और ज्ञान के अलग-अलग खाने बन गये। विशेषज्ञता का ज़माना आया। विचार उत्तरोत्तर मानकीकृत और विश्लेषणपरक होने लगे। मुद्रण-संस्कृति ने पढ़ने की क्रिया को एकांत और मौन के दायरे में पहुँचा दिया जिससे व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिला। इस संस्कृति को पहली चुनौती इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से मिली। मुद्रित-मीडिया फिर भी दिक् और काल से बँधा हुआ था, पर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने इन सीमाओं को पूरी तरह से नकार दिया। इसके प्रभाव में आधुनिक जीवन विभिन्न स्थानिकताओं और समयावधियों से आने वाली सूचनाओं और विश्लेषणों के निरंतर बदलते हुए विन्यास से आच्छादित हो गया। आधुनिक जीवन पर मीडिया के प्रभाव और उसके भूमण्डलीय विस्तार को व्यक्त करने वाले दो फ़िकरे ('मीडियम इज़ द मैसेज' और 'ग्लोबल विलेज') मेकलुहन की ही देन हैं।

सत्तर के दशक तक मेकलुहन के सूत्रीकरणों पर चर्चा कम होने लगी और टेलिविज़न के इर्द-गिर्द नया चिंतन शुरू हुआ। दूसरी तरफ़ मीडिया-उत्पादन की व्यावसायिक

संरचनाओं की जाँच-पड़ताल शुरू हुई। देखा गया कि किस तरह मीडिया-सामग्री की रचना-प्रक्रिया और सार-वस्तु उसके भौतिक आधार से तय होती है; मीडिया-उद्योग पर किसका कब्जा है और वह बहुराष्ट्रीय पूँजीवाद से कैसे जुड़ा हुआ है। मीडिया-सामग्री को टेक्स्ट के रूप में देख कर उसकी तहें खोलने वाले पाठालोचन की शुरुआत भी इसी दौरान हुई। लक्षणशास्त्र (सीमियोटिक्स) के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण मीडिया के उपभोक्ताओं का पुनः मूल्यांकन किया गया। बरमिंघम सेंटर फ़ॉर कंटेम्पेरी कल्चरल स्टडीज़ में स्टुअर्ट हाल के नेतृत्व में हुए अध्ययनों ने नयी ज़मीन तोड़ी। इनके आधार पर समझ यह बनी कि दर्शकगण अपने सामने परोसी गयी मीडिया-सामग्री का जो तात्पर्य ग्रहण करते हैं वह ज़रूरी नहीं कि उस सामग्री की रचना करने वालों के विचारधारात्मक उद्देश्यों के मुताबिक ही हो। इन सूत्रीकरणों की सफलता बताती है कि मीडिया-अध्ययन में संस्कृति-अध्ययन के अनुशासन का खासा हाथ है। दरअसल, दोनों परस्पर-व्यापी हैं।

मीडिया और समकालीन समाज के अंतर्संबंधों को समझने में युरगन हैबरमास और ज्यॉ बौद्रिया के विचारों से भी मदद मिली है। हैबरमास को सत्रहवीं-अठारहवीं सदी के युरोप में उभरे पूँजीवादी पब्लिक स्फ़ेयर में सार्वजनिक विवेक से सम्पन्न एक खुले और लोकतांत्रिक समाज की सम्भावनाएँ देखने का श्रेय जाता है। समझा जाता है कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया इस पब्लिक स्फ़ेयर पर पेचीदा क्रिस्म का द्वंद्वत्मक प्रभाव डाल रहा है। सांस्कृतिक उपभोग उत्तरोत्तर प्राइवेट दायरे में जा रहा है जिससे पब्लिक स्फ़ेयर की संरचना दरक रही है। उच्चस्तरीय सांस्कृतिक सामग्री की जगह निचले स्तर की वह सामग्री आती जा रही है जिसका मक़सद लोकलुभावन लक्ष्यों को वेधना है। राजनीतिक बहस का स्तर भी गिर रहा है और नीति-निर्माण की प्रक्रिया राजनीतिक नाटकबाज़ी में माहिर नेताओं की भींच में फँस गयी है।

ज्यॉ बौद्रिया की विशेषता है कि वे समकालीन पूँजीवाद को आर्थिक विनिमय के अलावा चिह्नों, बिम्बों और निरूपणों के विनियम के संदर्भ में समझने की कोशिश करते हैं। उनके अनुसार इन परिघटनाओं और वास्तविक जगत के बीच इस क्रूर घालमेल हो गया है कि लोगों के असली हितों और आवश्यकताओं को रेखांकित करना मुमकिन ही नहीं रह गया है। मास-मीडिया और खास तौर से टेलिविज़न इन चिह्नों और संकेतों के उत्पादन का मुख्य ज़रिया है। सोफ़े पर बैठ कर चैनल बदलते हुए ज़िंदगी गुज़ार देने वाला व्यक्ति बौद्रिया के अनुसार दुनिया को उपभोग कर सकने वाले टुकड़ों में देखता है। ऐसा दर्शक मीडिया को अपने प्राइवेट स्पेस का अतिक्रमण करने देता है। अंतरंग जीवन की मर्यादाएँ भंग हो कर सार्वजनिक स्पेस में पहुँच जाती हैं। मीडिया का चौबीस घंटे चलने वाले निरंतर कवरेज आलोचनात्मक चिंतन

की गुंजाइश सीमित करता चला जाता है। राजनीतिक मत की अभिव्यक्ति सर्वेक्षणों में करवाई जाने वाली हॉ या न में सिमट कर रह जाती है। बौद्रिया का विचार है कि ऐसे मीडिया ने प्रतिरोध की सम्भावनाओं को बहुत कमज़ोर कर दिया है। इसलिए जब तक व्यवस्था में भागीदारी से इनकार न किया जाए, तब तक प्रतिरोध की कोई कोशिश परवान नहीं चढ़ सकती।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाज़ारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और राज्य, मीडिया और राजनीति, मीडिया और भारतीय राजनीति, मीडिया-पक्षपात, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. एन. स्टीवेंसन (1995), *अंडरस्टैंडिंग मीडिया कल्चर्स : सोशल थियरी ऐंड मास कम्युनिकेशन*, सेज, लंदन.
2. डी. मेकक्वल (1994), *मास कम्युनिकेशन थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, सेज, लंदन.
3. एस. जिंजर (1976), *मास सोसाइटी*, मार्टिन रॉबर्टसन, लंदन.
4. ज्यॉ बौद्रिया (1990), 'मास मीडिया कल्चर', *रिवेंज ऑफ़ द क्रिस्टल : सलेक्टिड राइटिंग्स ऑन द मॉडर्न ऑब्जेक्ट ऐंड इट्स डेस्टिनी*, 1968-1983, प्लूटो प्रेस, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

मीडिया और राज्य

(Media and State)

ऐतिहासिक रूप से मीडिया के विभिन्न रूपों का उद्गम अलग-अलग रहा है। समाचार-पत्र उद्योग अधिकांशतः प्राइवेट सेक्टर में विकसित हुआ है। रेडियो और टीवी के शुरुआती क्रम राजकीय प्रयासों के कारण जमे हैं। कई देशों में ये दोनों प्रसारण-माध्यम आज भी पूरी तरह सरकार के कब्जे में हैं। कुछ देशों (जैसे भारत) में मिला-जुला नज़ारा है। ऐसे देशों में सरकार और निजी क्षेत्र के टीवी और रेडियो आपस में होड़ करते रहते हैं। कुल मिला कर मीडिया सरकारी हो या निजी क्षेत्र का, उसे राज्य द्वारा बनाये गये नियम-क़ानूनों के तहत ही काम करना पड़ता है। आम तौर

पर आधुनिक राज्य की मीडिया-नीति चाहती है कि मीडिया के विभिन्न रूप लोकतंत्र के मुख्य उसूलों को बुलंद करते रहें, उनकी वजह से सार्वजनिक जीवन में अवसरों की स्वतंत्रता बाधित न हो, शांति-व्यवस्था और राष्ट्रीय सुरक्षा को कोई खतरा न पहुँचे। निजी क्षेत्र में मीडिया के प्रबंधक और स्वामी इन नियमों का पालन करने के बदले में सरकार से अपने व्यावसायिक हितों की सुरक्षा की गारंटी माँगते हैं। वे चाहते हैं कि क्रानून-पालन करने का पुरस्कार उन्हें अपनी इजारेदारी बढ़ाने की अलिखित इजाजत के रूप में मिले। नब्बे के दशक में नये मीडिया के उदय के बाद से राज्य को उसका प्रसारण नियंत्रित करने में काफ़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा है। इंटरनेट और इंटरएक्टिव मीडिया को क्रानून के तहत लाना राज्य की संस्था के लिए एक बहुत गम्भीर समस्या है। इंटरनेट के आगमन के बाद मीडिया संबंधी नीतियाँ ग्लोबल पैमाने पर बहस-मुबाहिसे का केंद्र बनी हुई हैं।

पश्चिम के विकसित लोकतांत्रिक देशों में सरकार अधिकांशतः मीडिया को स्वामित्व और प्रबंधन के स्तर पर नियंत्रित करने में दिलचस्पी नहीं लेती। लेकिन, इस कथित रूप से नियंत्रणहीनता का मतलब यह नहीं है कि मीडिया सरकारी निगरानी से पूरी तरह मुक्त रहता है। दरअसल, ऐसे देशों में भी मीडिया के विभिन्न हिस्सों को नियंत्रित करने के लिए काफ़ी नफ़ीस क्रिस्म की नीतियाँ तैयार की जाती हैं और नियंत्रणकारी संस्थागत ढाँचा खड़ा किया जाता है। मसलन, अख़बारों को सेंसर करने की ज़रूरत आम तौर से नहीं समझी जाती, पर सिनेमा को सेंसर करने के लिए बोर्ड बनाया जाता है। टीवी को सेंसर करने के संस्थागत उपाय अलग से किये जाते हैं। नियंत्रणकारी ढाँचा सरकारी भी होता है, और ग़ैरसरकारी भी। अमेरिका में हॉलीवुड 'सेल्फ-सेंसर' के उसूल पर काम करता है ताकि उसके व्यावसायिक हित सरकारी हस्तक्षेप से बचे रहें। यह अलग बात है कि यह सेल्फ-सेंसर वहाँ के संघीय प्रशासन की मर्जी के खिलाफ़ नहीं जा सकता। मीडिया की शक्ल-सूरत पर हमेशा से क्रानून द्वारा भरे गये रंगों की छाप रही है। राज्य का मॉडल अगर संघीय क्रिस्म का है तो एक ही देश में मीडिया का संचालन अलग-अलग क्रिस्म के क्रानूनों के मुताबिक़ होता है। कहीं-कहीं मीडिया को स्थानीय नगर निकायों द्वारा बनाये गये क्रानूनों तक का पालन करना पड़ता है।

इंटरनेट के लोकप्रिय होने से पहले क्रानून मुख्यतः पाँच तरह से मीडिया को नियंत्रित करता था : मानहानि क्रानून, कॉपीराइट एक्ट, सेंसरशिप, प्रसारण क्रानून और मीडिया स्वामित्व संबंधी क्रानून। मानहानि क्रानून का सीधा मतलब है मीडिया की किसी भी अभिव्यक्ति के ज़रिये किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा को ठेस लगने के खिलाफ़ अदालत की शरण में जाने का प्रावधान। कॉपीराइट एक्ट बौद्धिक सम्पदा

क्रानून का हिस्सा होता है जिसके तहत किसी कृति के मूल रचनाकार के अधिकारों की हिफ़ाज़त की जाती है ताकि अख़बार, टीवी और रेडियो पर बिना उसकी इजाजत के या बिना पूरा मुआवज़ा दिये उसका इस्तेमाल न किया जा सके। सेंसरशिप का मक़सद किसी भी तरह की विवादास्पद, अश्लील या राज्य की सुरक्षा के लिए ख़तरा बन सकने वाली सामग्री को प्रसारित होने से रोकना है। इसके लिए सेंसर करने वाले अधिकारी कुछ आचरण संहिताएँ बनाते हैं जिनका पालन करना पड़ता है। फ़िल्मों को तो सेंसर करने वाली संस्थाओं से नियमित रूप से सार्वजनिक प्रदर्शन से पहले प्रमाणपत्र हासिल करने पड़ते हैं। प्रसारण क्रानून विनियमकारी संस्थाओं और क्रानून आधारित नियमों के संयोग पर चलता है। मीडिया के स्वामित्व संबंधी नियमों का पालन सरकारों द्वारा काफ़ी सख़्ती से कराया जाता है। यह अलग बात है कि इसके बावजूद वे अपने मक़सद में कामयाब नहीं हो पातीं। अमेरिका में एंटी-ट्रस्ट क्रानून है जिसका उद्देश्य मीडिया-उद्योग को इजारेदारी में फँसने से रोकना है। लेकिन कुछ शुरुआती कामयाबियों के बाद यह क्रानून ऐसा करने में नाकाम रहा। भारत में आज़ादी के बाद से विदेशी पूँजी को मीडिया के क्षेत्र में घुसने की इजाजत नहीं थी। लेकिन अब यह स्थिति बदल चुकी है।

नये मीडिया के उदय ने 'मीडियास्फ़ेयर' की धारणा को जन्म दिया है। नयी प्रौद्योगिकियों के दोहरे फलितार्थ हुए हैं : एक तरफ़ तो सार्वजनिक जीवन काफ़ी-कुछ मीडिया आधारित हो गया है। माना जाता है कि मीडियास्फ़ेयर के रूप में उसने पब्लिक स्फ़ेयर को अपने आगोश में ले लिया है। दूसरी तरफ़ सरकार और बाज़ार की भूमिकाओं को लेकर बहस शुरु हो गयी है। इसमें एक पहलू यह है कि क्या सरकार को एक विविधामूलक, सार्वभौम और स्वस्थ मीडियास्फ़ेयर की गारंटी करने के लिए सक्रिय काम करना चाहिए? दूसरा सवाल यह है कि क्या इस लक्ष्य को साधने के लिए बाज़ार की क्षमताओं पर भरोसा करना मुनासिब नहीं होगा?

चूँकि नये मीडिया के तहत पहले से चली आ रही अलग-अलग प्रौद्योगिकियों का 'कनवर्जेस' हो गया है, इसलिए मीडिया को सभी तरह के सरकारी बंधनों से मुक्त करने के पक्ष में एक प्रौद्योगिकीय आग्रह खड़ा हो गया है। इसके केंद्र में तर्क यह है कि सरकार अब किसी भी तरीक़े से प्रसारण को नियंत्रित कर ही नहीं सकती। क्या कोई देश इंटरनेट प्रसारण को अपनी मर्जी से चला सकता है? हो सकता है कि वह कुछ वेबसाइट्स को आपत्तिजनक मान कर 'ब्लॉक' कर दे, या ज़रूरत पड़ने पर कम्प्यूटर स्क्रीन पर नेट-सर्फ़िंग पर पाबंदी लगाने में भी सफल हो जाए। लेकिन उस सूरत में उपभोक्ता इंटरएक्टिव टेलिविज़न के ज़रिये नेट की सेवाएँ प्राप्त कर लेंगे। अब तो कनवर्जेस ने उपभोक्ता के हाथ

में पकड़े हुए मोबाइल को भी एक ताकतवर कम्प्यूटर में बदल दिया है।

इन्हीं समस्याओं को ध्यान में रख कर नब्बे के दशक से ही विकसित पश्चिमी देशों की सरकारें ऐसे ब्लूप्रिंट और रणनीतियाँ बनाने में लगी हुई हैं जिनके आधार पर वे सूचना-अर्थव्यवस्था में सार्थक हस्तक्षेप और भागीदारी कर सकें। अमेरिका ने इस तरह की मीडिया पॉलिसी का एक अनुमानित ढाँचा तैयार किया है जिसे नैशनल इनफॉर्मेशन इन्फ्रास्ट्रक्चर (एनआईआई) की संज्ञा दी जाती है। यह ढाँचा पाँच बुनियादी आधारों पर खड़ा है : निजी पूँजी निवेश, बाज़ार की स्पर्धा, आर्थिक प्रगति, लोकतंत्र को प्रोत्साहन और पर्यावरण संबंधी मुद्दों के बेहतर हल। प्रेक्षकों का खयाल है कि ये पाँचों आधार तेज़ी से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी स्वीकृत होते जा रहे हैं। हो सकता है कि जल्दी ही दुनिया की कई सरकारें सूचना-अर्थव्यवस्था में सहभागिता का आधारभूत ढाँचा इसी तर्ज़ पर बनाती नज़र आयें।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाज़ार संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फेयर, मास मीडिया, मीडिया और राजनीति, मीडिया और भारतीय राजनीति, मीडिया-पक्षपात, मीडिया-अध्ययन, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. आर. कोलिस और सी. मुरोनी (1996), *न्यू मीडिया, न्यू पॉलिसीज़*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज, 1996

— अभय कुमार दुबे

मीडिया और राजनीति

(Media and Politics)

मीडिया के राजनीति पर बढ़ते हुए प्रभाव का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि आजकल समाज-विज्ञान में *मीडियाटाइज़ेशन ऑफ़ पॉलिटिक्स* का फ़िकरा प्रचलित हो गया है। विश्लेषकों ने मीडिया के दोनों हिस्सों, प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक, के कारण राजनीतिक प्रक्रिया में अहम तब्दीलियों की शिनाख्त की है। मीडिया ने राजनीतिक नेतृत्व

की रचना पर अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी है। एक तरफ़ तो समाज-वैज्ञानिकों ने राजनीतिक व्यवहार (जैसे, मतदान संबंधी रुझान) का अध्ययन करने के उपकरण की तरह उसका इस्तेमाल किया है, दूसरी तरफ़ मीडिया ने राजनीतिक ज्ञान को भी अपनी शर्तों पर संसाधित किया है। पिछले कुछ वर्षों से राजनेताओं और पार्टियों के जनता के साथ संबंधों का विन्यास काफ़ी-कुछ मीडिया पर निर्भर होता जा रहा है। राजनीतिक संदेश मीडिया के ही ज़रिये और उसी की भाषा में, चाहे वह शब्दों की हो या बिम्बों की, तैयार होते हैं। मीडिया ही उनके वाहक की भूमिका निभाता है, अर्थात् वही उन्हें व्यक्त भी करता है। ये सिलसिले मीडिया के मुद्रित रूपों के ज़माने में भी थे, लेकिन बहुत सीमित रूप में। टीवी के उभार ने राजनीति और मीडिया के रिश्ते में रैडिकल परिवर्तन कर दिया है। हालाँकि युरोपीय देशों और भारत में भी टीवी पर कई तरह के सरकारी नियंत्रण हैं, लेकिन उनके बावजूद इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने खोजी पत्रकारिता के बेहद आक्रामक रूपों (जैसे, स्टिंग ऑपरेशन) का इस्तेमाल करके खुद को राजनीति करने के औज़ार में बदल लिया है। दूसरे, मीडिया केवल खबरिया चैनलों के ज़रिये ही राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करता, बल्कि वह मध्यवर्ग को सम्बोधित करने वाली लोकप्रिय संस्कृति के माध्यम से भी राजनीति पर असर डालता है।

मीडिया और राजनीति के परस्पर संबंधों के बारे में एक सवाल यह पूछा जा सकता है कि मीडिया अपनी तरफ़ से राजनीति के पास जाता है, या राजनीति उसके पास आती है? समझा जाता है कि यह रिश्ता ख़ास तौर से उस समय परवान चढ़ना शुरू हुआ जब सरकारों और उनके प्रमुख कारकुनों ने मीडिया का दो तरह से प्रयोग करना शुरू किया: जनमत और उसके रुझानों की जानकारी हासिल करने के लिए, और चुनाव के दौरान प्रचार के मक़सद से। सत्तर और अस्सी के दशकों में राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के दायरों में 'राजनीतिक संचार' के अध्ययन को उत्तरोत्तर अकादमीय मान्यता मिली। विद्वानों ने द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद के दौर में राजनीतिक संचार की प्रक्रिया को तीन चरणों में विकसित होते हुए दिखाया। पहला चरण पचास के दशक तक चला जिसमें राजनीतिक संचार संस्थागत प्रणालियों और स्थाई क्रिस्म की राजनीतिक निष्ठाओं के हिसाब से होता था। इस दौरान प्रिंट मीडिया का ही ज़्यादातर बोलबाला रहा। दूसरा चरण साठ के दशक से शुरू हो कर अस्सी तक चला। यह टीवी के प्रसार का ज़माना था। पारम्परिक राजनीतिक निष्ठाओं के क्षरण से परेशान राजनीतिक शक्तियों को इस दौर में टीवी से सहारा मिला। उन्होंने देखा कि वे अपने छूटे हुए समर्थन आधार की भरपाई जनता के उन नये तबकों तक पहुँच से कर सकती हैं जो टीवी के कारण उन्हें मुहैया हुई

है। प्रिंट मीडिया केवल शिक्षित और मोटे तौर पर मध्यवर्गीय समाज का माध्यम था, लेकिन टीवी शिक्षा द्वारा निर्धारित सीमाओं के परे चला गया। उसने गरीब और अशिक्षित तबकों तक राजनीतिक संदेश पहुँचाने का अभी तक अनुपलब्ध आश्वासन दिया। टीवी की ताकत का एहसास होना शुरू हुआ कि वह किस तरह राजनीति के प्रस्तुतीकरण और उसके देश-काल पर अपनी भाषा आरोपित कर सकता है। तीसरा चरण नब्बे के दशक से शुरू हुआ। इस ताजे चरण का पहला उल्लेखनीय पहलू था जनमत का पता लगाने और उसे गढ़ने की पेशेवराना महारत और मीडिया द्वारा राजनीतिक संचार को अपने हिसाब से चलाने की कोशिश। इसका दूसरा पहलू था लोकलुभावन राजनीति के मीडियाकृत रूप जिनका उपभोग भी मीडिया के उत्तरोत्तर प्रसार और प्रौद्योगिकीय उन्नति पर निर्भर था। नब्बे के दशक के मध्य में जैसे ही एनॉलॉग की जगह डिजिटल और उपग्रहीय चैनल आये, मीडिया द्वारा परोसी जाने वाली राजनीतिक सामग्री का भूमण्डलीकरण हो गया जिससे राजनीतिक संचार के कुछ सार्वभौम रूप पैदा हुए जो इससे पहले के जमाने में नामुमकिन थे।

आज मीडिया राजनीतिक ज्ञान और सूचना का प्रमुख स्रोत बन चुका है। नागरिक राजनीतिक प्रक्रियाओं और मसलों के बारे में मीडिया के जरिये ही जानकारीयाँ हासिल करते हैं। उनके द्वारा की गयी समीक्षाएँ और उनके आधार पर बनायी गयी समझ भी मीडिया द्वारा मुहैया करायी गयी सामग्री और सुरागों पर निर्भर होती है। इसी जगह प्रश्न यह उठता है कि क्या राजनीति का यह मीडियाकरण समाज को एक ज्ञान और सूचनासम्पन्न नागरिक की तरफ़ ले जा रहा है। भारत में तो इसका पता बताने वाला कोई अध्ययन हुआ ही नहीं है, लेकिन अमेरिका में हुए एक अध्ययन ने राजनीति में मीडिया के इस हस्तक्षेप के ऐसे वांछित परिणाम निकलने पर शंका व्यक्त की है। इस अध्ययन से ऐसे नागरिकों पर रोशनी पड़ी है जो राजनीतिक सूचना और राजनीतिक कार्रवाई में कोई खास रुचि नहीं दिखाते, बल्कि निरपेक्ष भाव से केवल घटनाओं पर नज़र रखे रहते हैं ताकि जब उनके अपने हित का कोई मसला आये तो स्वयं को राजनीतिक गोलबंदी के लिए प्रस्तुत कर सकें। ऐसे नागरिकों को मॉनिटोरियल सिटीज़न की संज्ञा दी गयी है।

जहाँ तक राजनीतिक ज्ञान की रचना का सवाल है, मीडिया दो तरह इस प्रक्रिया पर प्रभाव डालता है। वह अपने पाठक और दर्शक को राजनीतिक यथार्थ की समझ बनाने के सुराग देता है। वह उसे अपने औज़ारों द्वारा गढ़े गये तात्पर्य थमाता है, चुनिंदा मनोभावों को स्पर्श देता है और दुनिया को अपने तरीके से दिखाने की कोशिश करता है। दूसरे, मीडिया राजनीति का एजेंडा निर्धारित करने की परियोजना चलाता है जिसे मीडिया-अध्ययन की भाषा में एजेंडा सेटिंग कहते हैं।

इसके तहत मीडिया ही तय करता है कि उसके ऑडिंस को क्या जानना चाहिए और क्या नहीं। यानी वह कुछ खास घटनाओं पर विशेष रोशनी डालेगा और कुछ की पूरी तरह से उपेक्षा कर देगा।

राजनीतिक व्यवहार पर मीडिया के असर ने भी समाज-वैज्ञानिकों को काफ़ी आकर्षित किया है। मतदान के रुझानों और मीडिया के संबंध पर विद्वान दो तरह के रवैये में बँटे हुए हैं। एक नज़रिया मानता है कि मीडिया की लगातार खुराक पाने वाले मतदाताओं पर उसका असर सुन्न कर देने वाला होता है, और वे टीवी पर राजनीति के दृश्य देख-देख कर उनकी ऊर्जा का इस क्रूर क्षय हो जाती है कि राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी की उनकी इच्छा मर जाती है। रॉबर्ट पुतनैम ने तो यहाँ तक कहा है कि टीवी नागरिक सक्रियता का निजीकरण कर देता है जिसके कारण उसकी सामाजिक भागीदारी हतोत्साहित हो जाती है। जाहिर है कि मीडिया और राजनीति के रिश्ते पर डाली गयी यह निगाह निराशावादी निष्कर्षों की तरफ़ ले जाती है। लेकिन, दूसरा दृष्टिकोण मानता है कि मीडिया द्वारा किये गये राजनीतिक सूचनाओं के ज़बरदस्त प्रसार से राजनीतिक भागीदारी में उछाल आया है। इन नज़रिये के हामी इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में इंटरनेट को भी जोड़ कर चलते हैं। उनके पास बताने के लिए ऐसे कई उदाहरण हैं जिनके जरिये वे दिखाते हैं कि सोशल मीडिया के कारण ग्लोबल पैमाने पर कई बार गोलबंदी की गयी है।

नागरिकों के मतदान संबंधी व्यवहार और फिर चुनाव परिणामों पर मीडिया के असर के बारे में भी कई अध्ययन हुए हैं, लेकिन उनसे कोई सर्वमान्य या सार्वभौम क्रिस्म का नतीजा नहीं निकला है। चुनाव पर मीडिया के असर में विभिन्न देशों की राजनीतिक संस्कृति, चुनावी व्यवहार की परम्पराएँ, मीडिया के अलग इतिहास और टीवी देखने की अलग आदतों की भूमिका भी होती है। इसी तरह पार्टियों के साथ जनता के विभिन्न तबकों की निष्ठा और दलीय प्रणाली का सवाल भी इसमें महत्वपूर्ण है।

राजनीतिक विमर्श पर मुख्यतः तीन मीडिया-प्रभावों की शिनाख़्त की गयी है : पहला, इसने राजनीतिक विमर्श को बहस-मुबाहिसे की दुनिया से निकाल कर दर्शन-प्रियता के दायरे में पहुँचा दिया है। राजनीति में नाटकीयता के तत्त्व हमेशा से रहे हैं। टीवी ने इस पहलू को बहुत उभार दिया है। वह बाज़ार में बिक सकने वाले राजनीतिक आयामों को प्रमुखता देता है और राजनेता इस खेल के नियमों को मान कर मीडिया के अनुकूल सम्प्रेषण रणनीतियाँ अपनाते हैं। दूसरा प्रभाव वही है जिसे एजेंडा सेटिंग या एजेंडा शेपिंग का नाम दिया गया है। मीडिया मुद्दे तय कर देता है और फिर राजनेता उन पर बहस से बच नहीं पाते। यह सही है कि

मीडिया ऐसा कर पाने में हमेशा कामयाब नहीं रहता, क्योंकि अलग-अलग जगहों पर सत्ता-संबंधों के संदर्भ में उसका विकास अलग ढंग से होता है। इसी से जुड़ा एक प्रभाव मुद्दों को साउंड बाइट्स में बदलने और मुद्दों को चेहरों में सीमित कर देने से उपजता है। सार्वजनिक मंचों पर होने वाली लम्बी-लम्बी बहसों अब अतीत की बात होती जा रही हैं। टीवी पर आधे घंटे में या एक घंटे में केवल कुछ वाक्यों के जरिये ही पूरी बात कहने की कुशलता जिनमें नहीं होती, वे इस मीडियम का दोहन नहीं कर सकते। समाज-वैज्ञानिकों ने टीवी की स्क्रीन पर चमकने वाले नेता के चेहरों और उन चेहरों के बीच काफ़ी फ़र्क देखा है जो टीवी-पूर्व सार्वजनिक मंचों पर चमकते थे। वे चेहरे किसी विचारधारा और कार्यक्रम की नुमाइंदगी करते थे, पर टीवी पर चमकने वाले चेहरे अपनी निजी, पेशेवर, सौंदर्यगत या पारिवारिक खूबियों के साथ सामने आते हैं। टीवी द्वारा राजनीति और व्यक्ति के संबंधों के दायरे में यह नयी देन है। तीसरी प्रभाव मीडिया द्वारा राजनीतिक अभिजन की रचना में निभायी गयी भूमिका है। मीडिया एक ऐसा बाहरी एजेंट है जो एक पार्टी को, एक टेलिजेनिक शिख्यत को अपने नेतृत्व का अंग बनाने पर मजबूर कर सकता है।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाजारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और राज्य, मीडिया और भारतीय राजनीति, मीडिया-पक्षपात, मीडिया-अध्ययन, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. शैंटो आयंगर (2004), *इज़ एनीवन रिस्पॉसिबिल? हाउ टेलिविज़न न्यूज़ फ़्रेम्स पॉलिटिकल इशूज़*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.
2. साराह ओट्स (2008), *इंट्रोडक्शन टु मीडिया ऐंड पॉलिटिक्स*, सेज, थाउज़ेंड ओक्स, कैलिफ़.
3. कैरेन सेंडर्स (2009), *कम्युनिकेटिंग पॉलिटिक्स इन द ट्वेंटी-फ़र्स्ट सेंचुरी*, पालग्रेव, न्यूयॉर्क.
4. जे.जी. ब्लुमलर और डी. कवानाग (1999), 'द थर्ड एज ऑफ़ पॉलिटिकल कम्युनिकेशन : इनफ़्लुएंसिज़ ऐंड फ़ीचर्स', *पॉलिटिकल कम्युनिकेशन*, 16.
5. के. लैंग और जी.ई. लैंग (2002), *टेलिविज़न ऐंड पॉलिटिक्स*, टांजेक्शन पब्लिशर्स, न्यू ब्रंसविक, एनज.

— अभय कुमार दुबे

मीडिया और भारतीय राजनीति

(Media and Indian Politics)

पश्चिम के विकसित देशों की ही भाँति तेज़ी से विकासशील भारत में भी मीडिया और राजनीति के रिश्तों पर समाज-वैज्ञानिकों ने ग़ौर किया है। इस संबंध के मुख्यतः चार रूप हैं। पहला, मीडिया ने समाज के राजनीतीकरण की प्रक्रिया में गहरा योगदान किया है। दूसरा, राजनीतिक संगठनों ने मीडिया की पहुँच का लाभ उठा कर उसके जरिये अपनी विचारधारा और कार्यक्रम का प्रचार करते हुए उसे सत्ता पाने के औज़ार की तरह इस्तेमाल करने की कोशिशें की हैं। तीसरा, मीडिया ने राजनीति में एजेंडा-सेटिंग की भूमिका निभायी है। चौथा, भारतीय राज्य ने मीडिया को प्रत्यक्षतः नियंत्रणों से मुक्त रखते हुए उसकी राजनीतिक भूमिका को विनियमित करने का प्रयास किया है।

भारत में मीडिया के राजनीतिक प्रभाव पर समाज-वैज्ञानिकों की निगाह सत्तर के दशक में चली राजनीतीकरण की सघन प्रक्रिया के दौरान पड़नी शुरू हुई। आपातकाल लागू किये जाने से पहले और उसके बाद के दौर में आम लोगों की राजनीति में बढ़ी रुचि का अध्ययन करते हुए समाज-वैज्ञानिक दो नतीजों पर पहुँचे। पहला, अख़बारों की पाठक संख्या में प्रसार होने से राजनीतीकरण की प्रक्रिया को उछाल मिला, और दूसरा, उस उछाल के कारण अख़बारी पाठकों की संख्या में और बढ़ोतरी हुई। रॉबिन जैफ़री द्वारा किये गये अध्ययन बताते हैं कि अस्सी के दशक में देश के जिन इलाकों में राजनीतिक गोलबंदियाँ हुईं, वहाँ समाचार-पत्रों की प्रसार संख्या में ज़बरदस्त उछाल आया। इस तरह उन्होंने राजनीतिक चेतना और मीडिया के प्रसार के बीच सीधा और सकारात्मक रिश्ता स्थापित किया। इस संबंध को पुष्ट करने वाले अध्ययनों का सिलसिला जारी है। 2002 में हुआ एक अध्ययन बताता है कि स्थानीय अख़बारों ने प्राकृतिक विपदाओं के समय राज्य सरकारों की जवाबदेही बढ़ाने की भूमिका निभायी है। इसके अनुसार जिन राज्यों में अख़बारों की खपत ज़्यादा है, वहाँ सरकारें ऐसे मौक़े पर राहत और बचाव का बेहतर प्रदर्शन करती हैं।

मीडिया और भारतीय राजनीति के संबंधों के अध्ययन का दूसरा दौर तब शुरू हुआ जब इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का उभार हुआ। प्रिंट मीडिया का असर राजनीतीकरण पर कितना भी सकारात्मक पड़ा हो, पर आख़िरकार वह मँझोली आमदनी वाले शिक्षित तबकों और उनके ऊपर के समाज तक ही सीमित था। 1991 में भारतीय टेलिविज़न नेटवर्क जैसे ही सरकारी क़ानून-क़ायदों की जकड़ से छूटा और केबिल

टेलिविज़न प्रसार शुरू हुआ, सात-आठ वर्षों के भीतर ही 555 चैनल अपना प्रसारण करने लगे। इनमें 33 चैनल चौबीस घंटों तक समाचार दिखाने वाले थे। इन चैनलों पर राजनीतिक-आर्थिक बहसों आयोजित होने लगीं और तरह-तरह के सर्वेक्षणों पर आधारित बनते-बिगड़ते जनमत की जानकारी उनके निरंतर बढ़ते हुए दर्शक वर्ग को मिलने लगी। नागरिकों की राजनीतिक समझ पर सीधा प्रभाव डालने वाले ये चैनल ज्यादातर हिंदी और अंग्रेज़ी में थे, लेकिन प्रमुख क्षेत्रीय और जनपदीय भाषाओं में भी इनका प्रसारण होने लगा। यही दौर इंटरनेट के आगमन का था। 1992 से 2010 के बीच नेट का इस्तेमाल करने वालों की संख्या कुछ नहीं से बढ़ कर आठ करोड़ से ऊपर हो गयी। टीवी और इंटरनेट ने मिल कर राजनीतिक सम्प्रेषण की एकतरफ़ा प्रक्रिया को दोतरफ़ा बनाया, शिक्षित और साधनसम्पन्न दायरों की सीमा को तोड़ दिया, और देखते ही देखते मीडिया का यह रूप भारतीय जनता के लिए राजनीतिक ज्ञान, सूचना, विश्लेषण, सर्वेक्षण और जनमत-निर्माण का प्रमुख स्रोत बन गया।

मीडिया का यह प्रभाव भारतीय राजनीति को किधर ले जा रहा है? टीवी के उभार से पहले अध्येताओं की मान्यता थी कि मीडिया तक भारतीय जनता की असमान पहुँच लोकतंत्र की तात्त्विक गुणवत्ता बढ़ने में बाधा पैदा करती है। दलील दी जाती थी कि इस पहुँच के बढ़ने से मीडिया जन-हित के अभिभावक की भूमिका निभायेगा। आम तौर पर जवाबदेही और नागर समाज की निगरानी बढ़ेगी। टीवी के उभार के बाद पूछा जाने लगा है कि मीडिया जन-हित के जिस अभिभावकत्व का दावा करता है, उसकी लगाम किसके हाथ में है? अर्थात् टीवी चैनलों में किसकी पूँजी लगी है, उनके द्वारा परोसी जाने वाली सामग्री तैयार करते समय किनके हितों का ध्यान रखा जाता है? मीडिया कम्पनियों में राजनेताओं द्वारा किये गये धन के निवेश, क्षेत्रीय चैनलों द्वारा खुल कर किसी पार्टी का प्रचार करने, धन लेकर ख़बरें दिखाने या न दिखाने का फ़ैसला करने और एडवर्टोरियल (विज्ञापन और सम्पादकीय टिप्पणी का मिला-जुला संदिग्ध संस्करण) जैसी परिघटनाओं ने मीडिया और भारतीय राजनीति के रिश्ते को ख़ासा पेचीदा बना दिया है। यह पेचीदगी उस समय और बढ़ जाती है जब टीवी के राजनीतिक प्रभाव का विश्लेषण केवल ख़बरिया चैनलों तक ही सीमित नहीं रह जाता। कुछ अध्ययनों में यह दावा भी किया गया है कि मनोरंजन के चैनलों पर दिखाये जाने वाले कार्यक्रमों से भी राजनीति पर दूरगामी क्रिस्म के विचारधारात्मक असर पड़ते हैं।

1987 से लेकर 1990 के बीच में टीवी पर *रामायण* और *महाभारत* जैसे धार्मिक धारावाहिक दिखाये गये। इन्हें हर हफ़्ते करीब पाँच करोड़ दर्शक देखते थे। अरविंद राजगोपाल ने अपनी रचना *पॉलिटिक्स आफ़्टर टेलिविज़न* :

रिलीजस नैशनलिज़म एंड द रिशेपिंग ऑफ़ द इण्डियन पब्लिक में निष्कर्ष निकाला है कि इन धारावाहिकों के लोकप्रिय और सफल प्रसारण का फ़ायदा नब्बे के दशक में चले दक्षिणपंथी हिंदुत्ववादी विचारधारा पर आधारित रामजन्मभूमि आंदोलन को हुआ। ध्यान रहे कि यह उपग्रहीय चैनलों से पहले की परिघटना है, और ये धारावाहिक सरकारी नियंत्रण के तहत काम करने वाले टीवी पर दिखाये गये थे। सरकार ने आर्थिक-सामाजिक विकास पर रोशनी डालने वाले धारावाहिक भी प्रदर्शित किये, लेकिन उनका कोई असर नहीं पड़ा। राजगोपाल के अनुसार धार्मिक धारावाहिकों ने एक गढ़ा गया हिंदू अतीत टीवी दर्शकों को थमाया। इसके कारण बने मानस ने अयोध्या आंदोलन की लोकप्रियता में इज़ाफ़ा किया। धारावाहिकों में जिस तरह से युद्ध के दृश्य दिखाये गये थे, उसी पैटर्न पर राजनीतिक-धार्मिक गोलबंदी की गयी। चाहे अल्पसंख्यक विरोधी दंगे हों, या फिर कार-सेवा के प्रकरण हों, हिंदुओं के बीच अल्पसंख्यकों के अन्याकरण को इन धारावाहिकों द्वारा बढ़ावा मिला।

राजगोपाल के इन निष्कर्षों पर विवाद होना लाज़मी था। रामजन्मभूमि आंदोलन की भूमिका अस्सी के दशक की शुरुआत से ही बननी शुरू हो गयी थी। हिंदुत्ववादी संगठनों का नेटवर्क इन सीरियलों के दिखाये जाने के पाँच-छह साल से ही अपनी कारिस्तानियों में लगा था। दूसरे, मीडिया द्वारा दिये गये संदेशों और परोसी गयी सामग्री की ग्राहकता पर हुए अध्ययनों की जानकारी रखने वाले विद्वान इन निष्कर्षों से सहमत होने के लिए तैयार नहीं हुए। उनका कहना था कि मीडिया जिस तरह से दिखाता है, लोग उसे किसी एक पूर्व-निर्धारित रूप में न लेकर अलग-अलग ढंग से ग्रहण करते हैं। इस आलोचना की पुष्टि उस समय हुई जब 2003 में भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाले सत्तारूढ़ राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ द्वारा चलाई गयी 'इण्डिया शाइनिंग' मीडिया मुहिम बुरी तरह से नाकाम रही।

यह मुहिम सीधे-सीधे राजनीति को प्रभावित करने के लिए चलाई गयी थी। करीब दस करोड़ रुपये खर्च करके प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में सभी भारतीय भाषाओं को समेटते हुए यह अभूतपूर्व अभियान किया गया। दिसम्बर, 2003 से जनवरी, 2004 के बीच 9,472 बार टीवी पर इण्डिया शाइनिंग का प्रचार हुआ। प्रिंट मीडिया में (450 राष्ट्रीय और क्षेत्रीय अख़बार) में विज्ञापन दे कर जनता को यह बताने की कोशिश की गयी कि सत्तारूढ़ गठजोड़ की देखरेख में औद्योगिक और खेतिहर मोर्चे पर देश ने भारी प्रगति की है जिसके कारण चारों तरफ़ भारत का सूर्योदय हो रहा है। कुल मिला कर 'इण्डिया शाइनिंग' मुहिम मीडिया के जरिये भारत की एक नयी राष्ट्रीय अस्मिता गढ़ने की महत्वाकांक्षी कोशिश थी। मुहिम चलाने वाली पार्टी भाजपा

के रणनीतिकारों की मान्यता थी कि इसके कारण उनके विचारधारात्मक समर्थकों के साथ-साथ कांग्रेस से अपना मोहभंग कर चुके और तटस्थ वोटर भी उसकी तरफ झुकेंगे।

यह मुहिम कितनी प्रभावी थी, इसका अंदाज़ा उन एक्जिट पोलस से लगाया जा सकता है जो 2004 के लोकसभा चुनाव नतीजों से ठीक पहले मीडिया के खबरिया चैनलों ने किये थे। *एनडीटीवी*, *आज तक*, *स्टार न्यूज़*, *ज़ी टीवी* और *सहारा* जैसे चैनलों में ऐसा कोई नहीं था जिसने भाजपा और उसके गठजोड़ की जीत की भविष्यवाणी न की हो। नतीजा उल्टा निकला। भाजपा और उसका गठजोड़ चुनाव में हार गया, और कांग्रेस के नेतृत्व में बने संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़ की सरकार बनी। भाजपा के नेता लालकृष्ण आडवाणी ने माना कि यह चुनावी पराजय 'इण्डिया शाइनिंग' प्रचार मुहिम की विफलता भी है।

दिलचस्प बात यह है कि ठीक पाँच साल बाद मीडिया में चलाई गयी एक और राजनीतिक मुहिम कामयाब साबित हुई। यह कांग्रेस और उसके गठजोड़ द्वारा चलाई गयी थी, और इसे 'जय हो' का नाम दिया गया था। मार्च, 2009 में कांग्रेस के नेतृत्व वाली संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार ने हॉलीवुड की फ़िल्म *स्लमडॉग मिलियनर* के ऑस्कर पुरस्कृत गीत की टेक *जय हो* को दो लाख डॉलर में ख़रीद लिया ताकि उसका चुनाव-पूर्व राजनीतिक मुहिम में इस्तेमाल किया जा सके। 'इण्डिया शाइनिंग' की मुहिम जहाँ भारत की ग्लोबल ब्रांडिंग का लक्ष्य वेधना चाहती थी, वहीं 'जय हो' मुहिम ने आम आदमी की तकलीफ़ों और उनके बावजूद उसके प्रगतिकामी स्वभाव पर रोशनी डाली। भाजपा की मुहिम का जोर जहाँ आर्थिक वृद्धि की दर, उछलते हुए सट्टा बाज़ार, सेवा क्षेत्र के तेज़ उभार और अमीरी के अन्य सूचकांकों पर था, वहीं कांग्रेस की मुहिम ने आम आदमी की परेशानियों के परिप्रेक्ष्य में अपने पाँच साल के शासन की उपलब्धियाँ पेश कीं। मुहिम सफल रही और कांग्रेस को उम्मीद से ज़्यादा चुनावी कामयाबी मिली। भाजपा और कांग्रेस की मीडिया मुहिमों के एक तुलनात्मक अध्ययन ने नतीजा निकाला है कि मीडिया के जरिये राजनीतिक जनमत के निर्माण की कोशिश तभी कामयाब हो सकती है जब उसकी सामग्री सामाजिक-आर्थिक यथार्थ को झुठलाने वाली न हो।

भारतीय राज्य द्वारा राजनीति और मीडिया के संबंधों को विनियमित करने की कोशिशें पचास के दशक से ही जारी हैं। पहले आम चुनाव के दौरान ही चुनाव आयोग ने सरकार-नियंत्रित मीडिया में राजनीतिक दलों को चुनाव मुहिम के दौरान प्रसारण का समय आबंटित करने का फैसला किया था। लेकिन यह योजना इसलिए कामयाब नहीं हुई कि सरकार ने इस बारे में गम्भीरता दिखाई और पार्टियों के बीच समय के आबंटन को लेकर खींच-तान मच गयी। आगे चल कर

चुनाव आयोग ने पार्टी की हैसियत और प्रसार को ध्यान में रख कर सरकारी मीडिया (मुख्यतः दूरदर्शन और रेडियो) में उसकी जगह निर्धारित की। यह क्रम एक हद तक कारगर साबित हुआ। यह अलग बात है कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की कमान सरकार के हाथों में थी, इसलिए चुनाव आयोग कोशिश करने पर भी सत्तारूढ़ दल द्वारा उसके एकतरफ़ा इस्तेमाल को पूरी तरह से नहीं रोक पाया।

निजी चैनलों की नियंत्रण-मुक्ति होने के बाद 1998 में प्रसार भारती कॉरपोरेशन और चुनाव आयोग के बीच एक समझौता हुआ जिसके तहत पब्लिक सर्विस ब्राडकास्टिंग के प्रावधान चुनाव मुहिम पर भी लागू कर दिये गये। इसी साल जनवरी में आयोग ने इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लिए एक आचरण संहिता की घोषणा की। उसने वोट पड़ने से पहले किसी भी एक्जिट पोल के प्रसारण पर रोक लगा दी ताकि मतदाताओं के फैसले को प्रभावित न किया जा सके। इस प्रतिबंध के खिलाफ़ *द हिंदू* और *फ्रंटलाइन* ने सुप्रीम कोर्ट में अपील की। अदालत ने चुनाव आयोग के खिलाफ़ फैसला दिया। 2004 में चुनाव आयोग ने यह प्रतिबंध फिर से लगाया, और 2009 में सुप्रीम कोर्ट के एक फैसले ने भी उसकी पुष्टि कर दी।

भारतीय मीडिया द्वारा राजनीति में एजेंडा-सेटिंग की मिसाल उस समय मिली जब अप्रैल, 2011 में नयी दिल्ली के जंतर-मंतर पर अन्ना हज़ारे के नेतृत्व में भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम शुरू हुई। टीवी चैनलों ने इस आंदोलन को लगातार 172 घंटे तक तूफ़ानी कवरेज दिया। इस अवधि में कुल छह हज़ार क्लिप्स दिखाये गये जिनमें 5,592 क्लिप इस आंदोलन की सकारात्मक छवि बनाने के लिए दिखाये गये थे। केवल 65 क्लिप्स ऐसे थे जिनमें नकारात्मक और आलोचनात्मक बातें कही गयी थीं। भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम को लेकर टीवी चैनलों द्वारा की गयी एजेंडा-सेटिंग का कार्रवाई पर अनुसंधान करने वाले विनीत कुमार के अनुसार टू जी स्पेक्ट्रम घोटाले में कुछ प्रमुख मीडियाकर्मियों के लिप्त होने के कारण मीडिया की साख़ को लगे बट्टे की भरपाई करने के लिए इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने यह अभूतपूर्व क्रम उठाया।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाज़ारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और राज्य, मीडिया और राजनीति, मीडिया-पक्षपात, मीडिया-अध्ययन, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. ए. राजगोपाल (2004), *पॉलिटिक्स ऑफ़ टेलिविज़न : रिलीजस नेशनलिज़म ऐंड द रिशेपिंग ऑफ़ द इण्डियन पब्लिक*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, यूके, न्यूयॉर्क.
2. सायंतिनी सतपथी (2011), 'द इम्पेक्ट ऑफ़ इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ऑन द मॉडर्न इण्डियन वोटर : ए स्टडी ऑफ़ द पोस्ट-लिबरलाइज़ेशन एरा', *ग्लोबल मीडिया जर्नल*, भारतीय संस्करण / ग्रीष्म, जून.
3. रॉबिन जैफ़री (1995), *न्यूज़पेपर रेवोल्यूशन इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. एलिस्टर मेकमिलन (2010), 'द इलेक्शन कमीशन', नीरजा गोपाल जयल और प्रताप भानु मेहता (सम्पा.), *द ऑक्सफ़र्ड कम्पेनियन टु पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
5. विनीत कुमार (2012), *मण्डि में मीडिया*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

मीडिया-पक्षपात

(Media Bias)

मीडिया-अध्ययन के विद्वानों की मान्यता है कि मास-मीडिया का अवधारणात्मक उद्गम प्रोपेगंडा है। सोलहवीं सदी में कैथोलिक मत के जीसूट अनुयायियों ने प्रोटेस्टेंटों द्वारा की जाने वाली आलोचना के जवाब में लैटिन भाषा के शब्द 'प्रोपेगंडा' से निकलने वाले तात्पर्यों के आधार पर धर्म-सुधार विरोधी विचारधारात्मक मुहिम चलाई थी। इसके पीछे समझ यह थी कि लोग तब तक कोई संदेश आत्मसात् नहीं करते जब तक वह उन्हें बार-बार न दिया जाए। अट्टारहवीं सदी के युरोपीय ज्ञानोदय के बाद बनी परिस्थितियों में संदेश-रचना की प्रक्रिया में परिवर्तन हुआ, क्योंकि उसके बाद उत्तरोत्तर वोटरों, उपभोक्ताओं और दर्शकों की दिलचस्पियों का ध्यान रखना ज़रूरी होता चला गया। आधुनिक राज्य ने विदेशी आक्रमण की अपवादस्वरूप परिस्थितियों में थोपी गयी सेंसरशिप को छोड़ कर आम नागरिकों को शिक्षित-प्रशिक्षित करने की प्राथमिकता अपनायी। मीडिया की स्व-घोषित तटस्थता यहाँ राज्य के काम आयी। सरकारी मशीनरी के बजाय एक राष्ट्रीय सहमति बना कर मीडिया को राष्ट्र और राज्य-निर्माण की परियोजना में लगा कर सरकारों और राष्ट्रीय अभिजनों ने बहुत बड़ी कामयाबी हासिल की।

चूँकि मास-मीडिया बहुत बड़े पैमाने पर प्रचार-सामग्री का उत्पादन मनोरंजन, समाचार, विश्लेषण, विज्ञापन

और संवादपरक चर्चाओं के माध्यम से कर सकता है, इसलिए बीसवीं सदी में इसकी प्रोपेगंडा संबंधी क्षमताओं का दोहन करने के लिए कॉरपोरेट जगत, राष्ट्र-राज्य और राजनीतिक विचारधाराओं के पैरोकारों ने खुली और छिपी तरकीबें विकसित की हैं। मीडिया की तरफ़ से व्यावहारिकता की दलील दी जाती है कि सभी तथ्यों और घटनाओं की रपट प्रसारित नहीं की जा सकती, इसलिए उनमें से कुछ को चुनना और कुछ को छोड़ना ही पड़ता है। चयन और छँटाई की इस प्रक्रिया से ही पक्षपात का जन्म होता है और पूर्व-निर्धारित सहमति गढ़ने में मदद मिलती है। विज्ञापकों को खुश करने के लिए, मीडिया-मालिकों के हितों को साधने के लिए, बहुसंख्यकों या अल्पसंख्यकों की कथित भावनाओं को ठेस न लगने देने के नाम पर और राष्ट्र-राज्य की प्रधान विचारधारा को पुष्ट करने के लिए चुनिंदा तथ्यों पर जोर दिया जाता है। मीडिया-पक्षपात के धार्मिक, नस्ली, लैंगिक, आयुपरक, सेक्सुअल, जातिगत और जातीयतावादी आयामों को भी रेखांकित किया गया है।

सभी लोग जानते हैं कि मीडिया पक्षपात करता है, पर उसके इस रवैये को चिह्नित करना और उसकी विस्तृत आलोचना करना एक मुश्किल काम है। पक्षपात के आरोप के जवाब में मीडिया के पैरोकार अक्सर पूछते हैं कि क्या किसी घटना की रिपोर्टिंग करने गये संवाददाता द्वारा दोनों पक्षों द्वारा अपने-अपने हक़ में की गयी बातों को सिलसिलेवार पेश कर देना ही निष्पक्ष पत्रकारिता है? ये लोग कहते हैं कि 'बैलेंसड' रिपोर्टिंग का मतलब होता है रीढ़हीन और धारहीन पत्रकारिता। ज़ाहिर है कि यह तर्क तटस्थता को बेतुका मानते हुए 'पक्षधरता' और 'प्रतिबद्धता' को 'पक्षपात' नहीं मानता। अगर मीडिया अपनी पक्षधरता को छिपाने की कोशिश नहीं कर रहा है (जैसे वैकल्पिक मीडिया), तो उसके एकतरफ़ापन को उसकी क्वालिटी के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। लेकिन, अगर तटस्थता की आड़ में एक खास तरह की सहमति गढ़ने की कोशिश की जा रही है तो उसका पता लगाने और फिर उसे ज़ाहिर करने के लिए विस्तृत अध्ययन की ज़रूरत पड़ती है।

2004 में किये गये एक अध्ययन के मुताबिक़ मीडिया-पक्षपात की टोह लेने के लिए बारह तरीक़े इस्तेमाल किये जा सकते हैं : पत्रकारों, मीडिया-अभिजनों और पत्रकारिता के छात्रों के राजनीतिक/सांस्कृतिक दृष्टिकोणों का सर्वेक्षण किया जा सकता है; पत्रकारों के पुराने पेशेवराना सम्पर्कों पर नज़र डाली जा सकती है; प्रमुख पत्रकारों की राजनीतिक आस्थाओं का उद्घाटन करने वाले उद्धरण जमा किये जा सकते हैं; कम्प्यूटर के ज़रिये की-वर्ड्स का इस्तेमाल करके मीडिया-सामग्री के सार और श्रेणी का पता लगाया जा सकता है; न्यूज़ स्टोरीज़ द्वारा सुझायी गयी नीतियों

का अध्ययन किया जा सकता है; किसी घटना के नकारात्मक/सकारात्मक कवरेज को रेखांकित किया जा सकता है; मीडिया के उन लोगों के कैरियर पर निगाह फेंकी जा सकती है जिनके हाथ में निर्णयकारी अधिकार होते हैं; सूचना/मनोरंजन-सामग्री को प्रभावित करने वाले विज्ञापन-स्रोतों का अध्ययन किया जा सकता है; मीडिया पर सरकारी प्रोपेगंडे और जन-सम्पर्क उद्योग के असर पर ध्यान दिया जा सकता है, मीडिया द्वारा टीका-टिप्पणी के लिए चुने गये विशेषज्ञों और प्रवक्ताओं को उन हित-समूहों और विचारधारा-पैरोकारों के बरक्स रख कर देखा जा सकता है जिन्हें मीडिया नहीं चुनता; और कॉरपोरेशनों और वाणिज्य एसोसिएशनों द्वारा पत्रकारों को किये गये भाषण वगैरह देने के बदले किये गये भुगतानों पर निगाह डाली जा सकती है।

मीडिया की पक्षधरता का विश्लेषण करने के मामले में ग्लासगो मीडिया ग्रुप का अध्ययन काफ़ी चर्चित हुआ है जिसमें यह पता लगाने की कोशिश की गयी थी कि टीवी और अख़बार मज़दूर आंदोलन के खिलाफ़ किस तरह कॉरपोरेट हितों की सेवा करते हैं। इस अध्ययन पर भी पक्षधरता का आरोप लगाया गया है कि वह मीडिया द्वारा मज़दूरों के बारे में इस्तेमाल की गयी जिन अभिव्यक्तियों को अपमानजनक करार देता है, वह दरअसल मज़दूरों द्वारा वर्णित आत्मछवि से ही ली गयी हैं। मीडिया और प्रोपेगंडे के बीच स्पष्ट संबंध स्थापित करने वाला एक विख्यात अध्ययन नोम चोम्स्की के प्रयासों का परिणाम है जिसमें दिखाया गया है कि स्वतंत्र मीडिया की साख़ को ठेस पहुँचाने के लिए अमेरिका की कॉरपोरेट शक्तियाँ किस तरह 'कम्युनिस्ट विरोधी विचारधारा' के फ़िल्टरों का इस्तेमाल करती हैं। दूसरी तरफ़, विकसित देशों के मीडिया पर किये गये अध्ययनों से नतीजा निकला है कि वह आम तौर पर अनुदारतावादी विचार के मुक़ाबले उदारतावादी विचारधारा का पक्ष लेता है। 1986 में मीडिया-अभिजनों पर हुए एक अध्ययन से यह हकीकत सामने आयी थी कि *न्यूयॉर्क टाइम्स* और *वाशिंगटन पोस्ट* जैसे बड़े अख़बारों और प्रसारण नेटवर्कों के न्यूज़रूमों में बायें बाजू के उदारतावादी रुझानों का बोलबाला रहता है। सामाजिक और राजनीतिक विवादों के बारे में पत्रकार और विश्लेषक आम तौर से जो रवैया अपनाते हैं उस पर उनके निजी विचारों की गहरी छाप होती है।

मीडिया-पक्षपात और भारतीय मीडिया का समीकरण पश्चिम जैसा नहीं रहा है। आज़ादी से पहले पूरा भारतीय मीडिया दो ध्रुवों में बँटा हुआ था। अंग्रेज़ी के सभी बड़े अख़बार खुल कर औपनिवेशिक शासन का समर्थन करते थे, और भारतीय भाषाओं का मीडिया बिना किसी अपवाद के राष्ट्रीय आंदोलन के पक्ष में खड़ा हुआ था। इसे 'पक्षपात' और 'पक्षधरता' के बीच किये जा सकने वाले फ़र्क की

मिसाल समझा जा सकता है। 1947 में पंद्रह अगस्त को सत्ता-हस्तांतरण होते ही अंग्रेज़ी मीडिया रातों-रात राष्ट्रीय मीडिया में बदल गया। इसके बाद कमोबेश अस्सी के दशक के अंत तक भारत के सामाजिक-राजनीतिक आधुनिकीकरण और वैकासिक अर्थशास्त्र पर आधारित मिश्रित अर्थनीतियों के मॉडल का रास्ता साफ़ करने के लिए बनी राष्ट्रीय सहमति में मीडिया के सभी पहलुओं ने अपने-अपने तरह से योगदान किया। नब्बे के दशक में मंदिर, मण्डल और बाज़ार की उदीयमान ताक़तों के इर्द-गिर्द भारतीय राजनीति और समाज में नये ध्रुवीकरण हुए जिन्होंने उस राष्ट्रीय सहमति को भंग कर दिया। मीडिया के विभिन्न हिस्से कभी पक्षधरता और कभी पक्षपात का रवैया अपनाते हुए समय-समय पर इन शक्तियों का समर्थन और विरोध करने लगे। आज स्थिति यह है कि भारतीय मीडिया लगभग बिना किसी अपवाद के आर्थिक सुधारों और भूमण्डलीकरण का पक्ष ले रहा है। मीडिया ने इसे नयी राष्ट्रीय सहमति के रूप में ग्रहण कर लिया है।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाज़ार संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और राज्य, मीडिया और राजनीति, मीडिया और भारतीय राजनीति, मीडिया-अध्ययन, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

संदर्भ

1. स्टीव फ़्लर (2007), 'मास मीडिया', *द नॉलेज बुक*, एकुमन, स्टॉक्सफ़ील्ड.
2. पीटर स्टीवन (2004), *द नो-नॉनसेंस गाइड टु ग्लोबल मीडिया*, न्यू इंटरनेशनलिस्ट पब्लिकेशंस और बिटवीन द लाईंस, टोरंटो, ओंटारियो.
3. डेल जैकिट (2006), *जर्नलिस्टिक इथिक्स : मॉरल रिस्पॉसिबिलिटी इन द मीडिया*, प्रेंटिस हॉल.
4. वाल्टर लिपमैन (1922), *पब्लिक ओपीनियन*, मैकमिलन, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

मीरा बेन

(Madeleine Slade)

अहमदाबाद के साबरमती आश्रम में गाँधी के रचनात्मक कार्यक्रम में उनकी निकटतम सहयोगी ब्रिटिश मूल की मैडेलिन स्लेड को मीरा बेन (1892-1982) के नाम से जाना जाता है। मैडेलिन को यह भारतीय नाम गाँधी ने ही दिया था। मीरा ने खादी और सत्याग्रह की अवधारणाओं के प्रचार-प्रसार में उल्लेखनीय योगदान किया। गाँधी के पत्र *यंग इण्डिया* और *हरिजन* में उन्होंने कमोबेश हजार के ऊपर लेख लिखे होंगे। साथ ही वे देश के प्रमुख अंग्रेजी पत्रों में इन विषयों पर नियमित रूप से लिखती थीं। वर्धा के निकट सेवाग्राम आश्रम की स्थापना में उनकी प्रमुख भूमिका थी। 1930 में गाँधी जब गोलमेज कांफ्रेंस में भाग लेने लंदन गये, तो मीरा उनके साथ थीं। 1942 में गाँधी ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में भारत छोड़ो आंदोलन का मसविदा प्रस्ताव मीरा के हाथ से ही इलाहाबाद भेजा था। आंदोलन में सक्रिय भागीदारी के परिणामस्वरूप ब्रिटिश हुकूमत ने उन्हें 1944 तक आगा खॉ पैलेस में नजरबंद भी रखा। गाँधी के हत्या के बाद मीरा 1959 तक भारत में रहीं। इस दौरान उन्होंने दो आश्रमों और बापू बस्ती की स्थापना भी की। जीवन का अंतिम दौर उन्होंने वियना के निकट एक आश्रम में बीथोवेन के संगीत के साथ गुजारा। भारत सरकार ने उन्हें पद्मविभूषण से भी सम्मानित किया।

मैडेलिन स्लेड एक ब्रिटिश सैन्य अधिकारी एडमिरल सर एडमण्ड स्लेड के पुत्री थीं। नौ सेना के काम से मैडेलिन के पिता ज़्यादातर घर से बाहर ही रहते थे। मैडेलिन का बचपन अपने नाना के यहाँ ग्रामीण परिवेश में स्थित एक बेहद विशाल घर में व्यतीत हुआ जहाँ वे घर के साथ लगे खेतों, मैदानों, बागी और पहाड़ियों के प्राकृतिक सौंदर्य से रूबरू हुईं। इस घर में मुर्गियाँ, गाय व घोड़े भी पाले जाते थे। एक बालिका के रूप में मैडेलिन को गुड़ियों से खेलने के बजाय घुड़सवारी का शौक था। उनका काफ़ी समय अस्तबल में घोड़ों की देखभाल और घुड़सवारी में लगता था। उनकी पढ़ाई किसी औपचारिक स्कूल में नहीं बल्कि अपने घर पर ही हुई। एक दिन मैडेलिन ने अपने घर के प्यानो पर महान संगीतकार बीथोवेन की एक संगीत रचना सुनी जिससे वे सम्मोहित हो गयीं। अकेले में मैडेलिन घुटनों पर गिर कर भगवान से शिकायत करतीं कि उनका जन्म बीथोवेन के दुनिया छोड़ने के इतने साल बाद क्यों हुआ। बीथोवेन के बारे में और जानकारी लेने के प्रयास में उन्हें रोम्या रोलाँ द्वारा इस संगीतकार पर फ्रांसीसी में लिखी पुस्तक *ज्याँ क्रिस्टोफ़र* का

अंग्रेजी अनुवाद पढ़ने का अवसर मिला। इस रचना को मूल में पढ़ने के लिए मैडेलिन ने फ्रांस जाकर फ्रेंच सीखना शुरू किया। कुछ समय बाद वे स्विट्ज़रलैण्ड जा कर रोम्या रोलाँ से मिलीं। रोम्या रोलाँ ने ही मैडेलिन को गाँधी के बारे में बताया और कहा कि गाँधी आज के समय के एक मसीहा हैं। वार्तालाप के दौरान रोम्या रोलाँ ने गाँधी पर लिखी अपनी पुस्तक का भी उल्लेख किया।

इसके तुरंत बाद ही मैडेलिन ने रोम्या रोलाँ की गाँधी पर लिखी पुस्तक पढ़ी और तत्काल भारत जाने का फ़ैसला किया और अपनी समुद्री यात्रा का टिकट भी ले लिया। लेकिन गाँधी से मिलने की इस उतावली के बावजूद मैडेलिन को यह महसूस हुआ कि भारत में और गाँधी के साथ रहने के लिए उन्हें अपने आप को तैयार करना होगा। इस तैयारी के लिए अगले एक साल तक मैडेलिन ने कठोर अनुशासन के साथ इंग्लैण्ड में अपने घर ही में आश्रम का जीवन जीना शुरू किया। 1925 में मैडेलिन ने गाँधी को बीस पाउंड का अनुदान भेजा और एक पत्र में भारत आ कर गाँधी के साथ रहने का अनुरोध किया। गाँधी ने जवाब में कहा कि मैडेलिन यदि भारत और आश्रम के कष्टसाध्य जीवन के लिए तैयार हैं तो उनका स्वागत है। गाँधी ने यह भी लिखा कि अगर मैडेलिन अपने जहाज़ के बारे में पूर्व-सूचना दे देंगी तो गाँधी किसी व्यक्ति को मुम्बई भेज देंगे जो मैडेलिन के भारत पहुँचने पर उनके साथ रहेगा। छह नवम्बर, 1925 को मैडेलिन मुम्बई पहुँचीं जहाँ उन्हें दादाभाई नौरोजी के घर ठहराया गया। लेकिन नौरोजी परिवार के सारे अनुरोधों के बावजूद मैडेलिन उसी दिन ट्रेन से अहमदाबाद रवाना हो गयीं।

सरदार वल्लभ भाई पटेल मैडेलिन को लेकर सात नवम्बर की सुबह साबरमती आश्रम पहुँचे। मैडेलिन के शब्दों में गाँधी को देख कर वे अपनी सुधबुध खो बैठीं। बाद में उन्होंने गाँधी को कहते सुना : तुम मेरी बेटी होगी। आश्रम में मैडेलिन के कमरे में एक टेबल-कुर्सी और बिस्तर रखा गया था जिसे उन्होंने हटा कर ज़मीन पर ही सोना शुरू कर दिया। मैडेलिन ने आश्रम में ही सूती सफ़ेद साड़ी पहनना शुरू की, अपने बाल कटवा लिए और आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लिया। गाँधी के कहने पर उन्होंने पूरी निष्ठा से चरखा चलाया, सूत की कतायी-बुनायी की। आश्रम के अन्य दैनिक कार्य एवं हिंदी सीखना शुरू किया। इसी दौरान उन्हें उनका नया नाम मीरा बेन मिला।

साबरमती आश्रम में कुछ दिन रुकने के बाद मीरा गाँधी के साथ विनोबा भावे के वर्धा आश्रम गयीं यहाँ की आश्रम व्यवस्था और आश्रमवासियों के व्यवहार से बहुत प्रभावित हुईं। भारत आने के एक साल बाद मीरा के पिता का निधन हो गया लेकिन उन्होंने इंग्लैण्ड जाने के स्थान पर भारत

में ही रहने का निर्णय लिया और हिंदी सीखने के लिए नयी दिल्ली के कन्या गुरुकुल और फिर गुरुकुल कांगड़ी चली गयीं। 1928 में मीरा ने खादी के प्रचार के लिए बिहार की यात्रा की। इसी बीच नमक आंदोलन में गाँधी जी की गिरफ्तारी हो गयी। मीरा ने राजनीति के स्थान पर रचनात्मक कार्यों को प्राथमिकता देना जारी रखा। उन्होंने चरखे और खादी को बढ़ावा देने के लिए भारत के विभिन्न स्थानों की यात्राएँ की। 1931 की दूसरी गोलमेज बैठक में गाँधी के साथ इंग्लैण्ड में उन्होंने स्थानीय ब्रिटिश लोगों और गाँधी के बीच मध्यस्थ की भूमिका अदा की। इंग्लैण्ड से लौटने के तुरंत बाद ही कांग्रेस को गैरक्रान्ती घोषित करते हुए गाँधी को भी जेल में डाल दिया गया और सारे देश के समाचार पत्रों पर सेंसरशिप लगा दी गयी। तब मीरा बेन ने मुम्बई में रह कर विदेशी अखबारों को भारत के बारे में गुप्त रूप से जानकारी भेजना शुरू किया। कुछ दिनों के बाद ब्रिटिश हुकूमत को मीरा की इन गतिविधियों की जानकारी मिली तो उन्हें तीन महीने के लिए जेल भेज दिया गया। जेल से छूटने पर भी मीरा के मुम्बई प्रवेश पर प्रतिबंध लगा रहा जिसका उल्लंघन करने पर उन्हें और एक साल के कारावास की सजा मिली। 1933 में मीरा अपनी इंग्लैण्ड यात्रा के दौरान विंस्टन चर्चिल से मिलीं और गाँधी के बारे में चर्चिल की कटूक्तियों का बड़ी शालीनता और दृढ़ता से जवाब दिया। मीरा ने कई अवसरों पर भारत के वायसराय और कांग्रेस की कार्यसमिति के सदस्यों और पदाधिकारियों से गाँधी की व्यक्तिगत संदेश वाहक के रूप में मुलाकात की। युरोप और अमेरिका में भारत की स्वतंत्रता और गाँधी के दृष्टिकोण के बारे में आम लोगों में जागरूकता बढ़ाने का काम किया।

वर्धा से आठ किलोमीटर की दूरी पर सेगाँव नामक एक गाँव में गाँधी ने एक नया आश्रम बनाया, जिसे बाद में सेवाग्राम का नाम दिया गया। यहाँ पर गाँधी कस्तूरबा और मीरा के साथ कई दिनों तक रहे। 1939 में चेकोस्लोवाकिया गणराज्य पर नाज़ी आक्रमण के बाद मीरा वहाँ भी एक अहिंसक आंदोलन चलाना चाहती थीं लेकिन खान अब्दुल गफ्फार खान के सुझाव पर वे उत्तर पश्चिम सीमांत इलाके में गयीं और पठानों के बीच समाज-सुधार में उन्होंने हिस्सा लिया। गाँधी आश्रम में और अन्य सामाजिक गतिविधियों के दौरान मीरा सरदार पृथ्वी सिंह के प्रति आकृष्ट हुईं और मीरा ने गाँधी से इस विषय पर बात भी की। लेकिन अंततः इस लगाव का कोई निश्चित परिणाम नहीं निकल पाया। इसके बाद मीरा ने लगभग एक साल के लिए एकांतवास और मौन व्रत का निर्णय लिया। अपने इस एकांतवास में मीरा बेन ने

ऋग्वेद का अंग्रेज़ी भाषा में अनुवाद भी किया।

द्वितीय विश्व-युद्ध में भारत पर जापानी आक्रमण का अंदेशा देखते हुए मीरा ने उड़ीसा प्रांत में लोगों को संगठित व जाग्रत करने के उद्देश्य से वहाँ की यात्रा की और 1942 में गाँधी से इस विषय पर बात करने के लिए मुम्बई आयीं। वहाँ मीरा को गाँधी और कस्तूरबा के साथ गिरफ्तार करके आगा खान महल में रखा गया। इसी नज़रबंदी के दौरान गाँधी के सहायक महादेव देसाई और कस्तूरबा का निधन हो गया। जेल से छूटने के बाद मीरा बेन ने रुड़की के पास किसान आश्रम की स्थापना की। 1946 में संयुक्त प्रदेश (उत्तर प्रदेश) में कांग्रेस की प्रांतीय सरकार ने मीरा को कृषि एवं पशुपालन के क्षेत्र का विशेष सलाहकार भी नियुक्त किया। 1947 में मीरा बेन ने ऋषिकेश के निकट पुष्यलोक के नाम से एक गोसेवा आश्रम स्थापित किया। हरे-भरे मैदानों व हिमाच्छादित पर्वत श्रृंखलाओं के बीच वे बड़े उत्साह से इस काम में लग गयीं। 30 जनवरी, 1948 को गाँधी जी की हत्या के बाद स्तब्ध मीरा बेन ने अपना दुःख व्यक्त नहीं किया बल्कि अपने आश्रम के कामों में ही जुटी रहीं।

यहाँ तक कि वे गाँधी के अंतिम दर्शनों के लिए नयी दिल्ली तक नहीं गयीं। 1952 में उन्होंने टिहरी गढ़वाल में गोपाल आश्रम स्थापित किया और यहीं से भारतीय पर्यावरण एवं वानिकी के पुनरुद्धार का अभियान चलाया। मीरा जानती थीं कि औपनिवेशिक शासन ने भारत के जंगलों में स्थानीय पर्यावरण के उपयुक्त वृक्ष हटा कर उनके स्थान पर केवल व्यापारिक लाभ के पेड़ लगा दिये हैं। स्थानीय वन संपदा की रक्षा में मीरा की मुहिम से प्रेरणा लेकर सरला बेन और सुन्दरलाल बहुगुणा ने वन संरक्षण का व्यापक अभियान शुरू किया।

गाँधीजी के निधन के बाद उनका कांग्रेस पार्टी, भारत सरकार या भारतीय राजनीति से कोई संबंध नहीं रहा। 1959 में अपनी आत्मकथा के प्रकाशन के सिलसिले में मीरा इंग्लैण्ड गयीं, लेकिन वहाँ उनका मन नहीं लगा। मीरा दोबारा बीथोवेन की खोज करना चाहती थीं, इसलिए उन्होंने इंग्लैण्ड छोड़ कर ऑस्ट्रिया में वियना शहर से कोई पचास किलोमीटर की दूरी पर एक गाँव में रहना शुरू किया। यहाँ मीरा बेन की देखभाल के लिए गढ़वाल से आया उनका एक भारतीय सहायक भी था। मीरा यहाँ अकेले ही रहीं और उन्होंने बीथोवेन पर एक पुस्तक भी लिखी जिसे उस समय भारत या इंग्लैण्ड का कोई प्रकाशक छापने को तैयार नहीं हुआ। अकेले रहते भी मीरा स्थानीय लोगों की सहायता के लिए हमेशा तैयार रहती थीं। 20 जुलाई, 1982 को मीरा बेन का देहांत हो गया।



मीरा बेन (1892-1982)

गाँधी-मीरा के संबंधों पर अनेक किवदंतियाँ-कथाएँ भी हैं। लेकिन मीरा बेन ने इस विषय पर कभी भी विस्तार से चर्चा नहीं की और न ही अपनी आत्मकथा में इसका पूरा वर्णन किया। गाँधी के प्रति मीरा का अनुराग समर्पण-उत्सर्ग की सीमा तक था। गाँधी के प्रति अपनी भक्ति में मीरा भक्तिकालीन कवयित्री मीराबाई के समान ही मानी जाती हैं।

देखें : उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, भारत में सशस्त्र संघर्ष-1, 2 और 3, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, उपनिवेशवाद, सविनय अवज्ञा, विजय लक्ष्मी पण्डित, प्रभावती देवी, सुचेता कृपलानी, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, ऐनी बेसेंट, संतोष कुमारी देवी, अरुणा आसफ़ अली, कमला देवी चट्टोपाध्याय, दुर्गाबाई देशमुख।

संदर्भ

1. मीरा बेन (1960), *स्प्रिट्स पिल्लियमेज़*, लोंगमेन, लंदन.
2. महात्मा गाँधी और मीरा बेन (1949), *बापूज़ लेटर्स टू मीरा 1924-1948*, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद
3. थॉमस वेबर (2005), *गाँधी एज़ डिसाइपल ऐंड मेंटर*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— रवि दत्त वाजपेयी

मीराबाई और प्रेमाभक्ति

(Meerabai and Premabhakti)

हिंदी के कृष्ण-भक्त कवियों में राजस्थान की कवयित्री मीराबाई (संवत् 1573-1603) का कई कारणों से विशिष्ट स्थान है। उनका संबंध किसी वैष्णव सम्प्रदाय से नहीं रहा है, फिर भी 'गिरधर नागर' को आलम्बन मानकर उन्होंने जिस भक्तिमार्ग का आधार ग्रहण किया, उसने राजस्थान की मरुभूमि को भक्ति की तन्मयता से रससिक्त कर दिया। मीरा में भक्त और कवि दोनों का मेल हुआ है, लेकिन उनका कवि रूप ही प्रायः बहुत उभारा गया है। उनकी प्रमुख चर्चा एक समर्पित भक्त के रूप में ही की गयी है। उनके भक्त में उनके योगी संत का अद्भुत मेल मिलता है। यही कारण है कि मीरा के भक्त-हृदय में साधनारत योगी का निवास है। यह योगी काव्य को साध्य न मानकर भक्ति को साध्य-साधन दोनों रूप में अपनाता रहा है। राजस्थान के सामंतवाद-मर्दवाद को मीरा ने चुनौती दी और महलों से निकल पड़ीं। पर्दानशीन रानी गलियों में संतों के साथ गाती चलीं यह बात राजाओं को अपनी मान-प्रतिष्ठा के

प्रतिकूल लगती थी। मीरा की सास-ननद मीरा को 'कुलनाशी' कहने लगीं। लेकिन मीरा के अस्वीकार भरे साहस ने राजसत्ता को चुनौती देकर कहा, 'नहि चाहिए थारो देसड़ों रंग सड़ों-थारे देसां राणा साधू नहि छे लोग बसहि सब कूड़ों।' भक्तिकालीन सामंतवादी समाज में मीरा का यह विद्रोह आज बहुवचनात्मक भाष्य माँगता है। मीरा की योग-समाधि की तन्मयता को अभी हिंदी की समीक्षा में कम समझा गया है, जबकि उसे नये संदर्भों में, विशेषकर स्त्री-विमर्श के संदर्भों में, समझा जाना चाहिए। मीरा का कृतित्व साक्षी है कि प्रबल सांसारिक झंझावातों को झेलकर भी वे भक्तिमार्ग के प्रेमपंथ पर अडिग चलती रहीं। ससुराल तथा समाज के अनेक अत्याचार उन्हें भक्तिमार्ग से विचलित नहीं कर सके। आज उस मध्ययुगीन नारी में ऐसा जुझारू साहस हमें विस्मय-विमुग्ध करता है।

इतिहास साक्षी है कि मीरा के भक्ति-संस्कारों की घुट्टी में कृष्ण-भक्ति के संस्कार थे। उनके पितृकुल में कृष्ण-भक्ति के संस्कार कई पीढ़ियों से चले आ रहे थे। रावदूदा, बीरमदेव, जयमल आदि उनके परिवार के सभी सदस्य परम वैष्णव थे। इस वंश परम्परा के प्रभाव से मीरा के भक्ति-संस्कारों को विकसित होने का अवसर मिला। उनके भक्ति-संस्कार उज्वल भक्ति-रस से सिंचित होकर साधना के शिखर तक पहुँचे। बाल्यावास्था में मीरा का भोजराज से विवाह हुआ और भोजराज के देहावसान के बाद जीवन में उनका सामना उमड़ते अंधकार और नैराश्य से हुआ। इस वैधव्य के कष्ट को मीरा ने कृष्ण-भक्ति की शक्ति से दूर किया। राजरानी मीरा को राजमहलों का सुख-वैभव लुभा नहीं सका। उनके देवर राणा जी ने उन्हें बहुत कष्ट दिये। राजस्थान के सामंतवाद-मर्दवाद को मीरा ने चुनौती दी और महलों से निकल पड़ी।

दरअसल, मीरा के समय तक भक्ति आंदोलन जर्जरित सामंतवाद के खम्भों को हिला चुका था। दक्षिण के आचार्य उत्तर भारत में आकर इस भक्ति आंदोलन को लोकप्रिय एवं व्यापक बना चुके थे। विष्णु स्वामी, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु जैसे आचार्य पूरी शक्ति से जनता के मुरझाये मनो को भक्ति-जल से सींच रहे थे। वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद-पुष्टिमार्ग में दीक्षित अनेक भक्त-कवि अपने सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुसार अपनी भक्ति का मार्ग निश्चित कर चुके थे। इन सभी कृष्णभक्त आचार्यों एवं कवियों ने महाभारत के कृष्ण को नहीं चुना। सभी ने भागवत के भाव-लीलानायक, लोकरंजन, लोकरक्षक कृष्ण को चुना। सभी ने कृष्ण को अपनी रागानुगा भक्ति का आलम्बन बनाया, साथ ही अपनी मनोभावना के अनुकूल कृष्ण को सखा, पति, स्वामी, आराध्यदेव के रूप में देखा।

इन सभी ने भगवान के साथ अनेक प्रकार के संबंध स्थापित किये।

भक्ति-आंदोलन से संबंधित अनेक सम्प्रदाय और मार्ग मीरां के समय तक आ चुके थे। खोजने पर लगभग सभी सम्प्रदायों का प्रभाव मीरां में मिल जाता है, किंतु मीरां की भक्ति के स्वरूप पर किसी एक सम्प्रदाय की मान्यताओं का असर नहीं है। उनकी भक्ति-भावना पर पितामह रावदूदा की वैष्णव-भक्ति की छाप पड़ी है। मीरां ने अपने को कृष्णप्रेम की गोपी माना और 'लोकलाज कुलशृंखला तजि' गिरधर की शरण में चली गयीं। उनके अनेक पदों की अंतर्ध्वनि यही है कि मीरां को राणा ने विष का प्याला भेजा। उस प्याले को मेड़तणि मीरां ने पी लिया। यह भी प्रसिद्ध है कि मीरां को मारने के लिए 'सांप पिटारा राणाजी भेज्या' था। पर वह पिटारी खोलने पर सर्प शालिग्राम बन गया।

चैतन्य के गौड़ीय सम्प्रदाय में जीवगोस्वामी और रूपगोस्वामी भी नामी आचार्य रहे हैं। *भक्तिरसामृत सिंधु* और *उज्ज्वल नीलमणि* ग्रंथों ने इन नामों और आचार्यत्व को अमर किया। लोक में प्रसिद्ध है मीरां ने जीवगोस्वामी के पुरुष-दम्भ को तोड़ा था— स्त्री-पुरुष के भेद-भ्रम का उच्छेदन किया। मीरां के मन में वृंदावन, जमुना, संत-भक्त-गायक सभी के लिए बहुत सम्मान है। मधुर-भाव को अपनाने वाली गोपियों को मीरां ने अपना आदर्श माना। उनके पदों में यही कृष्णभक्ति साकार हो उठी। मीरां ने लोकरक्षक गिरधर को अपना पति स्वीकार किया, 'म्हारा तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई-जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।' इस गिरधर गोपाल ने मीरां को आंतरिक बल दिया। मीरां इसी के बूते कृष्ण और राम के भेद के फेर में नहीं पड़ीं। यह कथन, 'पायो जी मैंने रामरतन धन पायो' और कभी, 'राम नाम रस पीजैय मनुआ' कि गुहार। भेद बुद्धि का नाश होने से ही मीरां भक्ति के बहुत ऊँचे शिखर को स्पर्श कर सकीं।

अगर हम मीरां के विरह-मिलन के पदों को देखते हैं तो पाते हैं कि मीरां को राम और कृष्ण में सामंजस्य और सौंदर्य दिखाई देता है। सच बात तो यह है कि मीरां के प्रभु गिरधर नागर ही भिन्न रूपों में सामने आते हैं। उनमें निर्गुण-सगुण दोनों रूप समाये हुए हैं। मीरां ने अनेक पदों में निर्गुणिए संतों की तरह अपने आराध्यदेव को निर्गुण, निरंजन, अविनाशी जैसे नामों से सम्बोधित किया है। यह आराध्य घट-घट में व्याप्त है, उसकी सेज गगन-मण्डल में बिछी हुई है, सूली ऊपर सेज है। 'गगन मण्डल में सेज पिया की केहि विधि मिलना होय।' इस बात को बराबर ध्यान में रखना होगा कि मीरां ने गिरधर-नागर को योगी रूप में देखा है। हो सकता है कि यह नाथपंथी योगियों का प्रभाव हो। मीरां इस योगी की रात-दिन प्रतीक्षा करती हैं और उसके सान्निध्य में ही

अमृतानुभव करती हैं। विनय करती हैं, 'जोगी मतजा मतजा, पाँड़ परूण मैं तेरी' और यह अहसास भी है कि, 'जोगिया से प्रीत किये दुख होय'। वस्तुतः मीरां का योगी न तो गीता का योगी ब्रह्म है न हठयोग-सम्मत योगी। ये दोनों रूप मिल गये हैं और एक नये रूप का निर्माण हुआ है। यह प्रीतम इंद्रियातीत निर्गुण रूप है— लेकिन प्रेम प्रवाह के वेग में अमूर्त-इंद्रियातीत निर्गुण रूप टिक नहीं पाता। ऐसा इसलिए है कि मीरां के हृदय में कृष्ण का छबीला सगुण रूप भरा हुआ है :

बसो मेरे नैनन में नंदलाल।

मोहिनी मूरत सांवरी सूरत, नैण्यं बने है विसाल।

अधर सुधारस मुरलीराजत, उर बैजन्ती माल।

क्षुद्र घंटिका कटिपट सोभित, नूपुर सबद रसाल।

मीरां प्रभु संतन सुरुनयी, भगत बछलगोपाल।

यह भगत-बछल गोपाल नाथ-पंथ, न संतमत, न चैतन्यमत, न वल्लभमत, किसी के भी रपटे में नहीं है— उसकी साधना में एक मुक्तभाव है जो जड़ता को काटता है। मीरां ने कभी भी क्रायदे से किसी सम्प्रदाय की दीक्षा नहीं ली और न ही वे सम्प्रदाय विशेष के खण्डन-मण्डन में पड़ीं। उनके समय में विचारों की जो हवा बह रही थी उसका उन्होंने केवल प्रभावमात्र ग्रहण किया। प्रेम-मगन होकर कनफटा जोगियों की तरह गेरुआ वस्त्र, जटा, भस्म, माला, मुड़ा, मेखला आदि चिह्नों को अपनाने के लिए आकुल-व्याकुल हैं :

पाटल ऊपरि भसम रमाऊँ, खोर करूँ सिर केस,

भगवाँ भेख धरूँ तुम कारण, ढूँढत च्यारूँ देस॥

माला मुन्दरा मेखलाँ, रे बाला, खरपर लूँगी हाथ,

जोगिण होय जुग ढूँढसूँ रे, म्हारे राखन पारीं साथ॥

प्रेमाभक्ति के क्षणों में मीरां वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के बेहद पास हैं। पुष्टिमार्ग का गहरा प्रभाव मीरां पर दिखाई भी देता है। यह प्रभाव पाने का कारण यह है कि मीरां कीर्तन-पद्धति, प्रभुसेवा और रागानुगा भक्ति में उन सभी को अपनाती हैं। पुष्टिमार्गी और चैतन्य मार्गियों से मीरां को कोई परहेज नहीं है। चैतन्यमार्गी भक्तों की मधुरा-भक्ति मीरां के प्राणों में रची-बसी है। हो सकता है चैतन्य महाप्रभु के शिष्य जीवगोस्वामी के सम्पर्क में आने पर मीरां में इस तरह का मधुर कृष्ण-राधा-रस झलक पड़ा हो, क्योंकि मीरां ने किसी आचार्य से मत-विशेष की दीक्षा नहीं ली। उनमें बँधकर भी अपने को खुला रखा है, इसलिए ही किसी भी मत की सम्प्रदायगत संकीर्णताओं ने उनका पीछा नहीं किया। मीरां ने त्रिकुटी महल से झाँक कर

प्रियतम के दर्शन किये और प्रेमरस पीकर मन मतवाला हो गया। प्रेम की ऐसी निश्छल-निगूढ़ गहराई के अनुभूति और कहीं नसीब ही नहीं होती।

माधुर्य-भाव की भक्ति की व्यापकता को मीरां ने अर्थ दिया। सम्पूर्ण भाव-सत्य को संदर्भ से जोड़ दिया। काव्यानुभूति की लय अंततः लौ बनकर फूट पड़ी। नारी के राधा-सीता-पार्वती, तीनों रूप मिलकर यहाँ प्रेमगान बन गये। चित्त का सब कलुष जल गया। रह गया केवल उज्वल राग। सावित्री सिन्हा ने *मध्ययुगीन हिंदी कवयित्रियाँ* शीर्षक अपने शोध-प्रबंध में लिखा है कि, 'जन्म से ही अलौकिक प्रेम का वरदान लेकर वे (मीरां) बड़ी हुई। परिस्थिति ने इस जन्मजात प्रवृत्ति को विकास का अवसर दिया, जो सांसारिकता के सब बंधनों को तोड़ती, मिलन की पूर्ण अनुभूति पाने की चेष्टा में आगे बढ़ती गयीं। मार्ग में जो कुछ मिला उसने ग्रहण किया, जो रोड़े बनकर अड़े उन्हें उनके दृढ़ पगों ने हटाकर अपना मार्ग बनाया। उनकी अनुभूतियाँ ही प्रेरक तथा पोषक थीं। भावनाओं की मुक्त अभिव्यक्ति की इच्छा सम्प्रदायों का बंधन कैसे स्वीकार करतीं? स्वैच्छिक इष्ट की कल्पना तथा स्वच्छंद भावनाओं की अभिव्यक्ति की अभिलाषा सदैव मुक्त रही।' भगवान में भक्त का परम अनुराग ही भक्ति है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। भक्त और भगवान का संबंध अनेक प्रकार का है, लेकिन उसे सघनता-प्रगाढ़ता अनुभूति से ही प्राप्त होती है। भक्त की मनोवृत्ति तथा आलम्बन के स्वरूप और प्रकृति के अनुरूप भक्ति-भाव में भिन्नता आ जाती है। भक्ति के दो प्रमुख भेद हैं— रागानुगा भक्ति या प्रेमा-भक्ति या मधुरा भक्ति और दूसरी मर्यादा-भक्ति जैसे कि नवधा-भक्ति।

मीरां में नवधा-भक्ति अर्थात् श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, सख्य, आत्मनिवेदन सभी के तत्त्व पाये जाते हैं, साथ ही उनका राग-भाव पूर्वराग, प्रेम, विरह और मिलन के रूप में भी माधुर्यभाव लिए हुए हैं। सच बात तो यह है कि माधुर्यभाव ही मीरां की भक्ति का प्रधान भाव है। वे गोपीभाव से तन्मय भक्ति करतीं हैं। लोक में प्रसिद्ध है कि मीरां स्वयं को कृष्ण की अष्ट सखियों में प्रधान सखी ललिता का अवतार मानती थीं। उनमें अहं का समर्पण और अहं के विगलन के कारण चरमकोटि का दास्य-भाव भी जगह-जगह मिलता है। उनकी विनय-भावना का स्वरूप और बीजभाव यही है। विनय के पदों की संख्या सीमित है फिर भी जितने विनय के पद हैं उनमें नारी-मन के पूर्ण समर्पण का पावन-भाव है, जैसे कि— 'भज मन चरण कमल अविनाशी' या 'तुम सुणौ दयाल म्हारी अरजी'। मीरां में आत्मविश्वास के स्वर ने सूर-तुलसी की तरह दैन्य भाव

नहीं आने दिया। उनका भीतरी संकल्प इस क्षेत्र में उन्हें आत्म-प्रकाश देता है। वे बार-बार गणिका, सदाना, अजामिल आदि भक्तों के नाम लेकर भगवान से प्रार्थना करती हैं। उनके विरह के पद हृदय की उमड़न को व्यंजित करते हैं। उनका विरही मन पीड़ा को भीतर ही भीतर झेलता है। विशेष बात यह है कि इस विरह में जिस पीड़ा की अभिव्यक्ति हुई है, वह अनिर्वचनीय हैं— जैसे, 'हेरी मैं तो प्रेम दीवाणी मेरा दरद न जाणै कोय। घायल की गति घायल जाणै कि जिन घायल होय'। पीड़ा में कह पाना कठिन होता है— शब्द थम जाते हैं। मीरां का 'गिरधरनागर' ही इस अथाह दर्द की थाह पा सकता है।

मीरां की भक्ति में नारी मनोभूमि के अनुकूल दाम्पत्य-प्रेम की गहन अभिव्यक्ति हुई है। पति-पत्नी का प्रगाढ़ प्रेम यहाँ दीपक की तरह प्रकाश करता है। यह जलन का अनुभव दाम्पत्य-प्रेम का एक सात्विक अनुभव है— यही मधुररस है। यहाँ इंद्रियों के भोग वाला स्थूल शृंगार नहीं है और इसे पार्थिव-अपार्थिव शृंगार कहना भी उचित नहीं है। मीरां के नटनागर-गिरधर अनन्त प्रेम के पयोनिधि हैं और मीरां उनकी जन्म-जन्म की प्रिया। बचपन का कृष्णप्रेम परिपक्व होकर मीरां में मनोरम सौंदर्य की सृष्टि करता है। मीरां ने मोहन के रूप की लुभावनी छवि पर अपने को न्यौछावर किया हुआ है। मीरां का प्रेम कोई सीमा नहीं मानता। उनकी भारी व्याकुलता ही उनकी आंतरिक बेचैनी का संकेत देती है, जैसे— 'कैसे प्राण पिया बिनु राखूँ जीवन मूर जड़ी।' जो पिया जीवनाधार है उसकी मीरां 'पंथ निहारू अपने भवन खड़ी।' फिर यह पिया हृदय में ऐसे प्रवेश कर गया है कि हृदय उसका ही हो गया है— 'चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अड़ी।' आप कितनी ही कल्पना कीजिये, मीरां की थाह नहीं है— प्रियतम भी अलौकिक और अथाह। मीरां भी अपार्थिव प्रेम की अथाह प्रेमपिया।

मीरां के प्रेम में ऐंद्रिकता नहीं है। शारीरिक प्रेम के अभाव में गिरधर के प्रति मीरां का प्रेम-भाव गहन-गम्भीर है। इसी गम्भीरता के कारण मीरां ने शारीरिक अतृप्ति का वर्णन नहीं किया। वहाँ कामुकता नहीं है— भावों के विरेचन-व्यापार की पवित्रता है। प्रेम की इस अनन्यता में मीरां का इष्टदेव अपूर्व है। यह ऐसा विरह-विदग्ध नारी-मन है, जिसमें 'ज्यूँ चातक घन को रटै, मछरी जिमि पानी हो' की तड़प है। प्रेम में 'नीर-नसानी' है और 'प्रिय को पंथ निहारत सिगरी रैन बिहानी हो' का भाव है— यह ऐसा प्रेम जागरण है जिसमें 'अंतर वेदन विरह की वह पीर न जाती है'। कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है कि मीरां पर सूफी-प्रेम-दर्शन की गहरी छाया है। नारी-भाव का वह

चरम समर्पण है जो अद्वैत की भूमि को पा गया है, जिसमें- 'जहाँ बैठावे तित ही बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ' की ध्वनि है। यह ऐसी उज्वल भावभूमि है जिसे भक्तिशास्त्र उज्वलनीलमणि का नाम देता है। इसमें कर्म, योग, ज्ञान सब एकाकार हैं। ज्ञानमार्ग अकड़ खोकर प्रेममार्ग में मिल गया है। मीरां उस प्रिय के लिए काषाय धारण करती हैं- त्रिकुटी महल में समाधि लगाती हैं, यहाँ तक कि, कासी करवट की व्यथा भी झेलने को तैयार है। अद्भुत बात यह है कि मीरां ने अपने प्रियतम को सगुण-निर्गुण दोनों रूपों में पाया है। आत्मा-परमात्मा का भावनात्मक रहस्यवाद एक खास अनुभव के साथ यहाँ मौजूद है— यहाँ प्रेम-लीला का कृष्ण-रस है और राधा-रस की अनन्य तन्मयता। राजकुल के प्रतिकूल आचरण का आलम यह है कि वे मंदिरों में नाचती-गाती थीं- उनके स्वजन उनसे रुष्ट रहते थे। द्वारका और वृंदावन के मंदिरों में भजन गा कर मीरां ने मन को पावन किया था।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायग्लोसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, सगुण और निर्गुण-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नए परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. परीता मुक्ता (1997), *अपहोलिडिंग द कॉमन लाइफ : द कम्युनिटी ऑफ मीराबाई*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. कुमकुम संगारी (1990), *मीराबाई ऐंड द स्पिरिचुअल इकॉनॉमी ऑफ भक्ति*, अंक 28, ऑक्रेज़नल पेपर्स ऑन हिस्ट्री ऐंड सोसाइटी, नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम लाइब्रेरी, नयी दिल्ली.
3. रामचंद्र शुक्ल (1940), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,
4. सावित्री सिन्हा (1990), *मध्ययुगीन हिंदी कवयित्रियाँ*, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
5. डॉ. राम विलास शर्मा (1981), *परम्परा का मूल्यांकन*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. कृष्णदत्त पालीवाल (2007), *भक्तिकाव्य से साक्षात्कार*, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.

— कृष्णदत्त पालीवाल

मुकुंद लाठ

(Mukund Lath)

अध्येता, विचारक, कवि और सांस्कृतिक इतिहासकार मुकुंद लाठ (1937-) ने साहित्य, संगीत, नाटक, नृत्य, सौंदर्यशास्त्र तथा धर्म और दर्शन जैसे विषयों पर बहुआयामी लेखन करके भारतीय ज्ञान-प्रणाली के समग्रतावादी स्वरूप का मौलिक उद्घाटन किया है। संगीत-चिंतन और धर्म-नीति विषयक भारतीय विमर्श मुकुंद लाठ के अध्ववसाय के विशिष्ट क्षेत्र रहे हैं। संगीत, जिसे शिल्प-मात्र समझा जाता है, को विचार के रूप में ग्रहण करके मुकुंद लाठ ने उसके भीतर भाव और बुद्धि में एक विशेष प्रकार की जुगलबंदी देखी और उसे अपने संगीतविषयक विमर्श में विस्तार से साधा। धर्म-नीतिविषयक चिंतन में उन्होंने भारतीय नीति-मीमांसा के गहन गुण-सूत्रों का उद्घाटन करते हुए उसका अभिनव आलोचनात्मक अनुशीलन किया है। उनका यह अनुशीलन शास्त्र-परम्परा के भीतर से उद्भूत विमर्श है लेकिन इस विमर्श में शास्त्र प्रमाण रूप में प्रस्तुत नहीं हुआ है बल्कि विचार की स्वकीय भूमि पर शास्त्र को एक नया सौष्ठव प्रदान किया गया है।

कलकत्ता के एक सम्भ्रांत परिवार में जन्मे मुकुंद लाठ की शिक्षा कलकत्ता और दिल्ली में हुई। साठ के दशक में पश्चिमी बर्लिन के तुलनात्मक संगीत अध्ययन संस्थान में उन्होंने प्राचीन भारतीय संगीत से संबंधित *दत्तिलम* नामक एक दुर्लभ ग्रंथ पर अनुसंधान किया। वस्तुतः इसी ग्रंथ पर कार्य करते हुए मुकुंद लाठ ने प्राचीन संगीत-चिंतन और गांधर्व विद्या के गहन अवधारणात्मक गुण-सूत्रों को आत्मसात् किया। वे न केवल शास्त्रीय संगीत के प्राचीनतम और आधुनातन रूपों के पारखी हैं, बल्कि उन्होंने अपने संगीतशास्त्रीय स्वाध्याय को पण्डित मणिराम और पण्डित जसराज के साथ संगीत-साधना में भी रूपांतरित किया है। संगीत के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं अवधारणात्मक अध्ययन के क्षेत्र में उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं : *अ स्टडी ऑफ दत्तिलम* (1978), *द हिंद पदावली ऑफ नामदेव* (1989), *संगीत एवं चिंतन* (1992) तथा *ट्रांसफार्मेशन एज़ क्रियेशन* (1998)। भारत में आत्मकथा की प्राचीन शैली और परम्परा की खोज भी मुकुंद लाठ की साहित्यिक अभिरुचि का विषय रहा है। इस विधा में उन्होंने *कल्पसूत्र* (1977) का अंग्रेजी अनुवाद किया है। *कल्पसूत्र* प्राकृत भाषा में वर्द्धमान महावीर की जीवनी है। इसके अतिरिक्त 1981 में प्रकाशित *अर्द्ध कथानक (हॉफ ए टेल)* उनकी एक प्रसिद्ध कृति है जो सत्रहवीं शताब्दी के एक जैन व्यापारी एवं साधक बनारसी

दास द्वारा आत्मलोचनपूर्वक हिंदी में लिखी गयी आत्मकथा के अध्ययन पर आधारित है। मुकुंद लाठ कवि भी हैं। उनकी काव्य प्रतिभा *स्वीकरण* (1991) तथा *अनरहनी रहने दो* (2013) के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। इन्होंने *तिर रही वन की गंध* (1998) शीर्षक से कुछ प्राकृत कविताओं का हिंदी अनुवाद भी किया है। अनुवाद के क्षेत्र में उन्होंने पंद्रहवीं सदी के ग्रंथ *वास्तुविद्या* (2004) का भी अंग्रेज़ी अनुवाद किया है। मुकुंद लाठ यद्यपि दर्शन-परम्परा में दीक्षित नहीं हैं फिर भी धर्म-नीतिपरक दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में उन्होंने उल्लेखनीय योगदान किया है। *धर्म-संकट* (2004) के माध्यम से उन्होंने भारतीय दार्शनिक चिंतन के एक ऐसे आयाम को उद्घाटित किया है जिसमें वे सम्प्रति अकेले खड़े व्यक्ति हैं। भारतीय कला-चिंतन और कला-साधना के दुर्लभ पक्षों को उन्होंने अपने बहुविध राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय व्याख्यानों के माध्यम से बुद्धिजीवियों के बीच विमर्श का विषय बनाया है। मुकुंद लाठ को विविध सम्मानों और पुरस्कारों से नवाज़ा गया है।

भारत के पारम्परिक और शास्त्रीय विमर्श में नाट्यार्थ और काव्यार्थ को जितना केंद्रीय स्थान प्राप्त हुआ, उतना संगीत को नहीं। मुकुंद लाठ की विशेषता यह है कि उन्होंने संगीत को कलात्मक स्वायत्तता प्रदान करके न केवल उसे विमर्श का विषय बनाया बल्कि यह भी प्रतिपादित किया कि नाट्य आदि कलाओं की तरह संगीत में भी रस की निष्पत्ति होती है। संगीत की कलात्मक स्वायत्तता के लिए यह प्रतिपादन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः धुन, राग और आलाप के व्यूहबद्ध ताने-बाने में व्याकृत हुआ संगीत अपनी संरचना में भाव-चित्त के विमर्श का एक पूरा संसार अपने में समोये रहता है। संगीतविषयक अध्यवसाय इसी संसार के भावलोक को उद्घाटित करता है। इस उद्घाटन में राग और धुन, स्वर और शब्द तथा रस और सत्य संगीतशिल्प के घटक नहीं बल्कि संगीत-विचार के प्रत्यय बन जाते हैं और इस तरह संगीत-साधना के भीतर ही संगीत-विचार वैसे ही व्याकृत होता है जैसे संगीत।

संगीत के तत्त्व (राग और धुन) की बुद्धिगम्यता को संदर्भ बनाकर मुकुंद लाठ भारतीय और पश्चिमी संगीत में मूलगामी अंतर प्रतिपादित करते हुए विचारधर्मी संगीत चिंतन के लिए व्यापक अवकाश निर्मित करते हैं। संगीत के स्वरूप के बारे में पश्चिम की मान्यता है कि बाख-बीथोवेन आदि की रचनाएँ शुद्धि-बुद्धि विषयक हैं। उनका प्रयोग जो हम कानों से सुनते हैं वह उनका शुद्ध रूप नहीं है, बल्कि शुद्ध रूप की छाया है। प्रयोग या व्यवहार में धुन का शुद्ध बुद्धिगम्य परमार्थ मलिन हो जाता है। मलिन ही नहीं वह अनेकांत भी हो जाता है। इस अनेकांत का कारण यह है कि बाख या बीथोवेन ने अपनी धुनें स्वरलिपि-बद्ध की हैं। इन

स्वरलिपियों को प्रयोग में उतारते समय, उनको कर्णगोचर रूप देते समय प्रयोगकर्ता को उसे अपनी पकड़ से निभाना पड़ता है। दूसरे शब्दों में स्वरलिपि को अपनी तरह से समझ कर अपनी तरह से उसका व्यवहार करना पड़ता है। पश्चिम में संगीतकर्मियों का ऐसा भी सम्प्रदाय है जो इस प्रायोगिक निभाव को विकार समझ कर बाख-बीथोवेन को सुनने की अपेक्षा उनके द्वारा रचित स्वरलिपि को पढ़ना अधिक उचित समझते हैं।

इसी जगह मुकुंद लाठ के लिए यह देखना सम्भव हो जाता है कि पश्चिमी संगीत अपने स्वरूप में ही किस प्रकार एक प्लेटो जैसी तत्त्वदृष्टि को समोये हुए है। और यह दृष्टि है कि प्रतिभा-दृष्ट वस्तु का शुद्ध अविकृत स्वभाव उसके व्यवहृत रूप में नहीं होता बल्कि एक ऐसे अतींद्रिय जगत में होता है जो शुद्ध बुद्धिगम्य है। परन्तु मुकुंद लाठ की विचारधर्मिता यहीं विश्रांत नहीं होती। वे भारतीय संगीत में निहित तत्त्वदृष्टि को भी उतनी ही मूलगामिता से पकड़ते हैं। भारतीय परम्परा में 'साम' भी एक तरह से धुन ही है और इस धुन का संबंध भी लोकोतीर्ण प्रतिभा-दृष्ट परमार्थ से है। परन्तु यह परमार्थ प्लेटो का परमार्थ नहीं जो विकृत और छाया रूप से ही व्यवहार में अवतरित हो सकता है। साम धुन की किसी निरीन्द्रिय निर्धारित वस्तु-रूप में कल्पना नहीं है। यद्यपि साम दृष्ट है, आर्ष है, किसी उर्ध्व सत्य की प्रज्ञालब्ध अभिव्यक्ति है, पर यह इंद्रिय-बोध मात्र की दृष्ट या लौकिक उपलब्धि नहीं। धुन रूप में उसका स्वरूप किसी इंद्रियातीत बुद्धि जगत की वस्तु नहीं है। ऐसा भी नहीं कि साम किसी अतिक्रामी लोक में ही निर्विकार रहता हो और यहाँ इस लोक में विकृत रूप में ही प्रकट हो सकता है। साम अपने इंद्रियग्राह्य रूप में ही ऋषि दृष्ट है। ऋक मंत्रों की अक्षरयोजना जैसे अपने शब्द रूप में ही आर्ष है, वैसे ही साम अपनी स्वरानुक्रमी स्वर-योजना में श्रुति है। साम किसी अतींद्रिय लोक में भी होता है परन्तु साम के लिए स्वरलिपि की भूमिका सहायक की है, उसके संरक्षण के लिए उसका मूल-रूप नहीं, जैसा कि बाख-बीथोवेन में है। पश्चिम में संगीत और लिपि का संबंध भाषा और लिपि जैसा ही है लेकिन भारतीय परम्परा में संगीत के विदग्धतम शास्त्रीय रूप में आलाप ही प्रधान है। इस तरह कहा जा सकता है कि मुकुंद लाठ का संगीत-विमर्श संगीत के तत्त्व और विभिन्न संस्कृतियों में अभिव्यक्त उसके विविध रूप-कलापों, उनके अंतर्संबंधों तथा संगीतशास्त्र को अन्य विचारधर्मी शास्त्र परम्पराओं के साथ अन्तःपदीय संबंध में रखते हुए एक व्यापक अवधारणात्मक योजना के तहत विचार का विषय बनाता है।

प्रायः आलोचनात्मक स्वर में कहा जाता है कि भारत में विधि-निषेधमूलक और आचार-संहितापरक नैतिक चिंतन

का तो समृद्ध इतिहास रहा है, परन्तु यहाँ नैतिक-दार्शनिक चिंतन उस व्यवस्थित रूप में नहीं हुआ है जिस तरह ग्रीक दार्शनिकों और आधुनिक पाश्चात्य नैतिक चिंतकों में मिलता है। मुकुंद लाठ के धर्म-नीतिविषयक चिंतन की मौलिकता इस बात में निहित है कि उन्होंने आत्मचेतन हुई चेतना के जगद्भाव में ही व्यष्टि-समष्टि और स्वार्थ-परार्थ के बीच श्रेय-प्रेय, हेय-उपादेय, औचित्य-अनौचित्य और प्रवृत्ति-निवृत्ति के प्रश्नों पर सार्थक विचार किया है। मुकुंद लाठ ने यद्यपि अपनी औचित्य मीमांसा को विशुद्ध भारतीय भूमि पर खड़ा किया है, तथापि उन्होंने सांस्कृतिक तटस्थता बरतने का हर सम्भव प्रयास भी किया है और इसी कारण उनका औचित्य-विमर्श मानवोचित सार्वभौमिकता को लिए हुए है।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. मुकुंद लाठ (2007), *संगीत एवं चिंतन*, राका प्रकाशन, इलाहाबाद.
2. मुकुंद लाठ (2004), *धर्म-संस्कृत*, राका प्रकाशन, इलाहाबाद.
3. मुकुंद लाठ (2009), *कर्म चेतना के आयाम*, राका प्रकाशन इलाहाबाद.
4. यशदेव शल्य (1998), *साहित्य चिंतन और युग चिंतन*, राका प्रकाशन, इलाहाबाद.
5. मुकुंद लाठ (1998), 'संगीत एवं चिंतन : शल्यजी से दो बातें', *उन्मीलन*, वर्ष 12, अंक 1.

— अम्बिकादत्त शर्मा

मुसलिम राजनीतिक विचार

(Muslim Political Thought)

भारत में आधुनिक मुसलिम राजनीतिक चिंतन का विकास उपनिवेशवाद और उसके खिलाफ चले राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति अनुक्रिया के दौरान हुआ। उन्नीसवीं सदी के आखिरी पच्चीस और बीसवीं सदी के पहले पचास सालों के बीच इस विचार की शक्ल-सूरत को मुख्यतः दो प्रमुख धाराओं के बीच बाँट कर समझा जा सकता है : ब्रिटिश-विरोधी और ब्रिटिश-समर्थक। साम्प्रदायिक, सेकुलर, कट्टरपंथी, सुधारवादी या धार्मिक पहलू दोनों धाराओं में मिलते हैं। लेकिन सामाजिक धरातल पर दोनों ही धाराओं का समर्थन आधार अलग-अलग था। ब्रिटिश विरोधी धारा निचले तबके के मुसलमानों की राजनीतिक गोलबंदी के आधार पर पनपी, और समर्थक धारा ने कुलीन मुसलमानों के हितों को तरजीह दी। तीसरी और अभी तक विकासमान धारा विभाजन और आज्ञादी के बाद की परिस्थितियों में सामने आयी। इसके भीतर मुसलमान समाज की वह भीतरी जद्दोजहद देखी जा सकती है जिसके मुताबिक वह लोकतांत्रिक चुनावी राजनीति की पेचादगियों में खुद को परिभाषित करने की कोशिश कर रहा है।

उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश विरोधी धारा के शीर्ष पर वहाबी और फ़राइज़ी आंदोलन नज़र आते हैं। वहाबियों की प्रवृत्तियाँ खासी रैडिकल क्रिस्म की थीं। उन्हें मुसलमानों के बीच काम करने वाले कम्युनिस्ट सरीखे आंदोलनकारियों की संज्ञा भी दी जाती है। वे मुसलमानों को अंग्रेज़ों की उत्पीड़नकारी हुकूमत से ही नहीं बल्कि खुद मुसलमान उत्पीड़कों और निहित स्वार्थों के शोषण से भी निजात दिलाने के इच्छुक थे। 1857 में जनरल बख्त ख़ाँ के नेतृत्व में नयी दिल्ली में स्थापित हुई विद्रोही सिपाहियों की सरकार इस वहाबी रुझान का स्पष्ट प्रमाण थी। इस सरकार द्वारा जारी किये गये आदेशों का अध्ययन करने से ज़ाहिर हो जाता है कि उसका मकसद केवल अंग्रेज़ी शासन का उन्मूलन करना ही नहीं बल्कि आम लोगों को एक अधिक न्यायपूर्ण शासन देना भी था। वहाबी अंग्रेज़ विरोधी हिंदू-मुसलमान एकता के ज़बरदस्त हिमायती थे। फ़राजियों का दृष्टिकोण भी इसी से मिलता-जुलता था। उन्होंने बंगाल को दार-उल-हर्ब घोषित कर दिया था। इसका सीधा मतलब था कि वे खुद को अंग्रेज़ हुक्मरानों के खिलाफ़ शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध में देख रहे थे। उन्होंने जनता का आह्वान किया कि वह फ़िरंगियों के खिलाफ़ जिहाद करे। वहाबियों और फ़राजियों का वायदा था कि वे ज़मींदारों की ज़मीन छीन लेंगे, क्योंकि खुदा की ज़मीन

पर किसी को लगान वसूलने का हक नहीं है। इन दोनों आंदोलनों का समर्थन आधार गरीब और खेतिहर तबका था। किसानों के अलावा दर्जियों, कसाइयों, जुलाहों, चमड़ा बेचने वालों, छोटे-मझोले दूकानदारों ने इन दोनों राजनीतिक प्रवृत्तियों का दिल खोल कर साथ दिया।

1860 के दशक में मुहम्मद क़सिम ननौतवी ने देवबंद मदरसे की स्थापना की। उन्होंने आधुनिक विज्ञान का विरोध नहीं किया, लेकिन इस्लाम के मुताबिक दी जाने वाली पारम्परिक शिक्षा पर जोर दिया। साथ ही उन्होंने ब्रिटिश शासन को स्वीकार करने को गुलामी स्वीकार करने के बराबर करार देते हुए विदेशी हुकूमत को इस्लाम विरोधी बताया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद इस प्रवृत्ति के उलेमाओं ने लगातार उसका समर्थन किया। इन उलेमाओं और कांग्रेस की एकता ख़िलाफ़त आंदोलन में व्यक्त हुई। इन ब्रिटिश विरोधी उलेमाओं की स्पष्ट मान्यता थी कि धार्मिक विश्वास के परे जा कर लोगों के बीच एकता होनी चाहिए। लोगों के राजनीतिक और धार्मिक अधिकारों की हिफ़ाज़त की जानी चाहिए। ये उलेमा स्वतंत्रता आंदोलन में जनता की सक्रिय भागीदारी और सामाजिक सुधारों की वकालत करते थे। दरअसल, ब्रिटिश विरोधी राजनीतिक विचार का यह रुझान सामासिक राष्ट्रवाद का पैरोकार था। उन्होंने धर्म के आईने में राष्ट्र को परिभाषित करने से परहेज़ करते हुए राष्ट्र की भू-क्षेत्रीय अवधारणा पर ज़्यादा बल दिया। 1917 की रूसी क्रांति के बाद कई उलेमा उसके आदर्शों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इस्लाम और साम्यवादी विचारों के बीच समानता देखनी शुरू कर दी। मौलाना हसरत मोहानी जैसी शिख्यत इसी माहौल की देन थी।

ब्रिटिश समर्थक राजनीतिक विचार की अभिव्यक्ति सर सैयद अहमद ख़ाँ द्वारा चलाये गये अलीगढ़ आंदोलन में दिखाई दी। यह प्रवृत्ति अंग्रेज़ों के शासन को प्रगतिशील, लोकतांत्रिक और मुक्तिकारी मानती थी। यह आंदोलन धार्मिक मामलों और मुसलमानों के सामाजिक रीति-रिवाज़ों में सुधार का पक्षधर था। सैयद अहमद ख़ाँ की शिक्षा यह थी कि शासक भले ही उत्पीड़नकारी हो, लोगों को उसके ख़िलाफ़ बगावत के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि इस्लाम के मुताबिक़ हुक्मरान को ख़ुदा के सामने जवाब देना ही पड़ेगा। वे कांग्रेस को न केवल मुसलमानों के बल्कि हिंदुओं के लिए भी नुक़सानदेह मानते थे। सैयद अहमद ख़ाँ के एक समर्थक का तो यहाँ तक कहना था कि इस्लाम और अंग्रेज़ी क़ानून के बीच कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं है, क्योंकि दोनों का ही मक़सद सुरक्षा मुहैया कराना है। सर सैयद के नेतृत्व में जो तहरीक़ खड़ी हुई, वह निचले तबके के मुसलमानों के प्रति तिरस्कार से भरी हुई थी। उसकी दिलचस्पी इस्लाम द्वारा प्रतिपादित समानता के विचार में कम और कुलीन मुसलमानों

के हितों को साधने में ज़्यादा थी।

दिलचस्प बात यह है कि साम्राज्यवाद विरोधी और समर्थक धाराओं के बीच परस्पर विरोध के बावजूद एक ऐसी समानता भी थी जिसने आगे चल कर दोनों के समर्थन आधार को द्वि-राष्ट्र सिद्धांत के तहत मुसलिम लीग के नेतृत्व में एक कर दिया। वहाबियों और फ़राजियों ने अपने तमाम रैडिकलिज़म के बावजूद एक विचारधारा के रूप में इस्लाम के महत्त्व को हमेशा रेखांकित किया था। ये दोनों आंदोलन मुसलमान समाज के भीतर मौजूद ऐसी किसी भी आस्था के इस्लामीकरण के पक्ष में थे जो परम्परा के प्रति पूरी तरह से वफ़ादार न हो। दूसरी तरफ़ साम्राज्यवाद समर्थक धारा धर्म और उदारतावादी राजनीति के बीच अन्योन्यक्रिया को तरजीह देती थी। कुल मिला कर इन दोनों प्रवृत्तियों की भाषा और उनका मुहावरा इस्लामीकृत था।

मुसलमान राजनीति पर इस्लामीकरण के प्रभाव से मुख्यतः तीन प्रवृत्तियाँ निकलीं। अब्दुल कलाम आज़ाद (कांग्रेस), अब्दुल अला मौदूदी (जमात-ए-इस्लामी), मुहम्मद अली जिन्ना और मुहम्मद इक़बाल (मुसलिम लीग) जैसे नेताओं और चिंतकों का उभार हुआ जो राजनीतिक आधुनिकता और इस्लामीकरण के सहअस्तित्व की नुमाइंदगी कर रहे थे। आज़ाद अपने बौद्धिक प्रशिक्षण में परम्परानिष्ठ पर राजनीति में सेकुलर और लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों के वाहक थे। उन्होंने साम्राज्यवाद समर्थक अलीगढ़ की तहरीक़ को ख़ारिज करके मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ने का कार्यक्रम पेश किया। उनके ऊपर जमालुद्दीन अफ़ग़ानी और शिबली नोमानी जैसे चिंतकों का असर था। उनकी इस्लाम की समझ भू-क्षेत्रीय राष्ट्रवाद, अख़िल-इस्लामवाद और साम्राज्यवाद विरोध के साथ आसानी से समरस हो जाती थी। अपने इन्हीं विचारों के कारण वे कांग्रेस के प्रमुख नेता बने। लेकिन मौदूदी की मान्यताएँ अबू मुसलेह के विचारों से प्रभावित थीं। वे राष्ट्रवाद और लोकतंत्र के विरोधी थे। राष्ट्रवाद के इसलिए कि वह मुसलमानों को जातीयता और भूगोल के आधार पर बाँटने का प्रस्ताव करता था, और लोकतंत्र का इसलिए कि वह ईश्वर की सम्प्रभुता के मुक़ाबले लोगों की सम्प्रभुता की स्थापना करता था। सार्विक मताधिकार को मौदूदी धार्मिक रूप से हाराम करार देते थे क्योंकि इससे अल्लाह की एकल सर्वोच्चता का उल्लंघन होता था। मौदूदी ने कम्युनिज़म और समाजवाद का भी विरोध किया। इन विचारों का राजनीतिक परिणाम राष्ट्रीय आंदोलन को ग़ैर-इस्लामिक या इस्लाम विरोधी करार देने में निकला। मौदूदी ने कांग्रेस को राजनीतिक रूप से भारतीय, वैचारिक रूप से कम्युनिस्ट और सांस्कृतिक रूप से पश्चिमी संगठन के तौर पर परिभाषित किया। इक़बाल भी शुरू में

आज़ाद की तरह अफ़ग़ानी के विचारों से प्रभावित थे। उन्हें यक़ीन था कि अखिल-इसलामिक एकता के दम पर पश्चिमी प्रभुत्व को पराजित किया जा सकता है। जिन्ना की ग़ैर-मौजूदगी में उन्होंने लीग का नेतृत्व सँभाला।

इसलामीकरण ने एक और भूमिका निभायी। उसने मुसलमान अभिजन और निचले तबक़े के मुसलमानों के बीच एक सूत्र कायम किया। इस प्रक्रिया में भाषाई और क्षेत्रीय विभिन्नताएँ एक हद तक भुला दी गयीं। मुसलमान समुदाय में ख़ुद को एकात्म समुदाय के रूप में देखने की प्रवृत्ति पैदा हुई और उसे सचेत रूप से इसी तरह व्याख्यायित भी किया गया। दूसरी तरफ़ समुदाय का नेतृत्व उच्च और मध्यमवर्गीय मुसलमानों के हाथ में चला गया। इस तरह द्वि-राष्ट्र सिद्धांत के लिए मुसलमान समुदाय के बीच ज़मीन बनने लगी।

इस परिस्थिति में कांग्रेस की तत्कालीन राजनीति और अन्यान्य कारणों के अलावा मुसलमान पूँजीपति वर्ग के उभार ने भी उल्लेखनीय भूमिका निभायी। चालीस के दशक में मुसलिम लीग को केवल मुसलमान ज़मींदारों का ही समर्थन नहीं मिल रहा था, बल्कि इस्पहानी और आदमजी जैसे मुसलमान पूँजीपति भी उसके साथ थे। कलकत्ता के इस्पहानी घराने की मदद से ही जिन्ना बंगाल की मुसलमान राजनीति में फ़जलुल हक़ जैसे जमे हुए नेता को परास्त कर पाये। लीग के दोनों अख़बार *स्टार ऑफ़ इण्डिया* और *डॉन* भी इन्हीं की आर्थिक मदद का नतीजा थे। इसी प्रकार मुसलमान चैम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स ऐंड इण्डस्ट्रीज़ की शुरुआत हुई, और एक मुसलमान बैंक और एयरलाइंस की योजनाएँ भी बनायी गयीं।

भारत के विभाजन के बाद मुसलमान राजनीति में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ। शुरुआती राजनीतिक असुरक्षाओं और साम्प्रदायिक दंगों की हिंसा के दौर से गुज़रने के बाद आज स्थिति यह है कि मुसलमान समाज में एक तरह की 'नागरिक राजनीति' अपने पैर जमाती हुई दिख रही है। इसका आधार नौकरियों, आमदनी, शिक्षा वगैरह की माँगें हैं। इस राजनीति को सेकुलरीकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के साथ जोड़ कर परिभाषित किया जा सकता है। एक दूसरी धारा भी है जिसे सामुदायिक और धार्मिक आधार पर विशेष सुविधाओं की दावेदारियाँ और उसके आधार पर होने वाली राजनीति के रूप में देखा जा सकता है। ख़ास बात यह है कि ये दोनों ही धाराएँ लोकतांत्रिक राजनीति के दायरे में सक्रिय हैं। दोनों के ऊपर मुसलमान समाज के उच्च और मध्यम वर्गों के हितों का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। कमज़ोर वर्ग के मुसलमान या तो हाशिये पर खड़े नज़र आते हैं, या फिर पसमांदा मुसलिम महाज़ के ज़रिये अपनी राजनीति करने की कोशिश कर रहे हैं।

देखें : अल-किंदी, अल-गज़ाली, अबू-अला मौदूदी, इब्न ख़ालदून,

इब्न-रश्द, प्रारम्भिक इस्लाम, जिहाद, दलित-पसमांदा मुसलमान, प्रारम्भिक इस्लाम, फ़लसिफ़ा और कलाम, भारतीय इस्लाम, मसजिद, हज़रत मुहम्मद-1 और 2, मुहम्मद अली जिन्ना, मुहम्मद इक़बाल, सैयद अहमद ख़ाँ।

संदर्भ

1. मोइन शाकिर (1986), 'डायनामिक्स ऑफ़ मुसलमान पॉलिटिकल थॉट', थॉमस पेंथम और केनेथ एल. ड्यूश (सम्पा.), *पॉलिटिकल थॉट इन इण्डिया*, सेज, नयी दिल्ली.
2. मुशीरुल हसन (1979), *नैशनलिज़म ऐंड कम्युनल पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, मनोहर, नयी दिल्ली.
3. मोइन शाकिर (1973), *सेकुलराइज़ेशन ऑफ़ मुसलमान बिहेवियर*, मिनर्वा एसोसिएट्स, कलकत्ता.
4. जावीद आलम (2008), 'द कंटम्पेरी मुसलमान सिचुएशन इन इण्डिया : अ लॉग टर्म व्यू', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 43, अंक 2.

— अभय कुमार दुबे

मुहम्मद अली जिन्ना

(Muhammad Ali Jinnah)

मुहम्मद अली जिन्ना (1876-1948) का राजनीतिक प्रस्तुतीकरण काफ़ी दिलचस्प और विरोधाभासी है। पाकिस्तान में उन्हें दक्षिण एशिया की आधुनिक मुसलिम राजनीति का प्रवर्तक माना जाता है। वे पाकिस्तान के राष्ट्रपिता और क़ायद-ए-आज़म (महानतम नेता) हैं। इसके विपरीत भारतीय स्वतंत्रता की आधिकारिक कहानी में जिन्ना की स्थिति एक खलनायक की है। इसके तहत हमें बताया जाता है कि मुसलिम पृथकतावाद और जिन्ना की राजनीतिक हठधर्मिता की वजह से भारत का विभाजन हुआ। जिन्ना पर हुए शोध भी इसी तरह के राष्ट्रीय/सरकारी विरोधाभासों से प्रभावित हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि जिन्ना अत्यंत महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे इसलिए उन्होंने सेकुलर राजनीति छोड़ कर मुसलिम ध्रुवीकरण की राजनीति अपनायी जिसका नतीजा भारत-विभाजन में निकला। जबकि कुछ की राय में जिन्ना का क़ायद-ए-आज़म के रूप में उत्थान 1940 के राजनीतिक परिदृश्य से जुड़ा है। विभाजन केवल और केवल जिन्ना की वजह से नहीं हुआ, बल्कि इस प्रक्रिया में अन्य राजनीतिक खिलाड़ी भी शामिल थे।

जिन्ना/पाकिस्तान/विभाजन का यह विमर्श काफ़ी असंतुलित है। जहाँ एक ओर जिन्ना का व्यक्तित्व और



मुहम्मद अली जिन्ना (1876-1948)

राजनीति इस विमर्श का केंद्र है, वहीं दूसरी ओर जिन्ना के राजनीतिक विचारों और आधुनिकता की उनकी समझ पर कोई व्यवस्थित शोध नहीं मिलता। दिलचस्प बात यह है कि पाकिस्तान में भी जिन्ना के विचारों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। उन्हें क्रायद-ए-आज़म की उपाधि तो दे दी गयी, पर उनके वैचारिक विमर्श का अकादमिक मूल्यांकन नहीं किया गया। इसीलिए जिन्ना का समर्थन या विरोध करने से पहले यह बेहद ज़रूरी है कि उनकी राजनीति और विचारों की गतिशीलता को समझा जाए। इस तरह के विश्लेषण के लिए जिन्ना की उदारतावाद संबंधी समझ और उनकी मुसलिम राजनीति को संदर्भ बिंदु माना जा सकता है।

पाकिस्तान की आधिकारिक वेबसाइट के अनुसार जिन्ना का जन्म सिंध प्रांत के कराची ज़िले के वज़ीर मेसन में 25 दिसम्बर, 1876 को हुआ था। जिन्ना के माता-पिता (मिठीबाई और जिन्नाभाई पुंजा) गुजराती मूल के मुसलमान थे। ऐसा भी कहा जाता है कि इस परिवार के पूर्वज हिंदू थे जिन्होंने कुछ पीढ़ी पूर्व ही इसलाम क़बूल किया था। जिन्ना के पिता एक सम्पन्न व्यापारी थे जो काठियावाड़ छोड़कर सिंध में बस गये थे। यह भी कहा जाता है कि सिंध में बसने के बाद ही जिन्ना और उनके भाई-बहनों का मुसलिम नामकरण हुआ। उनका मूल नाम मुहम्मदाली जिन्नाभाई था। इंग्लैण्ड में उन्होंने अपना आधिकारिक नाम एम.ए. जिन्ना रखा। जिन्ना ने कराची के मदरसा-उल-इसलाम, गोकुलदास

तेज प्राथमिक विद्यालय (मुम्बई) और क्रिश्चियन मिशनरी स्कूल, कराची से अपनी स्कूली शिक्षा पूरी करके मुम्बई विश्वविद्यालय से मैट्रिक पास किया। इसके बाद वे उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड चले गये। इस बीच उनका पहला विवाह एक गुजराती मुसलिम लड़की से हुआ। लेकिन यह विवाह ज़्यादा नहीं चला। उनके इंग्लैण्ड प्रवास के दौरान ही उनकी पत्नी की मृत्यु हो गयी। जिन्ना ने उन्नीस साल की उम्र में वकालत पास की। इंग्लैण्ड में रहते हुए ही वे राजनीतिक गतिविधियों में रुचि लेने लगे और दादाभाई नौरोजी और फिरोजशाह मेहता जैसे उदारतावादी नेताओं के प्रशंसक बन गये। ब्रिटिश संसद में दादाभाई नौरोजी के प्रवेश के लिए उन्होंने छात्रों के साथ प्रचार भी किया।

इंग्लैण्ड से वापस आकर जिन्ना ने मुम्बई में अपनी वकालत शुरू की। थोड़े ही समय में जिन्ना को एक स्थापित वकील के रूप में जाना जाने लगा। अपने आरम्भिक वर्षों में उन्होंने कई मशहूर व्यक्तियों के मुकदमे लड़े जिनमें बाल गंगाधर तिलक भी शामिल थे। जिन्ना के जीवन का यह समय उनकी आधुनिकता को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत है। वे सम्भ्रांत घरों के अन्य भारतीयों की तरह इंग्लैण्ड से वकालत पास करने के बाद एक सफल वकील बन चुके थे। वे नरमपंथी राजनीति के करीब आ चुके थे जिसका मुख्य विमर्श संविधानवाद के इर्द-गिर्द घूमता था। इस काल में जिन्ना की मुसलिम पहचान उनके सफल व्यावसायिक कैरियर और राजनीतिक रुझानों के बीच धूमिल होती सी लगती है। वे पश्चिमी राजनीति और संवैधानिक मूल्यों के जानकार के रूप में उभरते हैं।

जिन्ना ने अपने राजनीतिक जीवन की औपचारिक शुरुआत 1896 में की। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हो गये। कांग्रेस में जिन्ना नरमपंथियों के करीब थे और मूलतः संवैधानिक तरीकों से भारत में उत्तरदायी शासन लाना चाहते थे। यही वजह थी कि वे संस्थागत राजनीति में सक्रिय तौर पर हिस्सा लेने लगे। वकालत की ही तरह वे इस विधायी राजनीति में भी काफ़ी सफल रहे। 1906 में वे प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट बने, 1909 में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में मनोनीत हुए और 1910 में मुम्बई लेजिस्लेटिव कमेटी के सदस्य चुने गये। यँ तो जिन्ना 1913 में मुसलिम लीग में शामिल हो गये थे, लेकिन उनका रुझान कांग्रेस की राजनीति में ज़्यादा था। यही कारण था कि मुसलिम लीग में होने के बावजूद वे गोखले के साथ इंग्लैण्ड गये और लंदन इण्डियन एसोसिएशन के गठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उनकी यह सेकुलर राजनीति भारत आ कर भी जारी रही। वे कांग्रेस-लीग और विशेषकर हिंदू-मुसलिम एकता के प्रचारक बन गये। 1916 का कांग्रेस-लीग समझौता जिन्ना की इस राजनीतिक सक्रियता का सशक्त उदाहरण है।

जिन्ना के राजनीतिक जीवन के इस काल में उनके राजनीतिक विचारों को एक नयी गति मिलती सी दिखती है। वे मुसलिम राजनीति के सम्पर्क में आते ज़रूर हैं, लेकिन मुसलिम लीग की राजनीतिक सीमाओं को खारिज करते हैं। इस समय तक उनका व्यापक उद्देश्य भारत के लिए उत्तरदायी शासन हासिल करना है। उल्लेखनीय बात यह है कि जिन्ना के राजनीतिक विरोध का तरीका संवैधानिक रहता है और वे उस समय के स्थापित उदारवादियों की तरह जनांदोलन से बचते हैं।

अपने राजनीतिक जीवन के इसी पड़ाव पर जिन्ना का दूसरा विवाह हुआ। 1918 में उन्होंने एक पारसी लड़की रत्तीबाई से शादी की। इस अंतर्धार्मिक विवाह का पारसी और कट्टरपंथी मुसलिम समाज में व्यापक विरोध हुआ। (पाकिस्तानी इतिहासकारों के अनुसार उनकी पत्नी ने इसलाम क़बूल कर लिया था!) जिन्ना का यह विवाह एक बार फिर यह बात साबित करता है कि उनकी आधुनिकता मूलतः उदारतावाद के स्थापित मूल्यों पर टिकी थी। इस आधुनिकता में धर्म या तो व्यक्ति का निजी मामला हो सकता था या फिर महज़ एक संस्कृति। यही कारण था कि जिन्ना ने इसलाम के सुधारवादी आंदोलनों से हमेशा दूरी बना कर रखी।

जिन्ना के राजनीतिक जीवन का तीसरा दौर 1920 से शुरू हुआ, जब उन्होंने कांग्रेस से इस्तीफ़ा दे दिया। कांग्रेस छोड़ने के पीछे केवल गाँधी से व्यक्तिगत मतभेद नहीं थे। दरअसल जिन्ना और गाँधी दो अलग-अलग विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। गाँधी के लिए स्वराज का अर्थ केवल उत्तरदायी शासन नहीं था। उनके लिए स्वराज एक व्यापक और आमूल परिवर्तन का नाम था। इस परिवर्तन के लिए ज़रूरी था कि न केवल ब्रिटिश राजनीति का विरोध हो बल्कि आधुनिक सभ्यता के स्थापित मानकों को भी परास्त किया जाए। यही कारण था कि गाँधी आम लोगों, विशेषकर ग्रामीण भारत, के राजनीतीकरण पर बल दे रहे थे ताकि आज़ादी की लड़ाई जनांदोलन का रूप ले ले। जिन्ना, इसके विपरीत, ब्रिटिश संवैधानिक राजनीति की उपज थे। वे किसी भी तरह के जनांदोलन के समर्थक नहीं थे। उनका मत था कि राजनीतिक जनांदोलन को नियंत्रित करना बहुत मुश्किल होता है और उसका नतीजा उल्टा भी निकल सकता है। जिन्ना के विरोध का दूसरा आधार धर्म और राजनीति के अंतर्संबंध थे। जिन्ना के लिए धर्म का अर्थ संस्कृति या पंथ था। इसे आधुनिक राजनीति में सामूहिक अधिकारों की माँग के लिए तो जायज़ ठहराया जा सकता था, परंतु धार्मिकता के जरिये राजनीति करना नहीं। यही कारण था कि जिन्ना ने ख़िलाफ़त आंदोलन में भी सक्रिय हिस्सा नहीं लिया। ख़लीफ़ा जैसी किसी भी राजनीतिक संस्था का जिन्ना के राजनीतिक प्रोजेक्ट

में कोई स्थान नहीं था।

1923-30 तक का काल जिन्ना के लिए राजनीतिक उथल-पुथल का समय रहा। हालाँकि वे 1923 में मुम्बई से सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली के सदस्य चुने गये, परंतु अब उन्हें किसी सशक्त केंद्रीय राजनीतिक मुद्दे की तलाश थी जो उनकी विचारधारा और राजनीति दोनों के लिए उपयुक्त हो। यह तलाश मुसलिम प्रतिनिधित्व के सवाल पर आ कर टिकी और यहीं से मुसलिम लीग उनकी राजनीति का केंद्र बनने लगी। सबसे महत्त्वपूर्ण घटना 1929 में घटी जब जिन्ना ने मोतीलाल नेहरू रिपोर्ट के जवाब में अपने 14 सूत्र प्रतिपादित किये। ये सूत्र जिन्ना की राजनीतिक आधुनिकता और उनकी 1940 के दशक की राजनीति का आधार कहे जा सकते हैं। इन 14 सूत्रों में जिन्ना ने दो राजनीतिक सिद्धांत स्थापित किये। पहला, भारत के भावी संविधान का ढाँचा पूरी तरह से संघीय होना चाहिए जिसमें प्रांतों को केंद्र से ज़्यादा शक्तियाँ हासिल हों; दूसरे, मुसलमानों को एक राजनीतिक सम्प्रदाय माना जाए, संविधान में उन्हें अलग प्रतिनिधित्व मिले तथा उनकी संस्कृति और हितों की रक्षा के लिए विशेष प्रावधान हो। 1930-34 में हुई गोलमेज़ कांफ्रेंस के नाकाम होने के बाद जिन्ना इंग्लैण्ड में ही रुक गये। उनकी दूसरी पत्नी, जिनसे उनका तलाक़ तो पहले ही हो चुका था, का तब तक देहांत हो चुका था और उनकी पुत्री दीना उनकी बहन फ़ातिमा जिन्ना के साथ इंग्लैण्ड में ही थीं। जिन्ना स्वयं राजनीतिक संन्यास की कगार पर थे। लेकिन भारत के मुसलिम लीग नेताओं और विशेषकर इक़बाल के आमंत्रण पर जिन्ना 1934 में भारत लौट आये।

1935 के बाद जिन्ना की राजनीतिक कार्य-शैली में एक बड़ा परिवर्तन आया। उन्होंने मुसलिम राजनीतिक प्रतिनिधित्व की जन-राजनीति शुरू की और इस तरह मुसलिम लीग का पुनर्गठन प्रारम्भ हुआ। लीग, जो अब तक शहरों तक सीमित थी, कस्बों और गाँव में भी पहुँचने लगी। इसका परिणाम साफ़ था। जिन्ना के नेतृत्व में लीग ने 1937 में हुए सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली का चुनाव लड़ा और मुसलिम आरक्षित क्षेत्रों की ज़्यादातर सीटों पर सफल रही। हालाँकि मुसलिम बहुल पंजाब, सिंध और पश्चिमोत्तर सीमांत प्रांत में लीग को हार का सामना करना पड़ा।

1940 तक आते-आते जिन्ना की मुसलिम प्रतिनिधित्व की राजनीति अब दो-राष्ट्र सिद्धांत में बदल चुकी थी। 1940 के लाहौर अधिवेशन में जिन्ना ने कहा कि हिंदू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं और उनका एक साथ रहना मुमकिन नहीं है। इसी सिद्धांत के आधार पर उन्होंने कांग्रेस को हिंदू पार्टी और मुसलिम लीग को मुसलमानों की प्रतिनिधि पार्टी कहना शुरू किया। हालाँकि यह कोई नयी बात नहीं थी। सैयद अहमद

खाँ से लेकर इक़बाल तक कांग्रेस को हिंदू जमात कहते आ रहे थे। लेकिन जिन्ना ने हिंदू-मुसलिम विरोधाभास को राष्ट्रीयता के रूप में परिभाषित करके आत्मनिर्णय के उदारतावादी सिद्धांत से जोड़ दिया। लीग जो अब तक प्रांतीय स्वायत्तता की माँग कर रही थी अब आज़ाद मुल्क की बात करने लगी। पाकिस्तान का विचार जो अब तक इक़बाल और रहमत अली जैसे मुसलिम नेताओं के भाषणों और दस्तावेज़ों तक सीमित था, अब मुसलिम लीग का नारा बन गया।

जिन्ना की 1942-48 तक की कहानी भारत विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण से जुड़ी है। लेकिन सवाल यह है कि क्या जिन्ना ने अपने उदारतावाद को दरकिनार करके अपने जीवन के अंतिम वर्षों में मुसलिम साम्प्रदायिकता की राजनीति शुरू कर दी थी? इस सवाल का अर्थ हमें जिन्ना की विचारधारा की गतिशीलता में खोजना चाहिए, क्योंकि भारत और पाकिस्तान का सरकारी इतिहास हमें महज़ राजनीतिक तौर पर सही जवाब ही दे सकता है।

जिन्ना का उदारतावाद बदलता रहा। अपनी राजनीति के शुरुआती दौर में जिन्ना सांविधिक उदारतावादी थे जिसके लिए धर्म मूलतः एक निजी मामला था। मुसलिम राजनीति ने जिन्ना के उदारतावाद को एक नयी दिशा दी। उन्होंने मुसलमानों को अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में देखना शुरू किया और मुसलिम प्रतिनिधित्व उनकी राजनीति का आधार बन गया। जिन्ना का दो-राष्ट्र सिद्धांत उनके उदारतावाद का अंतिम चरण है। दिलचस्प बात यह है कि मुसलमानों को एक राष्ट्र के रूप परिभाषित करने के लिए जिन्ना ने पुनः पश्चिमी राष्ट्र-राज्य की अवधारणा का सहारा लिया। उदारतावाद के प्रति इसी आस्था के कारण शायद जिन्ना ने पाकिस्तान की संविधान सभा में कहा था कि पाकिस्तानी राज्य एक सेकुलर राज्य होगा जहाँ राज्य नागरिकों के धार्मिक मामलों में दखल नहीं देगा।

1947 की विभाजन त्रासदी, 1971 में पूर्वी पाकिस्तान का बांग्लादेश बनना और पाकिस्तान में लोकत्रांतिक संस्थाओं के पतन ने जिन्ना के उदारतावाद को प्रश्नांकित कर दिया है। उदारतावाद की जिस क्रिस्म की पैरोकारी जिन्ना करते थे, उसका हश्र राजनीतिक सिद्धांत के नज़रिये से एक नये अनुसंधान की माँग करता है।

देखें : अबू-अला मौदूदी, अबुल कलाम आज़ाद, आरक्षण और धर्म, जवाहरलाल नेहरू, बांग्ला देश के लिए मुक्ति संग्राम, भारतीय इस्लाम, उपनिवेशवाद, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में स्त्री-नेतृत्व-1, पसमंदा मुसलमान, प्रारंभिक इस्लाम, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1, 2 और 3, मुसलिम राजनीतिक विचार, मुहम्मद इक़बाल, मुहम्मद : एक जीवनी-1 और 2, सैयद अहमद खाँ।

संदर्भ

1. अकबर अहमद (1997), जिन्ना, पाकिस्तान, एंड मुसलिम आइडेंटिटी : द सर्च फ़ॉर सलादीन, रॉटलेज, लंदन.
2. आयशा जलाल (1985), द सोल स्पेक्समैन : जिन्ना, द मुसलिम लीग एंड द डिमांड फ़ॉर पाकिस्तान, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. स्टेनली वोलपर्ट (2007), जिन्ना : मुहम्मद अली से क़ायद-ए-आज़म तक, अनु. अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— हिलाल अहमद

मुहम्मद इक़बाल

(Muhammad Iqbal)

उर्दू के महाकवि मुहम्मद इक़बाल (1877-1938) का निरूपण आम तौर पर दो तरह से होता है। उन्हें 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा' गीत के रचयिता के रूप में जाना जाता है। यह गीत अनौपचारिक रूप से भारत का राष्ट्रीय गीत है जिसे राष्ट्रीय पर्वों के अवसर पर राष्ट्र-गान के बाद गाये जाने की परम्परा विकसित हुई है। इक़बाल का उर्दू-फ़ारसी साहित्य भारतीय विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है और उनकी उर्दू शायरी का नागरी लिप्यंतरण बेहद लोकप्रिय है। इस छवि के अनुसार कुल मिला कर इक़बाल को भारत में उर्दू के सबसे महत्वपूर्ण प्रतिनिधि कवि और विचारक का दर्जा हासिल है। इसके बरक्स पाकिस्तान में इक़बाल को मुफ़्फ़किर-ए-पाकिस्तान (पाकिस्तान का विचारक) माना जाता है। पाकिस्तान सरकार की आधिकारिक वेबसाइट के अनुसार इक़बाल पाकिस्तान के विचार के जनक थे और उन्हीं के राजनीतिक चिंतन के परिणामस्वरूप पाकिस्तान वजूद में आ सका। उनके जन्म-दिन को इक़बाल डे कहा जाता है। पाकिस्तान का उर्दू सिनेमा और थिएटर भी इक़बाल को राष्ट्रीय और इस्लामी एकता के प्रतीक के रूप में पेश करते हैं। इक़बाल के ये प्रस्तुतीकरण विरोधाभासपूर्ण भी हैं और निहायत रोचक भी। एक ओर इक़बाल भारत की राष्ट्रीय एकता के आधिकारिक गायक हैं, तो दूसरी ओर पाकिस्तान में वे सिर्फ़ और सिर्फ़ मुसलिम राजनीतिक चेतना के प्रतीक माने जाते हैं। अगर जिन्ना से उनकी तुलना करें तो यह बात और साफ़ हो सकती है। जिन्ना पाकिस्तान में क़ायद-ए-आज़म हैं पर भारत की आज़ादी की कहानी में मुख्य विलेन हैं। परंतु इक़बाल दोनों देशों की सरकारी कहानियों में हीरो की हैसियत रखते हैं। यही वजह है कि हिंदुस्तान और

पाकिस्तान के राजनीतिक हलकों, शैक्षणिक संस्थानों और मजहबी इदारों में इक़बाल अलग-अलग छवियों के साथ नुमायाँ हो कर दक्षिण एशिया के सार्वजनिक विमर्श का अभिन्न अंग बन जाते हैं। इक़बाल की राजनीति, दर्शन और शायरी पर उर्दू, हिंदी, अंग्रेज़ी, फ़ारसी में असंख्य पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं, पर दक्षिण एशिया में उनके बहुआयामी प्रस्तुतीकरण पर कोई खास शोध नहीं हुआ है। इसलिए समाजशास्त्र के नज़रिये से इक़बाल की तीन प्रासंगिक छवियों पर बात करना ज़रूरी है: इक़बाल एक इस्लामिक विद्वान के रूप में; इक़बाल एक दार्शनिक कवि के रूप में और इक़बाल एक मुसलिम राजनीतिक प्रतिनिधि के रूप में।

मुहम्मद इक़बाल का जन्म नौ नवम्बर, 1877 को सियालकोट, पंजाब में हुआ था। उनके पूर्वज कश्मीरी पण्डित थे जो बाद में मुसलमान हो गये। इक़बाल की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा लाहौर में ही हुई। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से बीए करने के बाद उन्होंने म्युनिख से दर्शनशास्त्र में पीएचडी की उपाधि हासिल की। लाहौर कॉलेज में कुछ दिन तक दर्शनशास्त्र पढ़ाने के बाद उन्होंने कुछ समय तक वकालत भी की। बाद के वर्षों में लेखन ही उनकी मुख्य प्रयोजन रहा।

इक़बाल की इस्लाम की समझ उनके दर्शन का एक बेहद अहम पक्ष है। उनकी शायरी में शाश्वत कहे जाने वाले इस्लामी सिद्धांतों और बीसवीं सदी के मुसलमानों की दशा के बीच का विरोधाभास उजागर होता है। अपनी मशहूर लम्बी कविता 'शिकवा' में वे खुदा से पूछते हैं कि इस्लाम के उसूलों पर चलने के बावजूद मुसलमानों का पतन क्यों हुआ। वे इस्लामी इतिहास के स्वर्णिम युग को याद दिलाते हुए खुदा से शिकायत करते हैं कि आखिर वह क्यों मुसलमानों को इस बेहाल ज़िंदगी से निजात नहीं दिलवाता। इक़बाल लिखते हैं :

है बजा शेवा-ए-तसलीम में, मशहूर हैं हम
क्रिस्सा-ए-दर्द सुनाते हैं कि मजबूर हैं हम
साज़-ए-खामोश हैं, फ़रियाद से मामूर हैं हम
नाला आता है अगर लब पे, तो माज़ूर हैं हम
ऐ खुदा, शिकवा-ए-अरबाब-ए-वफ़ा भी सुन ले
खूगर-ए-हम्द से थोड़ा सा गिला भी सुन ले ।

इस कविता का जवाब उन्होंने चार साल बाद लिखा जिसका शीर्षक था : 'जवाब-ए-शिकवा'। यह जवाब खुदा की जानिब से मुसलमानों के लिए है। इस कविता में खुदा मुसलमानों के बीच मौजूद जाति, नस्ल और वर्ग के विभाजनों की ओर इशारा करते हुए याद दिलाता है कि मुसलमानों की बुरी हालत के लिए वे खुद ज़िम्मेदार हैं, क्योंकि उन्होंने इस्लाम के बुनियादी पैग़ाम को नज़रअंदाज़ कर दिया है। इक़बाल कहते हैं :

यूँ तो सैयद भी हो, मिर्जा भी हो, अफ़ग़ान भी हो,

तुम सभी कुछ हो, बताओ तो मुसलमान भी हो ?
... की मुहम्मद से वफ़ा तूने तो हम तेरे हैं
ये जहाँ चीज है क्या, लौह-ओ-क़लम तेरे हैं ।

इन रचनाओं में इक़बाल इस्लामी सिद्धांत की सर्वमान्यता को नये सिरे से परिभाषित करते हैं। उनके लिए इस्लाम का अर्थ एक अल्लाह में आस्था और पैग़म्बर मुहम्मद को मान्य ठहराना भर नहीं है, बल्कि इस्लामी आस्था का वास्तविक अर्थ है इस्लाम के पैग़ाम के अनुसार अपनी ज़िंदगी को ढालना और उस पर अमल करना। इक़बाल इस तथ्य को उजागर करते हैं कि इस्लाम के पैग़ाम की वास्तविकता तक पहुँचने के लिए पैग़म्बर द्वारा बताये गये शुद्ध इस्लाम की समझ ज़रूरी है। इसीलिए वे इस्लाम के नाम पर चलने वाली ग़ैर-इस्लामी परम्पराओं का विरोध करते हैं। उनके अनुसार इस्लाम के आधारभूत सिद्धांत तभी सर्वमान्य हो सकेंगे जब मुसलमान पैग़म्बर मुहम्मद के अनुयायियों की तरह के आदर्श मुसलमान बनेंगे। इस्लाम की यह पुनर्व्याख्या इक़बाल की अंग्रेज़ी पुस्तक *रिकंस्ट्रक्शन ऑफ़ रिलीजस थॉट इन इस्लाम* में देखी जा सकती है जो इस्लामी दर्शन पर दिये गये उनके विभिन्न व्याख्यानों पर आधारित है। इक़बाल की यही इस्लामपरस्ती उन्हें एक विशुद्ध इस्लामी छवि प्रदान करती है। यही वजह है कि वे दक्षिण एशिया के इस्लामी इदारों में एक चिंतक के रूप में बेहद मक़बूल हैं। भारतीय मुसलिम विद्वान अली मियाँ नदवी का इक़बाल पर लेखन इस विषय में उल्लेखनीय है।

इक़बाल की कविता की लोकप्रियता का कारण उनके काव्य की दार्शनिकता है। किसी भी आम कवि की तरह इक़बाल सिर्फ़ शब्दों से नहीं खेलते; बल्कि कविता के ज़रिये राजनीतिक तर्क देते हैं। यही कारण है उनकी कविताओं में व्यक्तियों, घटनाओं, स्मारकों और यहाँ तक कि विचारधाराओं पर भी तीखी टिप्पणी मिल जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो इक़बाल के लिए कविता सामाजिक विमर्श की आंतरिक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। उदाहरण के लिए वे राम को इमाम-ए-हिंद बताते हुए लिखते हैं :

है राम के वजूद पे हिंदोस्तों को नाज़,
अहले-नज़र समझते हैं उसको इमामे-हिंद।

इसी तरह अपनी मशहूर नज़्म 'नया शिवाला' में वे कहते हैं :

सूनी पड़ी हुई है मुद्दत से दिल की बस्ती
आ इक़ नया शिवाला इस देस में बना दें
दुनिया के तीरथों से ऊँचा हो अपना तीरथ
दामान-ए-आस्माँ से इस का कलस मिला दें।

इक़बाल के काव्य की इस व्यापकता ने उन्हें बेपनाह लोकप्रियता दी है। उनकी प्रमुख रचनाएँ *असरार-ए-खुदी*, *रुमुज़-ए-बेखुदी*, और *बंग-ए-दारा* साहित्यिक हलकों में मील

का पत्थर मानी जाती हैं। उनकी शायरी की लोकप्रियता के कारण उनकी एक लचीली छवि का निर्माण हुआ है। उनके साहित्य में इसलामपरस्त मौलवियों से लेकर सेकुलर राष्ट्रवादियों तक के लिए मसाला मौजूद है। यहाँ तक कि मार्क्सवादी भी उनकी नज़्मों को क्रांति के तरानों की तरह ग्रहण करते रहे हैं। उनकी मशहूर कविता 'लेनिन खुदा के हुज़ूर में' इसका एक सशक्त उदाहरण है। कुल मिला कर इक़बाल का साहित्य अब तक एक विमर्श में बदल चुका है। उनके लेखन में होने वाले उतार-चढ़ाव और विरोधाभासों को भुला कर सबने अपनी-अपनी पसंद के इक़बाल को चुन लिया है। यही वजह है कि इक़बाल सबके प्रिय भी हैं और राजनीतिक तौर पर सर्वमान्य भी।

इक़बाल की तीसरी छवि मुसलिम राजनीतिज्ञ की है। मुसलिम पृथकतावाद के विश्लेषण के लिए अक्सर जिन्ना के दो-राष्ट्र सिद्धांत और इक़बाल के राजनीतिक विचारों के बीच तारतम्यता स्थापित की जाती है। इक़बाल द्वारा मुसलिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन (1930) में दिये गये अध्यक्षीय भाषण को उद्धृत करके यह साबित किया जाता है कि दरअसल इक़बाल ही ने पाकिस्तान के विचार का प्रतिपादन किया था। दिलचस्प बात यह है कि इक़बाल के इस मशहूर भाषण की चर्चा हमेशा टुकड़ों में होती है। भाषण का वह हिस्सा जिसमें इक़बाल ने मुसलिम बहुल प्रांतों (विशेषकर ब्रिटिश भारत के उत्तर-पश्चिम प्रांत) को राजनीतिक स्वायत्तता की बात की थी, बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाता है। इसके विपरीत भाषण का पहला हिस्सा जिसमें उन्होंने राष्ट्रवाद और इसलाम के बीच मौजूद सैद्धांतिक दुविधा की तरफ इशारा किया था, अमूमन नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है।

दरअसल, इक़बाल के इस भाषण को मौलाना हुसैन अहमद मदनी के साथ उनकी बहस के संदर्भ में देखना चाहिए। मदनी, जिनका संबंध देवबंद तहरीक से था, मुत्ताहिदा क्रौमियत (संयुक्त राष्ट्रीयता) का सिद्धांत मानने वाले थे। उनका मत था कि हिंदू-मुस्लिमान एक क्रौम हैं और इन्हीं कारणों से भारत में सेकुलर राज्य की स्थापना कि माँग क्रतई ग़ैर-इसलामी नहीं है। इसके बरक्स इक़बाल के लिए इसलामी मिल्लत क्षेत्रीय सीमाओं से बढ़ कर थी। उनके लिए सेकुलर राज्य का अर्थ युरोप की तर्ज का नास्तिक राज्य था जिसमें धर्म के लिए कोई स्थान नहीं था। 1930 का यह भाषण इक़बाल की इसी राजनीतिक समझ से निकली तीन व्यापक प्रस्थापनाएँ उजागर करता है। पहली, इसलाम राष्ट्रवाद से ज्यादा व्यापक विचारधारा है इसलिए मुसलमानों को इसलामी विचारधारा को अपनाना चाहिए न कि राष्ट्रवाद

को। दूसरे, ब्रिटिश भारत में साम्प्रदायिकता के अंत के लिए मुसलमानों के लिए पृथक राजनीतिक प्रतिनिधित्व होना ज़रूरी है। तीसरे, आज़ाद हिंदुस्तान के भावी संविधान में प्रांतों को ज्यादा आज़ादी होनी चाहिए न कि केंद्र को।

ये तीनों ही प्रस्थापनाएँ निस्संदेह मुसलिम लीग की 1930 के दशक की राजनीति का केंद्र रहीं, लेकिन 1940 की भारतीय राजनीति को इक़बाल के इस भाषण की रोशनी में देखना इक़बाल के तर्कों को ज़रूरत से ज्यादा खींचने जैसा होगा। इक़बाल की पाकिस्तानी छवि को समझने के लिए यह याद रखना ज़रूरी है कि इक़बाल की मृत्यु (21 अप्रैल, 1938) जिन्ना के मशहूर दो-राष्ट्र सिद्धांत वाले भाषण से दो वर्ष पूर्व हो चुकी थी।

लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि इक़बाल मुसलिम लीग से दूर थे। वे मुसलिम लीग की राजनीति के वाहकों में एक थे। जिन्ना के साथ उनका पत्राचार

दिखाता है कि मुसलमानों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व उनके राजनीतिक एजेंडे के केंद्र में था। लेकिन इसके बावजूद इक़बाल की मुसलिम राजनीति बेहद अस्पष्ट और धुँधली है। इक़बाल के ये विभिन्न स्वरूप निस्संदेह उनके दार्शनिक और काव्यात्मक व्यक्तित्व की व्यापकता के कुछ पहलुओं को ही उजागर करते हैं। क्या ही बेहतर हो कि इक़बाल को जानने का दावा करने से पहले हम उस ज्ञान-परम्परा की शिनाख़्त कर लें जिसके जरिये इक़बाल हम तक पहुँचाए जाते हैं।

देखें : अल-किंदी, अल-गज़ाली, अबू-अला मौदूदी, इब्न ख़ाल्दून, इब्न-रश्द, प्रारम्भिक इसलाम, जिहाद, दलित-पसमंदा मुसलमान, प्रारम्भिक इसलाम, फ़लसिफ़ा और कलाम, भारतीय इसलाम, मसजिद, मुसलिम राजनीतिक विचार, हज़रत मुहम्मद-1 और 2, मुहम्मद अली जिन्ना, सैयद अहमद ख़ाँ।

संदर्भ

1. मीर मस्तानसिर (2006), *इक़बाल*, आई.बी. टॉरिस, लंदन.
2. मुहम्मद इक़बाल (1980), *रिक्ंस्ट्रक्शन ऑफ़ रिलीजस थॉट इन इसलाम*, इसलामिक बुक सर्विस, लाहौर.
3. रियाज़ हुसैन (1977), *टुवर्ड्स पाकिस्तान : द पॉलिटिक्स ऑफ़ इक़बाल*, इसलामिक बुक सर्विस, लाहौर.

— हिलाल अहमद



मुहम्मद इक़बाल (1877-1938)

मूल्य

(Value)

किसी पण्य (वस्तु या सेवा) की बुनियादी कीमत या दाम को मूल्य की संज्ञा दी जाती है। किसी भी वस्तु या सेवा की एक निश्चित उपयोगिता होती है जिसके आधार पर उसका उपयोग-मूल्य निर्धारित होता है जिसकी प्रकृति अपेक्षाकृत स्थाई समझी जाती है। आदान-प्रदान की प्रक्रिया में उस जिंस का विनिमय-मूल्य निर्धारित होता है जो समय, स्थान और परिस्थितियों के मुताबिक बदलता रहता है। इस प्रकार एक जिंस के कई विनिमय-मूल्य हो सकते हैं। विभिन्न जिंसों से उसका विनिमय अलग-अलग विनिमय-मूल्यों के आधार पर होता है। आजकल पश्चिमी अर्थशास्त्र की दुनिया मूल्य के सिद्धांत पर कम और उसकी कीमत वाले पहले से संबंधित सिद्धांत पर ही अधिक विचार किया जाता है।

प्राचीन यूनान के दार्शनिकों के बीच भी मूल्य के उद्गम और प्रकृति पर चर्चा होती थी। अस्तू उपयोग-मूल्य और और विनिमय-मूल्य (बाजार के दाम) के बीच अंतर करते थे। उनके इसी विचार के आधार पर क्लासिकल अर्थशास्त्र के संस्थापकों ऐडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो और कार्ल मार्क्स ने अपने मूल्य सिद्धांत का विकास किया। उपयोग और विनिमय के बीच अंतर को समझने की प्रक्रिया में स्मिथ ने देखा कि उपयोग की दृष्टि से न के बराबर मूल्य वाली जिंस का विनिमय के लिहाज से काफ़ी मूल्य हो सकता है। मसलन, पानी एक बेहद उपयोगी चीज़ है, पर उसका मूल्य कम है। पर हीरा बहुत कम उपयोगी होने के बावजूद विनिमय के लिहाज से बहुत बड़ा मूल्य रखता है। स्मिथ का विचार था कि पानी के मुकाबले बहुत मुश्किल से उपलब्ध होने के कारण हीरे के दाम बढ़ जाते हैं। पर, नियोजित अर्थशास्त्रियों ने आगे चल कर इसी विरोधाभास को इस तरह से समझा कि हीरे की उपयोगिता भले ही कितनी ही कम हो, पर वह बहुत ऊँची होती है। उन्होंने इसे उच्चतर सीमांत उपयोगिता का नाम दिया जिसके आधार पर हीरे के दाम निर्धारित होते हैं।

जैसे-जैसे विनिमय का अर्थशास्त्र आगे बढ़ा, चीज़ों का बाजार मूल्य तय करना आवश्यक होता चला गया। मध्य युग के एक्विना और स्काउटुस जैसे विचारकों के बीच किसी जिंस के न्यायसंगत दाम पर बहस मिलती है। श्रेणीगत समाज के लिहाज से इन चिंतकों की मान्यता थी कि मूल्य एक ही होना चाहिए। बाजार मूल्य भी उसी में शामिल हो। बाद में मूल्य-निर्धारण में किसी भी क्रिस्म के ऊँच-नीच को रोकने के लिए जिंस का एक मानक तात्त्विक मूल्य तय करने की

कोशिश की गयी, हालाँकि इससे पहले समझा जाता था कि इस तरह का तात्त्विक मूल्य तय करने की कोशिश व्यर्थ है। तात्त्विक मूल्य के निर्धारण का मुख्य आधार जिंस के उत्पादन की बुनियादी लागत को बनाया गया।

विलियम पेटी ने श्रम को भौतिक सम्पदा का पिता और पृथ्वी को माता करार देते हुए मूल्य निर्धारण का आधार बनाने की कोशिश की। इसी मान्यता का विकास करते हुए रिचर्ड कैंटिलन ने दिखाया कि श्रम का मूल्य श्रमिक के परिवार के भरण-पोषण के लिए आवश्यक भूमि के मूल्य से जोड़ कर भूमि या श्रम की इकाइयों के रूप में मूल्य निर्धारण किया जा सकता है। ऐडम स्मिथ ने इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए निष्कर्ष निकाला कि भूमि, श्रम और पूँजी के प्राकृतिक दाम होते हैं और उनका योगफल उत्पादित जिंस के प्राकृतिक दाम के बराबर होता है। इस लिहाज से इस प्रकार हासिल किया गया प्राकृतिक मूल्य केंद्रीय दाम समझा जा सकता है जिसके इर्द-गिर्द माँग में होने वाली तब्दीली के मुताबिक बाजार के दाम बढ़ने-घटने चाहिए। स्मिथ ने श्रम को भी तीन भागों में बाँट कर समझने की चेष्टा की : उत्पादन करने में किया गया श्रम, विनिमय के लिए दूसरों से करवाया गया श्रम और श्रम की मात्रा।

रिकार्डो और मार्क्स ने लागत के रूप में केवल श्रम को ही देखने का आग्रह किया। रिकार्डो का तर्क था कि उपयोगिता को किसी जिंस के विनिमय-मूल्य की अनिवार्य शर्त के रूप में देखा जाना चाहिए। दुर्लभ मूर्तियों या चित्रों के अपवादों को छोड़ कर रिकार्डो किसी चीज़ की अपेक्षाकृत दुर्लभता को उसके विनिमय-मूल्य का आधार बनाने के लिए तैयार नहीं थे। वे मानते थे कि अन्य सभी चीज़ों के मामले में उन्हें बनाने में किये गये श्रम के आधार पर उनका मूल्य तय किया जाना चाहिए। कौशल और श्रम की सघनता की अहमियत मानने से इनकार करते हुए रिकार्डो का आग्रह था कि जिंसों को बाजार में लाने में लगे वक्त का फ़र्क उनके मूल्य पर छह से सात फ़ीसदी तक असर डाल सकता है। इसी वजह से रिकार्डो के मूल्य सिद्धांत को 'श्रम का 93 फ़ीसदी मूल्य सिद्धांत' भी कहा जा सकता है।

मार्क्स ने रिकार्डो के मूल्य सिद्धांत को आधार बनाते हुए अपनी रचना *कैपिटल* के पहले खण्ड में कहा है कि उपयोग-मूल्य संबंधित पण्य (जिंस) के भौतिक गुणों पर निर्भर होता है जिसकी प्राप्ति उस वस्तु के उपभोग की प्रक्रिया में होती है। मार्क्स के अनुसार मूल्य एक तकनीकी संबंध न हो कर मनुष्यों के बीच का एक सामाजिक संबंध है जो पूँजीवाद के तहत एक खास तरह का भौतिक रूप अख्तियार करके जिंस के रूप में प्रकट होता है। अर्थात् मूल्य सिर्फ एक दिमागी अवधारणा नहीं है, बल्कि पूँजीवादी

सामाजिक संबंध उसे भौतिक रूप दे देते हैं।

मार्क्स ने दिखाया कि विनिमय-मूल्य परिवर्तनशील होता है और समय व स्थान के मुताबिक बदलता रहता है। विनिमय के दौरान जो चीज़ समान रहती है वह है जिसमें निहित श्रम। मार्क्स ने यह मानने से इनकार किया कि मजदूर आलसी और कम कुशल होता है इसलिए अधिक उत्पादन करने के लिए उसे लम्बे समय तक काम करना चाहिए। उन्होंने 'सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-अवधि' की धारणा का प्रतिपादन किया और इसके लिए सामान्य उत्पादन, कार्यकुशलता के औसत स्तर और श्रम की गहनता को आधार बनाया। मानवीय क्षमता के बीच फ़र्क पर ज़ोर देने के बजाय उन्होंने तर्क दिया कि कौशल की प्राप्ति प्रशिक्षण से हो सकती है। प्रशिक्षण के माध्यम से जटिल क्रिस्म का श्रम साधारण क्रिस्म के श्रम में बदल जाता है।

मार्क्स का मूल्य-सिद्धांत मार्क्सवाद की सभी स्थापनाओं में सबसे ज़्यादा विवादास्पद है। गैर-मार्क्सवादियों ने तो उसे कई तरह की त्रुटियों का स्रोत बता कर खारिज किया ही है, स्वयं मार्क्सवादियों के बीच भी उसके इर्द-गिर्द काफ़ी बहस की गयी है। कुछ मार्क्सवादी कहते हैं कि पूँजीवाद की ठोस आर्थिक परिघटना की समझ बनाने के लिहाज़ से यह मूल्य-सिद्धांत निरर्थक है। इसके आधार पर शोषण के बुनियादी तात्पर्य को ग्रहण नहीं किया जा सकता। लेकिन कुछ अन्य मार्क्सवादियों की मान्यता है कि बिना इस मूल्य-सिद्धांत के धन और पूँजी को नहीं समझा जा सकता और न ही पूँजीवाद की गतिशीलता पकड़ में आ सकती है।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, एडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुनार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, डेविड रिकार्डो, थामस मुन और वणिकवाद, थामस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन।

संदर्भ

- डेविड रिकार्डो (1821), *ऑन द प्रिंसिपल्स ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी*, ऐंड टेक्सेशन, जॉन मेरे, लंदन.
- एडम स्मिथ (1759/1976), *ऐन इनक्वारी इनटु द नेचर ऐंड काज़िज़ ऑफ़ वेल्थ ऑफ़ नेशंस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

- कार्ल मार्क्स (1876/1976), *कैपिटल : अ क्रिटीक ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी* (1867), अनुवाद : बी. फ़ाउकेस, पेंगुइन, हार्मड्सवर्थ.

— अभय कुमार दुबे

मेघालय

(Meghalaya)

मेघालय भारत के उत्तर-पूर्व में स्थित राज्य है। मेघालय शब्द का शाब्दिक अर्थ है बादलों का घर। यद्यपि मेघालय में संसदीय राजनीति काफ़ी मजबूत है, लेकिन हिंसक विद्रोही गतिविधियाँ चलाने वाले संगठन भी यहाँ सक्रिय हैं। हथियारबंद राजनीति यहाँ बाहर से आये लोगों के खिलाफ़ ही शुरू हुई थी। हाइनेउट्रेप अचिक लिबरेशन कौंसिल (एचएएलसी) इस तरह के आंदोलनों की नेतृत्वकारी शक्ति थी। यह प्रभुत्वशाली जनजातियों खासी, जैयंतिया और गारो के हितों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती थी। 1992 में इसका विभाजन हो गया और अब यह दो संगठनों के रूप में मौजूद है। पहला, हाइनेउट्रेप नैशनल लिबरेशन कौंसिल (एचएएलसी) जो राज्य में खासी जनजाति का वर्चस्व कायम करना चाहती है; और दूसरा, अचिक मैटग्रिक लिबरेशन आर्मी (एएमएलए)। बाद में एएमएलए की जगह अजिक नेशनल वालंटियर्स कौंसिल (एवीएनसी) ने ले ली। ये संगठन गारो पहाड़ियों के क्षेत्र में गारो लोगों के लिए होमलैण्ड बनाना चाहते थे। इन दोनों संगठनों ने यूनाइटेड लिबरेशन फ्रंट ऑफ़ असम (उल्फा) और नैशनल सोशलिस्ट कौंसिल ऑफ़ नगालैण्ड-इसाक मोइवा (एनएससीएन-इसाक मोइवा) से भी रणनीतिक संबंध बनाये। दरअसल, इन संगठनों के लक्ष्य कमोबेश एक जैसे ही थे। सैन्य कार्रवाइयों के दबाव में एवीएनसी को सरकार से 2004 में युद्धविराम करना पड़ा। लेकिन अब भी मेघालय में कई विद्रोही संगठन हैं और कई नये संगठन भी बन गये हैं। यह ज़रूर कहा जा सकता है कि ये संगठन नगालैण्ड के विद्रोही संगठनों जितने मजबूत नहीं हैं, लेकिन फिर भी इनकी मौजूदगी को नकारा नहीं जा सकता।

मेघालय देश के पूर्वी भाग में (पूर्व-पश्चिम) तक्ररीबन तीन सौ किमी लम्बी और तक्ररीबन 10 किलोमीटर चौड़ी पहाड़ियों की एक श्रृंखला है। इसकी राजधानी शिलांग है। इसकी सीमाएँ उत्तर और पूरब में असम से तथा दक्षिण और पश्चिम में बांग्लादेश से मिलती हैं। इसका कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 22,720 वर्ग किमी है। क्षेत्रफल के हिसाब से यह



मेघालय : संसदीय बनाम हथियारबंद राजनीति

भारत का बाईसवाँ सबसे बड़ा राज्य है। 2011 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 2,964,007 है और इस हिसाब से भारत में इसका स्थान तेइसवाँ है। यहाँ का जनसंख्या घनत्व 130.5 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी है और यहाँ की साक्षरता दर 72.1 प्रतिशत है। यह भारत का पंद्रहवाँ सबसे ज्यादा साक्षर राज्य है। 2011 की जनगणना के अनुसार मेघालय में एक हजार पुरुषों पर 986 महिलाएँ हैं। इस संदर्भ में मेघालय की स्थिति भारत के राष्ट्रीय औसत 940 की तुलना में काफी अच्छी है। मेघालय की विधायिका एकसदनीय है और यहाँ की विधानसभा में कुल 60 सदस्य होते हैं। यहाँ से लोकसभा के दो और राज्यसभा के एक सदस्य चुने जाते हैं। गुवाहाटी उच्च न्यायालय ही मेघालय के उच्च न्यायालय की भूमिका निभाती है। खासी, पनेर, गारो, हिंदी और अंग्रेज़ी मेघालय की राजकीय भाषाएँ हैं।

एक अलग राज्य के रूप में मेघालय का निर्माण 21 जनवरी, 1972 को असम के दो जिलों को अलग करके किया गया। ये दो जिले थे : संयुक्त खासी हिल्स और जयंतिया हिल्स तथा गारो हिल्स। उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश प्रशासन के अंतर्गत आने से पहले खासी, जयंतिया और गारो जनजातियों के अपने-अपने राज्य थे। 1835 में अंग्रेज़ों ने इन सभी को असम में मिला दिया। ब्रिटिश साम्राज्य से समझौता करने के कारण इस क्षेत्र को अर्ध-स्वतंत्र दर्जा मिला रहा। अक्टूबर, 1905 में लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल का विभाजन किये जाने के बाद मेघालय नये प्रांत 'पूर्वी बंगाल और असम' का भाग बन गया। 1912 में बंगाल का विभाजन खत्म होने पर भी मेघालय असम का ही भाग बना रहा। 1935 के भारत शासन अधिनियम के बाद वर्तमान मेघालय में आने वाले कुछ क्षेत्रों को भी 'बहिष्कृत' और कुछ को 'आंशिक रूप से बहिष्कृत' क्षेत्रों की श्रेणी में रखा गया।

1947 में देश को आज़ादी मिलने के समय वर्तमान मेघालय असम के दो जिलों के रूप में था और इसे राज्य के भीतर सीमित स्वायत्तता मिली हुई थी। लेकिन मेघालय के लोग इससे संतुष्ट नहीं हुए और ज्यादा आज़ादी के लिए वे शांतिपूर्ण और संवैधानिक संघर्ष करते रहे। उन्होंने 1969 में संसद द्वारा पारित असम पुनर्गठन मेघालय अधिनियम ने मेघालय को स्वायत्तशासी हैसियत प्रदान की। आखिरकार, संसद द्वारा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र (पुनर्गठन) क़ानून, 1971 पारित किया गा। इसमें

मेघालय के स्वायत्तशासी राज्य को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया।

मेघालय की जनसंख्या में जनजातियों का बहुमत है। खासी यहाँ का सबसे बड़ा जनजाति समूह है। यहाँ गारो और जयंतिया जनजातियों के लोगों की संख्या भी अच्छी-खासी है। इसके अलावा, यहाँ कोच, राजबोगंसी, बोडो, हजोंग, दिमासा, हमर, कुकी आदि जनजातियाँ भी हैं। मेघालय में दो लाख से ज्यादा नेपाली मूल के लोग हैं जो सभी जिलों में फैले हुए हैं। ईस्ट खासी हिल्स और जयंतिया हिल्स में नेपाली मूल के लोग ज्यादा संख्या में मौजूद हैं। मेघालय भारत के उन तीन राज्यों में से एक है जहाँ ईसाई लोगों का बहुमत है (बाक़ी दो राज्य नगालैण्ड और मिज़ोरम हैं)। यहाँ की जनसंख्या के 70.3 प्रतिशत लोग ईसाई धर्म और 13.3 प्रतिशत लोग हिंदू धर्म को मानते हैं। इसके अलावा 11.5 प्रतिशत लोग एनीमिस्ट या सर्वात्मवादी (जिसे जनगणना में 'अन्य' के रूप में दर्ज किया जाता है) हैं, और 4.1 प्रतिशत लोग इस्लाम के अनुयायी हैं।

आल पार्टी हिल्स लीडर्स कांफ़्रेंस (एपीएचएलसी) के नेता डब्ल्यू.ए. संगमा मेघालय के पहले मुख्यमंत्री थे। इस संगठन ने अलग असम से अलग मेघालय राज्य बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। नवम्बर, 1976 में संगमा एमएचएलसी के एक धड़े के साथ कांग्रेस में शामिल हो गये और वे कांग्रेस के नेता के रूप में मार्च, 1978 तक मुख्यमंत्री रहे। इसके बाद, 1990 तक कांग्रेस और एपीएचएलसी के बीच सत्ता की अदल-बदल होती रही। मार्च, 1978 से मई, 1979 तक एपीएचएलसी के डी.पी. पुग राज्य के मुख्यमंत्री रहे। इसके बाद मई, 1979 से मई, 1981 तक एपीएचएलसी के ही बी.बी. लिंगदोह राज्य के मुख्यमंत्री रहे। बी.बी.

लिंगदोह 1983 के मार्च महीने में भी 28 दिनों के लिए राज्य के मुख्यमंत्री बने। अस्सी के दशक में कांग्रेस के डब्ल्यू.ए. संगमा (मई, 1981 से फ़रवरी, 1983; अप्रैल, 1983 से फ़रवरी, 1988) और पी.ए. संगमा (फ़रवरी, 1988-मार्च, 1990) मुख्यमंत्री रहे। मार्च, 1990 से अक्टूबर, 1991 तक लिंगदोह मुख्यमंत्री रहे, लेकिन उनकी सरकार को बर्खास्त कर दिया गया। इसके बाद राज्य में अक्टूबर, 1991 से फरवरी 1992 तक राष्ट्रपति शासन रहा। उसके बाद कांग्रेस के डी.डी. लपांग (फ़रवरी, 1992-फ़रवरी, 1993) मुख्यमंत्री बने।

इसी समय बी.बी. लिंगदोह ने अपने सहयोगियों से मिलकर यूनाइटेड डेमोक्रेटिक पार्टी बनायी। इस तरह राज्य की राजनीति से एपीएचएलसी की विदाई हो गयी। 1993 में हुए चुनावों के बाद कांग्रेस ने सरकार बनायी और एस.सी. मारक अपने पूरे कार्यकाल (फ़रवरी, 1993-फ़रवरी, 1998) तक राज्य के मुख्यमंत्री रहे। 1998 के चुनावों के बाद यूडीपी की सरकार बनी और इस सरकार ने अपना कार्यकाल पूरा किया और इस दौरान तीन मुख्यमंत्री बने : बी.बी. लिंगदोह (मार्च, 1998-मार्च, 2000), ई.के. मावलौंग (मार्च, 2000-दिसम्बर, 2001) और एफ.ए. खोंगलम (दिसम्बर, 2001-मार्च, 2003)। 2003 के चुनावों के बाद फिर से कांग्रेस की सरकार बनी। लेकिन इसे अपने बलबूते पर बहुमत नहीं मिला था, इसलिए इसने कुछ छोटे दलों के साथ मिल कर मेघालय डेमोक्रेटिक एलायंस (एमडीए) बनाया। इस पूरे कार्यकाल में तक्ररीबन एक साल छोड़ कर 2008 तक डी.डी. लपांग राज्य के मुख्यमंत्री बने। बीच में जून, 2006 से मार्च, 2007 तक कांग्रेस के ही जे.डी. रेमबाई मुख्यमंत्री रहे। 2008 के विधानसभा चुनावों के बाद किसी पार्टी को बहुमत नहीं मिला। कांग्रेस 25 सीटों के साथ सबसे बड़ी पार्टी, और पी.ए. संगमा के नेतृत्व वाली राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी 14 सीटों के साथ दूसरे स्थान पर आयी। इसके अलावा, यूनाइटेड डेमोक्रेटिक पार्टी को 11 सीटों पर जीत मिली। विधानसभा चुनावों के बाद शुरू में कांग्रेस ने सरकार बनायी लेकिन डी.डी. लपांग बहुमत साबित नहीं कर पाये। इसके बाद यूडीपी ने राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी और कुछ दूसरे दलों के साथ मिलकर सरकार बनायी। यह सरकार एक साल चली (19 मार्च, 2008-18 मार्च, 2009)। इस सरकार के गिर जाने के बाद राज्य में राष्ट्रपति शासन (18 मार्च, 2009-12 मई, 2009) लागू कर दिया गया। फिर से कांग्रेस के नेतृत्व में मेघालय यूनाइटेड एलायंस की सरकार बनी। डी.डी. लपांग मुख्यमंत्री (13 मई, 2009-19 अप्रैल, 2010) बने। लपांग के इस्तीफा दे देने पर कांग्रेस ने मुकुल संगमा को राज्य का मुख्यमंत्री बनाया (20 अप्रैल, 2010-अब तक)।

नब्बे के बाद की मेघालय की राजनीति में तुलनात्मक रूप से अस्थिरता ही रही है। एस.सी. मराक के अलावा कोई

भी नेता मुख्यमंत्री के रूप में अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर पाया। शुरुआत में एपीएचएलसी और बाद में यूडीपी ने राज्य की राजनीति में कांग्रेस का वर्चस्व कायम नहीं होने दिया। 2008 के विधानसभा चुनावों में किसी को बहुमत न मिलने पर कांग्रेस को भी गठजोड़ की राजनीति में भागीदारी करनी पड़ी। उत्तर-पूर्व के अन्य राज्यों की तरह ही मेघालय की संसदीय राजनीति को भी केंद्र की राजनीति के बजाय स्थानीय मुद्दे ज्यादा प्रभावित करते हैं। नब्बे के दशक में उत्तर भारत की राजनीति पर गहरा प्रभाव छोड़ने वाली 'मण्डल, मंदिर और मार्केट' का यहाँ कोई उल्लेखनीय असर नहीं पड़ा। पर यहाँ के नेता पी.ए. संगमा ने केंद्र की राजनीति में अपनी गहरी छाप जरूर छोड़ी। वे लोकसभा के अध्यक्ष (25 मई, 1996-23 मार्च, 1998) रहे। उन्होंने सोनिया गाँधी के विदेशी मूल के मुद्दे पर कांग्रेस पार्टी छोड़ कर शरद पवार के नेतृत्व में 1999 में राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी बनाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

देखें : असम, अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गुजरात, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झाड़खण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पश्चिम बंग, पंजाब, बिहार, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मणिपुर, मिज़ोरम, भारतीय संघवाद, राजस्थान, राज्यों का पुनर्गठन-1, 2 और 3, राज्यों की राजनीति, संघवाद, हरियाणा।

संदर्भ

1. एस. गुरुदेव (1996), *एनाटॉमी ऑफ़ रिवोल्ट इन नॉर्थ-ईस्ट इण्डिया*, लैंसर्स बुक, नयी दिल्ली, 1996.
2. बी. पकेम, (सम्पा.) (1993), *रीजनलिज़म इन इण्डिया : विद स्पेशल रिफरेंस टू नॉर्थ-ईस्ट इण्डिया*, हर आनंद पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
3. सजल नाग (2002), *कॉन्टेस्टिंग मार्जिनलिटी : एथ्निसिटी, इनसर्जेंसी, सब-नेशनलिज़म इन नॉर्थ ईस्ट इण्डिया*, मनोहर, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

मैक्स वेबर

(Max Weber)

जर्मन इतिहासकार, अर्थशास्त्री और विधि-सिद्धांतकार मैक्स वेबर (1864-1920) समाजशास्त्र के संस्थापकों में से एक थे। समाज, संस्कृति, सत्ता, सामाजिक स्तरीकरण, नौकरशाही, विकास और आधुनिक पूँजीवाद के अध्ययन में उनके चिंतन और अनुसंधान ने बुनियादी योगदान किया है। वैचारिक जगत पर वेबर के प्रभाव के विस्तार और विविधता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि समाज-विज्ञान की दुनिया में उन्हें 'पूँजीवादियों के मार्क्स' की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। हालाँकि वेबर कार्ल मार्क्स की बौद्धिक उपलब्धियों को आदर की निगाह से देखते थे और कई मामलों में उनसे प्रभावित भी थे, लेकिन मार्क्स की प्रस्थापनाओं को उनके कई निष्कर्षों ने गहरी चुनौती दी। इतिहास में विचारों की भूमिका, सामाजिक और ऐतिहासिक व्याख्याओं की प्रकृति, पूँजीवाद के उद्गम और आधुनिकता के स्वभाव जैसे प्रश्नों पर उनके चिंतन ने वेबेरियन कहे जाने वाले गैर-मार्क्सवादी वैचारिक रवैये की स्थापना की। वेबर की रचनाएँ स्पष्ट रूप से कोई मानकीय सिद्धांत पेश करने का दावा नहीं करतीं, लेकिन उनका लेखन कई मानकीय सिद्धांतों का स्रोत है। वेबर राजनीतिक शासन के विधेयक आधार की खोज करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्राधिकार को तीन मॉडलों की रोशनी में समझा जा सकता है : पारम्परिक प्राधिकार, करिश्माई प्राधिकार और विधिक-बुद्धिसंगत प्राधिकार। दरअसल, वेबर यह भी समझने की कोशिश कर रहे थे कि पारम्परिक समाज औद्योगिक समाजों में कैसे बदले और फिर औद्योगिक समाजों ने उन आधुनिक समाजों का रूप कैसे ग्रहण किया जिनका संचालन शक्तिशाली अधिकारीतंत्रों के हाथ में होता है।

इरफर्ट (जर्मनी) में पैदा हुए मैक्स वेबर के पिता एक प्रमुख वकील और जर्मन संसद के सदस्य थे। एक छात्र के रूप में वेबर काफ़ी प्रतिभाशाली साबित हुए और उन्होंने कई विषयों का सफलतापूर्वक अध्ययन किया। वे अर्थशास्त्र, कानून और राजनीतिशास्त्र के प्रोफ़ेसर रहे और एक बार संसद का चुनाव भी लड़ा। 1897 में हुए एक मानसिक विचलन के बाद उन्होंने अध्यापन छोड़ दिया। अपने जीवनकाल में ही उन्हें महानतम समाजशास्त्रियों में शुमार किया जाने लगा था।

आधुनिक विश्व के बारे में वेबर के सामान्य अवलोकनों ने कई राजनीतिक चिंतकों को प्रभावित किया है। गैर-मार्क्सवादी ही नहीं, मार्क्सवादी विद्वत्ता भी उनका बौद्धिक ऋण स्वीकार करती है। आधुनिकता को लोहे के पिंजरे की

संज्ञा देने वाले उनके अवलोकनों का प्रभाव फ्रेड्रिख हायक और माइकिल ओकशाट जैसे अनुदारवादियों पर ही नहीं, बल्कि ग्योर्ग लूकाच, हरबर्ट मार्क्यूजे और थियोडोर एडोर्नो जैसे मार्क्सवादियों पर देखा जा सकता है। वेबर ने समकालीन जर्मनी की राजनीति पर भी लेखन किया, लेकिन अपनी इस तरह की तजवीजों और भविष्यवाणियों को अपने 'वैज्ञानिक' निष्कर्षों से दूर रखने के मामले में हमेशा सतर्कता बरती।

मार्क्सवादी और वेबेरियन चिंतन के बीच बुनियादी पद्धतिमूलक भिन्नताएँ हैं। सामाजिक और ऐतिहासिक व्याख्याएँ करने के लिए मार्क्सवादी सामाजिक और आर्थिक शक्तियों की अन्योन्यक्रिया पर निगाह डालते हैं, पर अपनी व्याख्याओं के लिए वेबर ने घटनाक्रम के भागीदारों के बारे में समझ विकसित करने पर जोर दिया। वेबर का आग्रह था कि लोगों की क्रियाओं और पहलकदमियों का संबंध उनके विश्व-दृष्टिकोण और यथार्थ की उनकी समझ से होता है, इसलिए उनके निहितार्थों को समझने के तौर-तरीके विकसित करने ज़रूरी हैं। वेबर ने बुद्धिसंगत व्यवहार और सोच-विचार की अलग-अलग क्रिस्मों की विस्तृत विवेचना की, उन कारणों पर गौर किया जो क्रियाओं के पीछे होते हैं और उन क्रियाओं को तात्पर्य प्रदान करने वाली वजहों की खोज की। कोई क़दम उठाने के पीछे जज़्बात हो सकते हैं, परम्परा के आग्रहों की भूमिका हो सकती है, किसी उद्देश्य को प्राप्त करने की इच्छा हो सकती है या मूल्यगत सरोकार हो सकते हैं। वेबर का विचार था कि लोग मिले-जुले कारणों से कुछ करने का निर्णय लेते हैं पर उनमें कोई एक कारण प्रमुख होता है। इस लिहाज़ से वेबर ने नतीजा निकाला कि एक सार्थक जगत के दायरे में अंजाम दिया गया सार्थक व्यवहार ही सामाजिक क्रिया का जनक हो सकता है। उन्होंने दावा किया कि लोग जिस तरह से सोचते हैं और उनके जो विचार होते हैं, सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन उन्हीं के आधार पर घटित होते हैं। मार्क्स ने जहाँ सामाजिक हैसियत को वर्ग-आधारित माना, वहीं वेबर ने उसमें वर्ग के साथ-साथ संस्कृति, जीवन-शैली के रूपों और उपभोग के प्रारूपों की भूमिका पर भी बल दिया। इस तरह वेबर ने मार्क्स प्रदत्त अंतर्दृष्टि का विकास करते हुए 'स्टैटस ग्रुप' की अवधारणा का प्रतिपादन किया।

वेबर ने आधुनिकता की प्रकृति, विकास और उसके पश्चिम में ही उभरने के कारणों पर गौर किया। उनका खयाल था कि सभी प्राक्-आधुनिक समाजों में (चाहे वे पूर्व के हों या पश्चिम के) धर्म ही विश्व-दृष्टिकोण और बौद्धिक गतिविधियों का स्रोत था, इसलिए विभिन्न सभ्यताओं के तहत धर्म का विश्लेषण किये बिना आधुनिकता के स्रोतों के बारे में पता नहीं लगाया जा सकता। उन्होंने तमाम धर्मों और अर्थव्यवस्था और कानून जैसे समाज के विभिन्न आयामों के साथ उनके संबंधों की जाँच की ताकि यह जाना जा सके कि पश्चिमी ईसाइयत में ऐसी क्या खास बात थी कि आधुनिकता



मैक्स वेबर (1864-1920)

की ज़मीन पहली बार वहीं तैयार हुई।

वेबर की सबसे मशहूर रचना है *द प्रोटेस्टेंट इथिक्स ऐंड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज़्म* (1905) जिसमें वे कहते हैं कि पूँजीवाद केवल आर्थिक कारकों या प्रौद्योगिकीय विकास की देन नहीं हो सकता। प्रोटेस्टेंट मत अपने कुछ आयामों में अन्य धर्मों से अलग था। वह सेकुलर दायरे को स्पष्ट रूप से रेखांकित करते हुए दुनियावी कामयाबियों को अहमियत देता था। कैल्विनिस्ट आस्थाओं के मुताबिक व्यक्ति को मोक्ष मिलेगा या नहीं, यह पहले ही तय हो चुका होता है। चूँकि भौतिक जगत में उसके द्वारा की गयी गतिविधियों से इस फ़ैसले पर कोई फ़र्क नहीं पड़ता, इसलिए धमभीरु लोग मोक्ष संबंधी व्यग्रताओं का शिकार रहते थे, जिनसे अपना ध्यान हटाने के लिए कठोर और निरंतर परिश्रम करते हुए वे उन संकेतों को टटोलते रहते थे जिनके जरिये ईश्वरीय दण्ड से बचना मुमकिन हो सकता हो। कठोर श्रम के माध्यम से कमाये गये मुनाफ़े का आनंद उठाने के बजाय उसका पुनः निवेश कैल्विनिस्ट आस्थाओं के मुताबिक एक ऐसा ही तरीका था। प्रोटेस्टेंट चिंतन के इसी पहलू ने पूँजी संचय की शुरुआत की जो प्रकारांतर से स्वयं का पुनरुत्पादन करने वाली प्रक्रिया में बदल गयी। वेबर ने कहा कि प्रोटेस्टेंट मत द्वारा प्रदत्त इस ग़ैर-आर्थिक आवेग के बिना पूँजीवाद घटित नहीं हो सकता था। शुरुआती पूँजीपतियों के लिए ज़रूरी था कि वे आर्थिक लाभों के लिए प्रयास करते हुए भी स्वयं सादगी और किफ़ायत का जीवन जियें, अनुशासित रहें और वक्रत की बचत करें। वेबर का खयाल था कि ईसाई शुद्धतावाद के प्रभाव में ये प्रवृत्तियाँ मज़बूत हुईं और पूँजीवाद के उभार की परिस्थितियाँ बनीं।

ऐसी बात नहीं कि वेबर ने मार्क्सवादियों की भाँति पूँजीवाद को आधुनिकता का मुख्य लक्षण मान कर संतोष कर लिया हो। पूँजीवाद को आधुनिकता के सारतत्त्व का एक पहलू मानने के बाद उन्होंने शासन, सामाजिक संगठन और बौद्धिक जीवन के आधारभूत कारणों पर निगाह डालते हुए देखा कि आधुनिकता के ये तमाम पहलू 'सुसंगतीकरण' (रैशनलाइज़ेशन) से सम्पन्न हैं। उन्होंने इसकी बुनियाद में भी पश्चिमी ईसाइयत की खूबियाँ रेखांकित कीं। वेबर ने तर्क दिया कि पश्चिमी ईसाइयत जगत को निस्सार मान कर त्याग देने के बजाय ईश्वर के औज़ार के रूप में व्यक्ति को दुनिया के समस्त कार्य-व्यापार में सक्रिय भागीदारी का संदेश देती है। इसी के कारण पश्चिम द्वारा प्रदत्त कर्ता साधन और साध्य के बुद्धिसंगत क्रम में यक्रीन की तरफ़ जाता है। इसके विपरीत पूर्वी समाजों का रहस्यवादी चिंतन और भौतिक जगत के प्रति त्यागवृत्ति के कारण वहाँ की आत्मपरकताओं में यह खूबी पैदा नहीं हो पाती। वेबर की निगाह में पूँजीवाद साधन-साध्य के तर्कपरक सिलसिले की सर्वाधिक सुसंगत अभिव्यक्ति थी। एक आर्थिक संगठन के रूप में पूँजीवाद पिछले जमाने के धर्म आधारित और मूल्यगत आग्रहों से मुक्त था। न तो उसका यक्रीन किसी तरह के 'न्यायसंगत दाम' की अवधारणा में था, और न ही सूदखोरी की अनैतिकता में। वह बाज़ार के तौर-तरीकों के जरिये हर चीज़ की गणना मुद्रा या धन के रूप में करता था।

वेबर ने साधन-साध्य की तर्कपरकता को केवल आर्थिक दायरे में ही नहीं देखा। उन्होंने उसे आधुनिक संगठन को समझने के लिए भी इस्तेमाल किया। अधिकारीतंत्र या नौकरशाही के प्रभाव की जाँच करते हुए वेबर ने देखा कि वेतनभोगी अफ़सरों का पदानुक्रमवादी यह संगठन बनाया तो शासन चलाने के लिए गया था, पर अब उसने पूँजीवादी संगठनों समेत समाज के अधिकतर हिस्सों को अपने नियंत्रण में ले लिया है। अधिकारीतंत्र सर्वाधिक सक्षम मानवीय संगठन होने के साथ-साथ वेबर की निगाह में नितान्त निर्वैयक्तिक और इसलिए अमानवीकरण का स्रोत भी था। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि नौकरशाही व्यक्ति का विखण्डन कर देती है। पूँजीवाद के साथ मिल कर सामाजिक जीवन का उत्तरोत्तर सुसंगतीकरण होता जाता है जिससे व्यक्ति की हैसियत एक विशाल आक्रांतकारी सामाजिक-आर्थिक मशीन के दाँते से अधिक नहीं रह जाती। अपने विश्लेषण के इस मुकाम पर पहुँच कर वेबर ने आधुनिकता का वर्णन लोहे के एक पिंजरे की तरह किया। पूँजीवाद और समाजवाद की तुलना करते हुए वेबर कहते हैं कि पूँजीवाद में व्यक्ति की निजता और सृजनशीलता के लिए थोड़ी बहुत गुंजाइश होती है, पर समाजवाद में सरकार और आर्थिक नौकरशाही का भीषण संगम सभी तरह की निजता को पूरी तरह से कुचल डालता है।

पूँजीवाद, पश्चिमी समाज और सुसंगतीकरण के समीकरण को और आगे बढ़ाते हुए वेबर कहते हैं कि पश्चिमी ईसाइयत ने विज्ञान और दर्शन की यूनानी विरासत को आत्मसात करके आधुनिक विज्ञान के विकास की परिस्थितियाँ पैदा की हैं। यह अलग बात है कि धर्म की यह भूमिका ही मूल्यगत और नीतिगत आध्यात्मिकता को सुसंगतीकरण के विकल्प द्वारा प्रतिस्थापित कर देती है। ज्ञान के विस्तार, उससे पैदा होने वाली समृद्धि, यथार्थ को नियंत्रित कर सकने वाली और सांगठनिक क्षमताओं ने धार्मिक विश्वासों को आधारहीन कर दिया है। नतीजे के तौर पर दुनिया धर्म के जादू से निकल कर 'डिसइंचेंटेड' हो गयी है। हम दुनिया को तार्किक रूप से सार्थक मानते हैं लेकिन इसी के कारण यथार्थ की हमारी धारणा किसी भी तरह के नैतिक मूल्य से वंचित हो कर अंततः निरर्थक हो जाती है। मानवीय जीवन पर इसका प्रभाव यह पड़ा है कि मूल्यगत आस्थाएँ निजी दायरे में चली गयी हैं।

अपने एक निबंध 'द प्रोफेशन ऐंड वोकेशन ऑफ पॉलिटिक्स' में वेबर कहते हैं कि अपने नैतिक आवेगों को संतुष्ट करने के लिए व्यक्ति किसी मकसद या विचारधारा के साथ जुड़ते हैं। स्थावर सिद्धांतों के प्रति उनका समर्पण इस दर्जे का होता है कि वे यथार्थ के साथ कोई समझौता करने से इनकार करके नीतियों के नुकसानदेह प्रभावों का इलजाम दूसरों पर मढ़ते रहते हैं। अपनी नैतिकता को परम मान कर चलने वाला रवैया विनाशकारी अंदेशों से भरा होता है। इसलिए राजनीति में लक्ष्य के प्रति समर्पण तो चाहिए, पर उत्तरदायित्व के आग्रह से पैदा होने वाला संयम भी ज़रूरी है। वेबर राजनीति को काफ़ी-कुछ निराशाजनक दृष्टिकोण से देखते थे। उनकी मान्यता थी कि राष्ट्रों के बीच और उनके भीतर होने वाले संघर्षों और टकरावों के कारण शांति और भाईचारे के यूटोपिया के लिए गुंजाइश नहीं बची है। इसी तरह से सोचते हुए वेबर ने निष्कर्ष निकाला कि एक निश्चित भू-क्षेत्र में हिंसा पर राज्य की संस्था की वैध इजारेदारी होती है। राजनेता दैहिक हिंसा का डर दिखा कर ही लोगों से अपने काम करवा पाते हैं। राजनीति में अच्छे लक्ष्यों की प्राप्ति अक्सर आपत्तिजनक साधनों से की जाती है। अपनी इसी प्रकृति के कारण राजनीति में एक तरह का अनैतिक और एक तरह का दुखांत पहलू पैदा हो जाता है।

विचारों से उदारतावादी होने के बावजूद वेबर पर नीतेशे के चिंतन से प्राप्त निराशावादी दृष्टिकोण का असर था। वे पश्चिमी सभ्यता को पतनोन्मुख मानते थे और उनकी निगाह में किसी मूल्यगत या नीतिगत व्यवस्था के सुसंगत आधार की सम्भावनाएँ उज्वल नहीं थीं। उन्होंने पूँजीवाद के विकास को केवल समाज के संगठित सुसंगतीकरण के रूप में देख कर नतीजा निकाला कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता को, निजता को अंततः कुचल डालेगा। पर उनकी भविष्य-दृष्टि

उत्तर-औद्योगिक असंगठित पूँजीवाद को कल्पित नहीं कर पायी जिसमें व्यक्ति-स्वातंत्र्य और सृजनशीलता की अधिक गुंजाइशें होती हैं।

देखें : अल्फ्रेड लुइस क्रोबर, ऑग्युस्त कॉम्त, क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस, क्लिफर्ड गीर्टज़, जार्ज जिमेल, टैलकॉट पार्संस, डेविड एमील दुर्खाइम, पिएर बोर्दियो, फ्रेंज़ उरी बोआस, मारग्रेट मीड, मारसेल मौज़, मार्गरेट मीड, मिल्टन सिंगर, रुथ बेनेडिक्ट।

संदर्भ

1. एंथनी गिडेंस (1972), *पॉलिटिक्स ऐंड सोसियोलॉजी इन द थॉट ऑफ़ मैक्स वेबर*, मैकमिलन, बेसिंगस्टोक.
2. डी. बीथम (1974), *मैक्स वेबर ऐंड द थियरी ऑफ़ मॉडर्न पॉलिटिक्स*, जॉर्ज एलन ऐंड अनविन, लंदन.
3. डी. सेयर (1991), *कैपिटलिज़्म ऐंड मॉडर्निटी : ऐन एक्सकर्सज़ ऑन मार्क्स ऐंड वेबर*, रॉटलेज, लंदन.
4. एस. टर्नर (2000), *द केम्ब्रिज कम्पैनिन टु वेबर*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

मैरी वोल्सनक्रॉफ्ट

(Mary Wollstonecraft)

अठारहवीं सदी की ब्रिटिश लेखिका मैरी वोल्सनक्रॉफ्ट (1759-1797) दार्शनिक और स्त्री-अधिकारों की पैरोकार थीं। उनकी विख्यात रचना *अ विंडीकेशन ऑफ़ द राइट्स ऑफ़ वुमैन* (1792) ने एक ऐसे विमर्श और राजनीति की शुरुआत की जिसे नारीवाद की आधारशिला रखने का श्रेय जाता है। स्त्री-मुक्ति की वैचारिक पीठिका तैयार करने की दिशा में शुरुआती कोशिश करते हुए वोल्सनक्रॉफ्ट ने इस रचना में स्त्रियों के उत्पीड़न और दासता का इतिहास एवं प्रतिरोध का साक्ष्य प्रस्तुत किया। उन्होंने साहसिक और तर्कपूर्ण प्रतिवाद करते हुए यह मानने से इनकार कर दिया कि स्त्रियों की अधीनस्थता एक स्वाभाविक और प्राकृतिक स्थिति है। युरोप में ज्ञानोदय के दौर में मैरी ने पितृसत्ता की चुनौतीपूर्ण समीक्षा करने का साहस दिखाया। उन्होंने स्त्री-समुदाय के बीच नयी चेतना के बीज बोये और मुक्ति के प्रश्न पर चिंतन किया। अमेरिका और युरोप की बूज्वा-लोकतांत्रिक क्रांतियों की पूर्वबेला में जब स्त्री-प्रश्न को अहमियत मिल रही थी, तब मैरी ने उसे वैचारिक सबलता और व्यापक आधार देने का काम किया। उनके प्रयासों से



मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट (1759-1797)

पहली बार स्त्रियों के प्राकृतिक अधिकारों की घोषणा व माँग की गयी। स्त्री-पुरुष समानता और स्त्री-अधिकारों के विविध पक्षों को लेकर बहस आरम्भ हुई, मुक्ति संघर्षों में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ने लगी है और विभिन्न सामाजिक क्रांतियों के बाद स्त्रियों की स्थिति में आये परिवर्तन से स्त्री-प्रश्न महत्वपूर्ण बन गया। इस लिहाज से मैरी को स्त्री-विमर्श के आदि-सिद्धांतकार की संज्ञा दी जा सकती है।

मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट का जन्म स्पिटलफ़ील्ड्स, लंदन में हुआ था। उनके पिता कपड़ा बुनने का काम करते थे। अपने बौद्धिक जीवन की शुरुआत में ही वे रिचर्ड प्राइस और जोसेफ़ प्रीस्टली जैसे बुद्धिवादियों के संसर्ग में आयीं। यह एक ऐसा दायरा था जो अपनी असहमति की आवाज़ के लिए जाना जाता था। निजी जीवन व परिवार में मैरी ने कई तरह की आर्थिक दिक्कतों का सामना किया। वे अपने समय में यह भी देख रही थीं कि स्त्रियों के लिए आमदनी का जरिया बनने लायक पेशे बहुत कम थे। उनका विचार बना कि स्त्रियों के लिए यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि वे ऐसी शिक्षा प्राप्त कर रही हैं जिससे वे अपने भाग्य में किसी तरह का बदलाव नहीं ला सकतीं। समाज में स्त्रियों की समानता को आवश्यक मानते हुए उन्होंने शिक्षा के उस छद्म व कपट को उजागर किया जो स्त्रियों की स्वतंत्रता में बाधक था। मैरी ने कहा कि यह शिक्षा मध्यवर्ग की स्त्रियों को स्त्रैणता के झूठे मिथ्याभास व आदर्शों के दायरे में जीवन बसर करने के लिए तैयार करती है। स्त्रियों की देह के हिसाब से उनके मस्तिष्क की संरचना को गढ़ा जाता है और शरीर एक पिंजरे की तरह

बन जाता है जिसकी कैद में स्त्रियाँ जीना सीख लेती हैं।

एक साल तक आया का काम करने के बाद मैरी ने स्वतंत्र रूप से लेखक बनने का निर्णय लिया। 1787 में लंदन के प्रकाशक जोसेफ़ जॉनसन की मदद से उन्हें जीवकोपार्जन और लेखन का अवसर मिला है। जॉनसन उस वक़्त के सबसे बड़े पुस्तक विक्रेता और प्रकाशक थे। उन्होंने मैरी की पुस्तक *थॉट्स आन द एजुकेशन ऑफ़ डॉटर्स* (1787) का प्रकाशन किया। 1784 में मैरी ने अपनी बहनों के साथ मिल कर स्त्री-यूटोपिया की कल्पना की और उसे व्यावहारिक रूप देने के लिए 'न्यूविंगटन ग्रीन, अ डिसेंटिंग कम्प्युनिटी' नामक एक स्कूल का निर्माण किया जो आर्थिक समस्याओं के कारण विफल हो गया। इसके बाद उन्होंने *मैरी : अ फ़िक्शन* शीर्षक से उपन्यास लिखा। आया का काम करते हुए उन्होंने बच्चों के लिए *ओरिजिनल स्टोरीज़ फ़ॉर्म रियल लाइफ़* पुस्तक भी लिखी। उन्होंने फ़्रांसीसी और जर्मन भाषाएँ सीखीं और कई महत्वपूर्ण अनुवाद किये। जॉनसन के साथ मिल कर मैरी ने *पीरियोडिकल ऐनालिटिकल रिव्यू* का सम्पादन किया और उसमें कई उपन्यासों की समीक्षाएँ लिखीं। जिस समय उनकी बौद्धिक गतिविधियाँ बढ़ रही थीं, उनका सम्पर्क दार्शनिक विलियम गॉडविन से हुआ जो आगे चल कर उनके पति बने। 1790 में ही एडमण्ड बर्क की रचना *रिफ़्लेक्शंस ऑन द रेवोल्यूशन ऑफ़ फ़्रांस* का प्रकाशन हुआ था जिसमें बर्क ने फ़्रांसीसी क्रांति के रैडिकलिज़म पर कठोर प्रहार किये थे। मैरी ने बर्क की पुस्तक के उत्तर में इसी वर्ष *विंडिकेशन ऑफ़ द राइट्स ऑफ़ द मेन* लिख कर ख्याति प्राप्त की जिसमें उन्होंने क्रांति और उसके आधारभूत विचार की तरफ़दारी की। अपने विचारों का विस्तार करते हुए मैरी ने दो साल बाद अपनी सबसे विख्यात रचना *विंडिकेशन ऑफ़ द राइट्स ऑफ़ वुमॅन* लिखी।

1793 से 1795 के बीच मैरी एक अमेरिकी व्यापारी गिलबर्ट इमले के साथ पत्नी बन कर रहीं। इस दौरान युरोप में राजनीतिक स्थिति ख़राब होने लगी थी। कुछ ख़ास तरह की परिस्थितियों में मैरी और इमले के साथ विवाह का पंजीकरण तो हुआ पर वे औपचारिक रूप से कभी पति-पत्नी बन कर नहीं रहे। इसी समय मैरी के कई मित्रों को बंदी बना कर जेल में डाल दिया गया या बेरहमी से मार दिया गया। मैरी ने मिसेज़ इमले बन कर अपनी संतान व खुद को सुरक्षित कर लिया। इमले मैरी को एक घरेलू स्त्री मान कर क्रांति व संघर्ष के बीच छोड़ कर चला गया। मैरी के पत्रों से पता चलता है इस वैवाहिक संबंध में उन्होंने कितना दुःख और पीड़ा झेली। इसी दौर में उन्होंने दो बार आत्महत्या करने की कोशिश भी की। मैरी विवाह के संदर्भ में लिखती हैं कि स्त्री-पुरुष में प्रेम और मित्रता का होना ज़रूरी है। अत्यधिक लाड़ व प्रभुत्व संबंधों में असमानता पैदा करता है। पुरुष-समाज

अपेक्षा करता है कि पत्नी हमेशा प्रेमिका बन कर रहे जबकि स्त्री का प्रेम व आत्मगौरव अपमान सहने के लिए विवश रहता है। पति जब प्रेमी नहीं रह जाता और रिझाने की सभी इच्छाएँ मंद पड़ने लगती हैं तब संबंधों में कटुता पैदा होने लगती है। स्त्रियाँ पुरुषों के मन बहलाव का साधन बनी रहती हैं। ऐसी स्थिति में स्त्रियों की विनम्रता और सुकुमारता सदगुण न रह कर अपमान का साधन बन जाते हैं। मैरी ने इस प्रचलित सामाजिक धारणा का खण्डन किया कि स्त्रियाँ प्राकृतिक या नैसर्गिक रूप से पुरुषों से कमजोर व हीन होती हैं। उनका मानना था कि स्त्री व पुरुष दोनों को तर्कशील प्राणी के रूप में देखा जाना चाहिए और समाज के भविष्य का निर्माण तर्क के आधार पर ही होना चाहिए न कि अंधविश्वासों व धार्मिक मान्यताओं के आधार पर।

मैरी के देहांत के बाद उनके पति विलियम गॉडविन ने उनकी कई अधूरी रचनाओं को छपवाया। 1798 में गॉडविन ने *मेमोयर्स ऑफ द ऑथर ऑफ अ विंडीकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वुमॅन* का प्रकाशन किया जिससे मैरी के गैर-पारम्परिक और अराजक जीवन की जानकारी मिली। मैरी की इस जीवन-शैली के लिए उन्हें लम्बे समय तक अवमानित किया गया। कंज़रवेटिव हलकों ने मैरी को बदनाम करने के लिए कोई कसर नहीं छोड़ी। खुद बर्क ने उनके लिए 'पेटीकोट पहने हुए बर्घरा' की उपमा उछाली। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में नारीवादियों ने मैरी के साथ खुद को जोड़ना पसंद नहीं किया। लेकिन 1881 में जब सूज़न एंथनी, एलिजाबेथ स्टेंटन और मैटिल्डा जोसिलिन केज की कृति *हिस्ट्री ऑफ वुमॅन सफरेज* का प्रकाशन हुआ तो जिन हस्तियों को यह विख्यात रचना समर्पित की गयी थी उनकी सूची में मैरी का नाम सबसे ऊपर था। बीसवीं सदी के आरंभ में नारीवादी आंदोलनों के उभार के साथ मैरी के विचारों का महत्त्व स्थापित हो गया। उन्हें स्त्री-अधिकारों और परम्परागत स्त्रैण मान्यताओं की समीक्षा करने वाली शुरुआती नारीवादी दार्शनिक के रूप में देखा जाने लगा।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इसलामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोर्दरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्राइवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

संदर्भ

1. जी. केली (1992), *रेवोल्यूशनरी फ़ेमिनिज़म : द माइंड ऐंड कैरियर ऑफ मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट*, मैकमिलन, बेसिंगस्टोक.
2. जे. टॉड (2000), *मैरी वूल्सनक्रॉफ़्ट : एक रेवोल्यूशनरी लाइफ़*, बीडनफ्रील्ड ऐंड निकल्सन, लंदन.
3. आर. वार्डिल (1966), *मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट : ए क्रिटिकल बायोग्राफी*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कंसास प्रेस, लिंकन, केएस.

— शिवानी चोपड़ा

मैसूर नरसिंहचार श्रीनिवास

(Maisoor Narsimhchar Shrinivas)

मैसूर नरसिंहचार श्रीनिवास (1916-1999) औपचारिक रूप से भारतीय समाजशास्त्र के आदि-पुरुष भले ही न हों, लेकिन स्वतंत्र भारत में इस अनुशासन को उन्होंने अपने सैद्धांतिक योगदान, जाति की विलक्षण समझ और सहभागी प्रेक्षण की पद्धति के इस्तेमाल से जितना समृद्ध किया है वह उन्हें देश के शीर्षतम समाज-विज्ञानियों में शामिल करने के लिए पर्याप्त है। समाजशास्त्र में उन्हें संस्कृतीकरण, प्रभुत्वशाली जाति और वोट बैंक जैसी मौलिक प्रस्थापनाओं के लिए जाना जाता है। श्रीनिवास संस्थाओं के निर्माता भी थे। बड़ौदा और दिल्ली विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के विभागों की स्थापना का श्रेय उन्हीं को जाता है। शोध और अध्ययन के उच्चस्तरीय संस्थानों की स्थापना और दिशा-निर्देशन के लिहाज से भी भारतीय समाजशास्त्र के विकास में उनका योगदान कालजयी माना जाएगा। ग्रामीण समुदाय और जाति की संरचना के विशिष्ट अध्ययन के अलावा एम.एन. श्रीनिवास ने विज्ञान के सामाजिक प्रभाव, गाँधी के धार्मिक चिंतन, मानवशास्त्र के इतिहास से लेकर जेंडर जैसे विषयों पर भी विचारोत्तेजक काम किया है।

श्रीनिवास का कृतित्व वस्तुनिष्ठ पर्यवेक्षण, विश्लेषण की महीनताओं तथा सैद्धांतिक गहराई का दुर्लभ संगम माना जाता है। उनका लेखन अंतर-विषयकता को एक खास तरह का ज़मीनी संदर्भ प्रदान करता है। श्रीनिवास की समाजशास्त्रीय दृष्टि घटनाओं की बाहरी बनावट को भेद कर उन्हें गढ़ने वाली संरचनाओं और ऐतिहासिक शक्तियों की थाह लेती है। सामुदायिक जीवन के बारीक ब्योरों और अंतर्दृष्टियों को सरल भाषा में प्रस्तुत करने की उनकी क्षमता उन्हें समकालीन समाजशास्त्रियों से एक अलग व्यक्तित्व प्रदान करती है। इस अर्थ में वे विषयगत शब्दावली का



मैसूर नरसिम्हचार श्रीनिवास (1916-1999)

अतिक्रमण करते हुए साधारण और प्रचलित भाषा को चुनते हैं। इसे उनकी विद्वत्ता का जनवाद ही कहा जाएगा कि उनकी सैद्धांतिक अवधारणाएँ अपने कूटार्थों में उलझाने के बजाय विषय को समझने में ज्यादा मदद करती हैं।

श्रीनिवास ने विचाराधारा के स्तर पर भारतीय समाजशास्त्र के लिए एक नयी ज़मीन तैयार की। उल्लेखनीय है कि जिस दौर में श्रीनिवास भारतीय समाज के अध्ययन की तैयारी कर रहे थे उस समय समाज-विज्ञानों पर अमेरिकी और ब्रिटिश अकादमिक प्रस्थापनाएँ हावी थी। अमेरिकी विश्वविद्यालयों में प्रचलित दृष्टिकोण भारतीय उपमहाद्वीप के समाज को समझने के लिए संस्कृतनिष्ठ परम्पराओं पर जोर देता था। इसके असर में भारतीय समाजशास्त्री समकालीन यथार्थ के अध्ययन के लिए संस्कृत के स्रोतों और भारत-विद्या/इण्डोलॉजी को ज्यादा प्रामाणिक मानते थे। श्रीनिवास पहले समाजशास्त्री थे जिन्होंने इस वर्चस्वकारी स्थिति को चुनौती दी। उन्होंने अपने लेखन से साबित किया कि समाजशास्त्र में समाज के वास्तविक कार्यकलापों और गतिविधियों का अध्ययन शास्त्रीय संदर्भों पर निर्भर रहने से ज्यादा श्रेयस्कर है।

श्रीनिवास द्वारा प्रस्तुत प्रभुत्वशाली जाति तथा संस्कृतीकरण की अवधारणाओं का राजनीति विज्ञानियों के अलावा इतिहास-लेखन की सबाल्टर्न जैसी धाराओं के इतिहासकारों ने व्यापक प्रयोग किया गया है। इस अर्थ में उनके कृतित्व को एक बौद्धिक परम्परा की श्रेणी में रखा जा सकता है जो नये-पुराने विद्वानों के लिए एक ज़रूरी संदर्भ

की हैसियत हासिल कर चुका है। प्रसंगवश, प्रभुत्वशाली जाति की अवधारणा संख्या बल, भू-स्वामित्व, शिक्षा और नौकरी जैसे कारकों के कारण किसी जाति के गाँव या क्षेत्र विशेष में दबदबे को जाहिर करती है तो संस्कृतीकरण निम्न जातियों द्वारा उच्च जातियों खास तौर पर ब्राह्मण वर्ग की संस्कृति, रीति-रिवाजों, भाषा और वेशभूषा आदि को अपनाने की प्रवृत्ति को ज्ञापित करती है। हालाँकि उनकी तीसरी अवधारणा वोट बैंक, समाज-विज्ञानों में स्थाई जगह नहीं बना पायी परंतु राजनीति के दैनिक विमर्श और मीडिया जगत में इस पद का धड़ल्ले से इस्तेमाल किया जाता है।

स्वतंत्र भारत की राजनीतिक और सामाजिक संरचना के अध्ययन में ये तीनों अवधारणाएँ और उससे जुड़े विमर्श तात्त्विक महत्त्व हासिल कर चुके हैं। प्रभुत्वशाली जाति और संस्कृतीकरण की अवधारणाएँ भारत की सामाजिक व्यवस्था और उसके सांगठनिक ढाँचे के निर्णायक तत्वों को समझने में मदद करती हैं। हालाँकि ब्राह्मणवादी आदर्शों की घटती वैधता के कारण संस्कृतीकरण की अवधारणा अब उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जाती लेकिन यह तथ्य है कि बीसवीं सदी के एक बड़े कालखण्ड और स्वतंत्रता के बाद भी लम्बे समय तक संस्कृतीकरण एक खासी उल्लेखनीय प्रवृत्ति थी। दलित आंदोलन और मण्डल आयोग के बाद उभरी राजनीति में संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति क्षीण होती गयी है लेकिन प्रभुत्वशाली जाति की अवधारणा को भारत के ग्रामीण समाज में चलने वाली राजनीतिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने में आज भी एक ज़रूरी औजार की तरह देखा जाता है।

कई समकालीन समाजशास्त्री श्रीनिवास के कृतित्व को राष्ट्रवादी समाजशास्त्र के बृहत्तर संदर्भ में रखकर आँकने का आग्रह करते रहे हैं। उनका कहना है कि स्वतंत्र भारत का शहरी अभिजन औपनिवेशिक शासन के आधुनिकीकरण की परियोजना को जारी रखना चाहता था। इसलिए राष्ट्रवादी समाजशास्त्रियों के कृतित्व में चिंतन और विचार की वही औपनिवेशिक सरणियाँ सक्रिय थी जिनके आधार पर ब्रिटिश सत्ता अपने शासन को वैध ठहराती आयी थी। इन विद्वानों का कहना है कि जाति और समुदाय पर केंद्रित श्रीनिवास जैसे समाजशास्त्रियों का कृतित्व एक अखिल भारतीय संस्कृतवादी हिंदू धर्म की समझ को पीठिका प्रदान करता है। लेकिन श्रीनिवास की दृष्टि को प्रकट या अप्रकट तौर पर ब्रिटिश या अमेरिकी मानवशास्त्र की स्थापनाओं से निर्देशित बताना जल्दबाजी की दलील है जो सुबूतों की कमी के बावजूद आरोप पत्र तैयार करने की हिमाकत करती है। यह दलील श्रीनिवास के कृतित्व की उस प्रवृत्ति को लक्षित करने में चूक करती है जिसमें श्रीनिवास समुदाय का अध्ययन करते हुए समुदाय और अपने संबंधों के द्वैत पर भी विचार करते हैं। श्रीनिवास समाजशास्त्र और मानवशास्त्र की बुनियादी

प्रस्थापनाओं पर भी ठीक इसी तरह विचार करते हैं। गौरतलब है कि श्रीनिवास सहभागी अध्येता के तौर पर खुद को एक ऐसे अध्येता के रूप में परिभाषित करते हैं जिसकी इयत्ता अपने विषय यानी लोगों से अलग नहीं है। श्रीनिवास जिन लोगों या समुदाय का अध्ययन करते थे उन्हें वे अन्य की श्रेणी में नहीं रखते थे।

इस संबंध में कई ब्रिटिश मानवशास्त्री यह मानते रहे हैं अपने समाज का अध्ययन करने वाले मानवशास्त्री को अलग तरह की मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। उनके अनुसार विकसित देश का मानवशास्त्री एक देशज मानवशास्त्री को उसकी निम्नतर स्थिति की ओर इशारा करके हमेशा एक खास साँचे में कैद रखना चाहता है। श्रीनिवास ने इस मसले पर देशज मानवशास्त्री की स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि जब कोई भारतीय मानवशास्त्री भारत की किसी जाति या अन्य समूह का अध्ययन करता है तो वह जाति या समूह उसके लिए अन्य भी होता है लेकिन साथ ही इस बात को दरकिनार नहीं करना चाहिए कि उस जाति या समूह के कतिपय सांस्कृतिक रूप, विश्वास और मूल्य उक्त अध्येता से भी मेल खाते हैं। यानी ऐसी स्थिति में भारतीय मानवशास्त्री असल में एक तरह से अन्य में स्व का भी अध्ययन करता है। इस मायने में वह जाति या समूह उसके लिए नितांत अपरिचित या अन्य नहीं रह जाता क्योंकि दोनों एक ही संस्कृति से जुड़े होते हैं। श्रीनिवास इस स्थिति को असामान्य ढंग से जटिल, बहुपरती और द्वैधपूर्ण मानते हैं। ध्यान से देखें तो श्रीनिवास अपने विषय के साथ अंतर और समानता के जिन बिंदुओं बात करते हैं उन्हें देखते हुए उन पर राष्ट्रवादी समाजशास्त्री होने का आरोप दमदार नहीं लगता। वास्तव में श्रीनिवास इस बात पर जोर देते हैं कि अध्ययन में आत्म और अन्य की यह बहुलता मानवशास्त्री के अपने समुदाय का सदस्य होने या बाहरी होने की एकलता से कहीं ज्यादा श्रेयस्कर है।

यह गौरतलब है कि अपने शोध अध्ययन के लिए श्रीनिवास ने जिस रामपुरा गाँव को चुना था उसकी जाति व्यवस्था के अध्ययन में वे शिकागो स्कूल के कई प्रेक्षणों का उपयोग करते हैं। वर्ण की प्राक्-ब्रिटिश अवधारणा को श्रीनिवास किताबी नजरिया सिद्ध करते हुए यह कहते हैं कि यह दृष्टि जाति के गतिशील पक्षों को गौण कर देती है। हालाँकि श्रीनिवास का जाति-अध्ययन एक गाँव की स्थानीय संरचना पर केंद्रित था लेकिन वह इस परिघटना की अखिल भारतीय व्याप्ति को लेकर भी सचेत थे। अपने एक लेख में वे इस तथ्य की ओर इशारा करते हैं कि जाति निस्संदेह एक अखिल भारतीय संरचना है, क्योंकि देश में हर जगह ऐसे समूह देखे जा सकते हैं जो पैतृकता तथा वैवाहिक संबंधों के आधार पर एक विशिष्ट समूह का निर्माण करते हैं। श्रीनिवास इस संबंध में इन समूहों के पारम्परिक रोजगार का हवाला भी

देते हैं। उनका यह भी कहना है कि देश में हर जगह ब्राह्मण, अछूत, किसान, दस्तकार, व्यापारी और दूसरों की सेवा करने वाली जातियों का अस्तित्व देखा जा सकता है। जाति के इस अध्ययन में श्रीनिवास क्षेत्रीय भिन्नताओं और पश्चिमी शिक्षा, प्रशासनिक नौकरी, शहर से मिलने वाली आय जैसे कारकों का भी उल्लेख करते हैं जिनका जाति की संरचना पर व्यापक असर पड़ा है।

इस तरह दीर्घ अवधि के लिहाज से देखें तो एक समाजशास्त्री के तौर पर श्रीनिवास ने भारतीय ग्राम और जाति की संरचना को औपनिवेशिक धारणाओं के सैद्धांतिक वर्चस्व से भी मुक्त कराया है। और साथ ही छूमों जैसे समाजशास्त्री की मान्यताओं का भी प्रतिवाद किया जो यह प्रतिपादित कर रहे थे कि जातिगत विभिन्नताएँ भारतीय गाँव को समुदाय का रूप नहीं लेने देती। श्रीनिवास जब ग्रामीण समुदाय की संकल्पना और गाँवों की आर्थिक-सांस्कृतिक अंतर-निर्भरता की बात करते हैं तो वे अव्यक्त ढंग से अखिल भारतीय सभ्यता की बात भी करते हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि श्रीनिवास ने जाति के अध्ययन में ब्राह्मणवादी या उच्च जाति का दृष्टिकोण अपनाया है। लेकिन इस दलील को सही कोण से देखें तो वह दरअसल औपनिवेशिक समाजशास्त्र से निकली प्रतीत होती है। श्रीनिवास की तर्क-योजना वास्तव में पश्चिमी समाजशास्त्रियों की भारत के ग्रामीण समुदायों के संबंध में प्रतिपादित स्थूल और अल्प-चिंतित धारणाओं को उजागर करती है। संक्षेप में कहा जाए तो श्रीनिवास का कृतित्व पश्चिमी ज्ञानशास्त्रीय प्रस्थापनाओं, स्व, समुदाय तथा राष्ट्र की धारणाओं के आलोचकीय विमर्श में कई बुनियादी तर्क मुहैया कराता है।

देखें : इरावती कर्वे, जातियों का राजनीतीकरण, जाति और जाति-व्यवस्था-1 से 4 तक, गोविंद सदाशिव चुर्ये, प्रभुत्वशाली जाति, भारतीय समाजशास्त्र-1 और 2, देवकी जैन, धीरूभाई शेठ, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, नीरा देसाई, योगेश अटल, राधा कमल मुखर्जी, वेरियर एलविन, संस्कृतीकरण, श्यामा चरण दुबे-1 और 2.

संदर्भ

1. रामचंद्र गुहा और ए.एम. शाह (2009), *ऑक्सफ़र्ड इण्डिया श्रीनिवास*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. निकोलस बी. डक्स (2001), *कास्ट्स ऑफ़ माइंड : कोलोनियलिज्म ऐंड द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.
3. वीणा दास (2000), 'इन मेमोरियम : एम.एन. श्रीनिवास 1916-1999', *सेमिनार*, 2000
4. क्रिस फुलर, *एन इंटरव्यू विद एम.एन. श्रीनिवास* (ऑनलाइन). एलएसई रिसर्च ऑनलाइन, लंदन, <http://eprints.lse.ac.uk/archive/00000467> पर उपलब्ध.

मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1

इंद्रियानुभववादी ज्ञानमीमांसा की आलोचना

(Mohandas Karmchand Gandhi-1)

भारतीय राष्ट्र-राज्य के संस्थापक, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के सर्वप्रमुख नेता, सामाजिक और सभ्यतामूलक चिंतक मोहनदास कर्मचंद गाँधी (1869-1948) आधुनिक राजनीति में सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, विनय, सेवा, स्वराज, स्वदेशी, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, ट्रस्टीशिप, सर्वोदय और अंत्योदय जैसी अवधारणाओं के समावेश के लिए विश्व-विख्यात हैं। गाँधी ने कई अवसरों पर कहा कि मेरा जीवन ही मेरा संदेश है। उन्होंने अपने एक निकटतम सहयोगी से यह भी कहा था कि उन्हें समझने के लिए उन्हें उनकी सतत क्रियाशीलता के बीच देखना होगा। इसके बावजूद यह भी एक तथ्य है कि गाँधी अहर्निश लेखक-पत्रकार भी थे और उनका चिंतन खुद उनके लिखे हुए शब्दों में कोई नब्बे से ज्यादा खण्डों में संकलित है। गाँधी एक सुव्यवस्थित और प्रणालीबद्ध चिंतक नहीं थे, पर उनके विचारों ने पिछली आधी सदी से दुनिया के प्रत्येक विचार-पंथ के अनुयायियों को प्रभावित किया है। गाँधी की सर्वाधिक प्रभावशाली रचना *हिंद स्वराज* मानी जाती है जो उन्होंने अपने बौद्धिक जीवन के शुरुआत में ही गुजराती में लिखी थी। संवाद-शैली में लिखी गयी इस रचना में उन्होंने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की दूरगामी दृष्टि से गहन आलोचना की है। *हिंद स्वराज* के पृष्ठ उस संज्ञानात्मक दासता की दुश्चिंताओं और उनके विरुद्ध चेतावनी से भरे हुए हैं जिनका शिकार उपनिवेशवाद के खिलाफ संघर्ष करने वाला राष्ट्रवादी मानस आसानी से हो सकता है।

गाँधी के विचारों पर थोरो, तॉल्स्टॉय और रस्किन के साथ-साथ बाइबिल के संदेशों, हिंदू-वैष्णव मूल्यों, भगवद्गीता और अद्वैत वेदांत का मिला-जुला प्रभाव था। इन्हीं आधारों पर उन्होंने एक ऐसा नैतिक, राजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम तैयार किया जो व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के हर आयाम को स्पर्श करता है। परम्परा-समर्थक एवं परम्परा-विरोधी दोनों ही अपने तर्क का समर्थन गाँधी-चिंतन में खोजते हुए मिल जाते हैं। वहीं आधुनिकतावादी और उत्तर-आधुनिकतावादी भी गाँधी को अपने पक्ष में खड़ा करने हेतु प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। मार्क्सवाद को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने वाले समाजवादियों ने भी अपने को गाँधी के साथ जोड़ कर गाँधीवादी समाजवाद का सृजन कर लिया है। हिंदुत्ववादियों के राजनीतिक प्रतिनिधियों ने भी गाँधी की विरासत से वैधता हासिल करने की कोशिश

की है। अराजकतावादियों ने गाँधी को नैतिक अराजकतावादी बताकर खुद से जोड़ा है। दरअसल, गाँधी के विचारों की मौलिकता और रैडिकलिज़्म की प्रकृति कुछ ऐसी है कि उन्हें किसी पूर्व-स्थापित खाँचे में फिट नहीं किया जा सकता। आम तौर पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का दार्शनिक पक्ष उनकी अभूतपूर्व राजनीतिक उपलब्धियों और विवादों के साथ-साथ उनकी महात्मा छवि के पीछे छिप जाता है और उनकी वैचारिकता का पूरा संधान नहीं हो पाता।

गाँधी ने अहिंसा के प्रत्यय का उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के खिलाफ गोलबंदी में कामयाबी से इस्तेमाल किया। एक विचार के तौर पर अहिंसा का स्रोत गाँधी की धार्मिक पृष्ठभूमि में तो है ही, राजनीतिक दर्शन के लिहाज़ से गाँधी यह विचार युरोपीय ज्ञानोदय से उद्भूत विचारधाराओं की सर्वांगीण आलोचना की ज़मीन पर स्थित है। साथ ही गाँधी की अहिंसा ज्ञानोदय से करीब सौ साल पहले विकसित हुए उस बौद्धिक प्रतिमान की सम्पूर्ण आलोचना पर भी टिकी हुई है जिसके आधार पर जीवन और जगत को समझने और नियंत्रित करने का काम विज्ञान को अंतिम रूप से सौंप दिया गया था। अहिंसा के विचार और रणनीति का एक दूसरा पहलू भी है। उदारतावादी राजनीतिक सिद्धांत मान कर चलता है कि अगर राजनीतिक कार्रवाई संवैधानिक दायरे में की जाए तो उसे हिंसक रुझान लेने से रोका जा सकता है। लेकिन गाँधी की राजनीतिक रणनीति न केवल अहिंसक थी, बल्कि वह ग़ैर-संविधानपरक भी थी। सविनय अवज्ञा के उसूल का यह सारतत्व उदारतावादी चिंतन से परे जाता है।

गाँधी का विचार था कि हिंसक क्रांतिकारी कार्रवाई व्यापक पैमाने पर जन-भागीदारी को प्रोत्साहित नहीं कर सकती। दूसरे, वे यह भी नहीं चाहते थे कि उदीयमान भारतीय राष्ट्रवाद उच्च-मध्यमवर्गीय सुशिक्षित और वकीलों की तरह बहस में प्रशिक्षित पुरुष-अभिजन की ठेकेदारी बन कर रह जाए। इसलिए उन्होंने आज़ादी की लड़ाई को विधायिकाओं और गोलमेज़ सम्मेलनों की बहस के साथ-साथ जनांदोलन की राजनीति के रूप में भी कल्पित किया। इस प्रक्रिया में कांग्रेस पार्टी, जो गाँधी के दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटते समय नरम दल बनाम गरम दल की दुविधा में फँसी हुई थी, कुछ ही वर्षों में एक सशक्त जनांदोलन में बदल गयी। ध्यान रखने वाली बात है कि गाँधी सत्य का संधान करने वाले जिस सत्याग्रही को कल्पित करते हैं, वह लेनिन द्वारा कल्पित हरावल दस्ते का ऐसा सदस्य नहीं है जिसे क्रांति का नेतृत्व करना है। सत्याग्रही को तो केवल नैतिक उदाहरण की तरह विशाल किसान जनता के सामने खुद को पेश करना था। वह कम्युनिस्ट आइडियॉलॉग की तरह इतिहास की अनिवार्य अग्रगति का प्रवक्ता नहीं था। तीसरे, गाँधी चाहते थे कि भारतीय जनता सिर्फ अंग्रेज़ों को देश छोड़ कर चले जाने के



मोहनदास कर्मचंद गाँधी (1869-1948)

लिए ही न कहे, बल्कि इसके लिए वह कुछ ऐसे साधन अपनाये जो उन विचारों और संस्थाओं से भिन्न हों जो उपनिवेशवादियों ने भारत पर थोपे थे।

गाँधी ने मुख्य रूप से हिंदू स्वराज में एवं आनुषांगिक रूप से अपने फुटकर लेखन में आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के प्रायः सभी पक्षों की आलोचनात्मक समीक्षा की है। आधुनिक सभ्यता को परिपुष्ट करने वाली इंद्रियानुभववादी ज्ञानमीमांसा, आधुनिक सभ्यता द्वारा निर्मित अहंवादी एवं स्व-केंद्रित मानव प्रकृति, आधुनिक सभ्यता के आर्थिक पक्ष की मेरुदण्ड मशीन एवं उद्योग गाँधी की दृष्टि में अनीति को बढ़ावा देने वाले हैं। गाँधी ने कार्य-विशेषीकरण से उत्पन्न पराश्रितता एवं विभेद, संगठित शक्ति से व्युत्पन्न हिंसा और अमर्यादित स्वतंत्रता तथा छद्म समानता के समीकरणों का जन्म देने के लिए भी आधुनिक सभ्यता को उत्तरदायी ठहराया है। गाँधी भौतिक एवं प्राकृतिक शक्तियों के प्रयोग की क्षमता के रूप में सभ्यता को परिभाषित करने की प्रवृत्ति नकारते हैं। इस रूप में जब सभ्यता को परिभाषित किया जाता है तब अनिवार्य रूप से इसकी परिणति आधुनिक सभ्यता की श्रेष्ठता स्थापित करने में होती है। इसकी जगह गाँधी सभ्यता को परिभाषित करते हुए परिणामवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। उनकी दृष्टि में सभ्यता का तात्पर्य है अपने असली स्वरूप की पहचान जो मन एवं इंद्रियों को वश में रखने और कर्तव्य पालन से प्रकट होती है।

इसके उलट सामाजिक डार्विनवाद से उत्प्रेरित चिंतन के प्रभाव के तहत उदारतावाद की मान्यताओं ने आधुनिक सभ्यता में मनुष्य को स्वार्थी, हिंसक एवं स्व-केंद्रित प्राणी के रूप में परिभाषित किया है। स्वयं गाँधी भी मनुष्य में एक ही साथ दैवी एवं आसुरी प्रवृत्तियों को समाहित मानते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि इन दोनों प्रवृत्तियों की तीव्रता प्रायः समान ही होती है। किंतु गाँधी निरंतर अभ्यास से दैवी

प्रवृत्तियों के उत्थान में मानव को सक्षम मानते हैं। मानव की यही सक्षमता गाँधी की दृष्टि में मानवीय गरिमा का आधार है। गाँधी ने आधुनिक सभ्यता की आलोचना के क्रम में यह दर्शाया है कि आधुनिक सभ्यता मनुष्य की स्वार्थी प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने के आधार पर ही टिकी हुई है। विशालकाय उद्योगों में बड़े पैमाने पर उत्पादित वस्तुओं की खपत स्वार्थ एवं भोगलिप्सा के बिना सम्भव नहीं है। गाँधी ने इस तथ्य को बखूबी समझा है कि आधुनिक सभ्यता का पोषक उदारतावाद जिस मानवीय विवेक को प्रोत्साहित करता है वह मनुष्य को उत्पादक, उपभोक्ता एवं वितरक के रूप में परिष्कृत करने में जितना सहयोगी है उतना स्वार्थ को परमार्थ के रूप में परिमार्जित करने में नहीं है।

आधुनिक सभ्यता की इंद्रियानुभववादी ज्ञानमीमांसा को भी गाँधी ने अपूर्ण बताया है। साथ ही आधुनिक सभ्यता द्वारा 'विवेक' को अतिशय महत्व दिये जाने का भी विरोध किया है। गाँधी का मानना है कि तार्किक विचारों द्वारा असत्य को जाना जा सकता है परंतु सत्य को जानने और मानने के लिए अतार्किक आत्मीय मनोभावों का भी सहारा लेना पड़ता है। गाँधी के अनुसार व्यक्ति का समग्र व्यक्तित्व मस्तिष्क मन, बौद्धिकता एवं नैतिकता का समाविष्ट स्वरूप है। इन सब का स्पष्ट पारदर्शी विभाजन सम्भव नहीं है। बौद्धिकता मस्तिष्क को प्रेरित करती है पर किसी महान कार्य के संचालन के लिए मस्तिष्क एवं हृदय दोनों की प्रेरणा आवश्यक होती है।

गाँधी समझते हैं कि प्रेम, विश्वास और क्षमा का मूल स्रोत विवेक नहीं है, लेकिन इनके बिना सर्वोत्तम प्राणी के रूप में मनुष्य की परिकल्पना भी सम्भव नहीं है। प्रेम, विश्वास और क्षमा को गाँधी मनुष्य की विकासात्मक क्षमता की परिपूर्णता के लिए आवश्यक मानते हैं। इसके अभाव में मनुष्य हरबर्ट मारक्वुज़ के शब्दों में 'एकायामी' बन कर रह जाता है। कोरा इंद्रियानुभववादी ज्ञान मनुष्य के समक्ष उदात्त मानवीय लक्ष्यों को प्रस्तुत करने में भी अक्षम है। यह भौतिक तृप्ति के लिए मानवीय संवेगों की यथार्थता को परिपुष्ट तो अवश्य करता है लेकिन इससे जिस उपभोक्ता रूपी मानव का सृजन होता है वह साहचर्यजनित उदात्त मानवीय पक्ष की उपेक्षा करता है। आधुनिक सभ्यता की आलोचना का यही पक्ष तरुण मार्क्स में बेगानगी की संकल्पना और उसकी पीड़ा के रूप में व्यक्त हुआ है। गाँधी के चिंतन में कर्तव्य-पालन की संकल्पना वस्तुतः मानवीय साहचर्य एवं संयम के माध्यम से आधुनिक सभ्यता की उस पीड़ा का शमन प्रस्तुत करती है जिसे सार्त्र ने चयन की स्वतंत्रता से उत्पन्न माना है। आधुनिक सभ्यता द्वारा निर्मित एकाकी मानव एवं 'अणुवादी समाज' का द्वंद्व गाँधी की निगाह में उसकी अपनी ही ज्ञानमीमांसा में निहित है।

आधुनिक सभ्यता के निर्माण एवं विकास में मशीनीकरण एवं उद्योगीकरण मेरुदण्ड की भाँति है। मशीनीकरण एवं उद्योगीकरण दक्षता आधारित श्रम-शक्ति के अभाव में संचालित नहीं हो सकता। गाँधी ने आधुनिक सभ्यता के इन तीनों पक्षों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उन्होंने स्वार्थी मनुष्य की संकल्पना को उद्योगवाद के प्रेरक के रूप में प्रस्तुत किया। यह उद्योगवाद जिस केंद्रीकृत उत्पादन-पद्धति को जन्म देता है उससे एक तो क्षेत्रीय असंतुलन का जन्म होता है और दूसरे यह उपभोग के मनोविज्ञान को निरंतर संचार माध्यमों के प्रयोग से प्रेरित करता रहता है। उपभोग के मनोविज्ञान का प्रभाव अंततः मनुष्य के स्वतंत्र कर्ता के स्वरूप को भी धूमिल कर देता है और मानवीय विवेक की स्वतंत्रता भी यांत्रिक होकर रह जाती है।

गाँधी ने उद्योगीकरण के माध्यम से अधिशेष उत्पादन की दो अन्य समस्याओं का भी उल्लेख किया है, जिसमें एक है वितरण की समस्या और दूसरी है अधिशेष उत्पादन की खपत के लिए उपनिवेशीकरण की नीति को प्रश्रय। मार्क्स सदृश विचारकों में उपनिवेशवाद का तीव्र विरोध तो है, पर इसे दूर करने के लिए वे गाँधी की तरह औद्योगिक उत्पादन के विरुद्ध नहीं खड़े होते। न ही इन विचारकों ने केंद्रीकृत उत्पादन पद्धति पर गाँधी की तरह प्रहार किया है। वस्तुतः मार्क्स सदृश विचारकों ने 'जहर की दवा जहर' के तर्क में ही मानवता का कल्याण खोजा है। गाँधी केंद्रीकृत पूँजीवादी औद्योगिक उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियंत्रण के माध्यम से आधुनिक सभ्यता के दोषों के निराकरण के प्रयास को अपर्याप्त मानते हैं। वे इसकी जगह स्वदेशी की संकल्पना और ग्राम आधारित स्वयं-पर्याप्त इकाइयों की स्थापना को श्रेयस्कर समझते हैं। वे इंद्रिय संयम के प्रयोग द्वारा उपभोक्तावादी मनोविज्ञान को बदल कर व्यापक पैमाने पर उत्पादन की आवश्यकता को ही नष्ट करना चाहते हैं।

देखें : अहिंसा, आजादी के लिए सशस्त्र संघर्ष-1, 2, और 3, आर्थिक राष्ट्रवाद-1 और 2, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, आशिस नंदी-1 और 2, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में स्त्री-नेतृत्व-1 और 2, गोपाल कृष्ण गोखले, चेतपट वेंकटसुब्बन शेषाद्रि, जय प्रकाश नारायण, जोसेफ़ चेल्लादुरै कुमारप्पा, ट्रस्टीशिप, नरेंद्र देव, बाल गंगाधर तिलक, भारतीय राष्ट्रवाद, राममनोहर लोहिया, भीखू छोटालाल पारिख, लेव निकोलाइविच तॉल्स्तॉय, वर्धा शिक्षा योजना, विवेकानंद, वि-उपनिवेशवाद, विनोबा भावे, सर्वोदय, सविनय अवज्ञा, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. जैनेंद्र कुमार (1985), *अकालपुरुष गाँधी*, पूर्वोदय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. रामजी सिंह (1986), *गाँधी दर्शन मीमांसा*, बिहार हिंदी गंध

अकादमी, पटना.

3. महात्मा गाँधी (1981), *आत्मकथा : सत्य के साथ मेरे प्रयोग*, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. महात्मा गाँधी (2006), *हिंद स्वराज्य*, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी.
5. अम्बिका दत्त शर्मा (2009), 'हिंद स्वराज एवं कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो का पुनर्पाठ', *उन्मीलन*, वर्ष 23, अंक 2.

— विश्वनाथ मिश्र और उपासना पाण्डेय

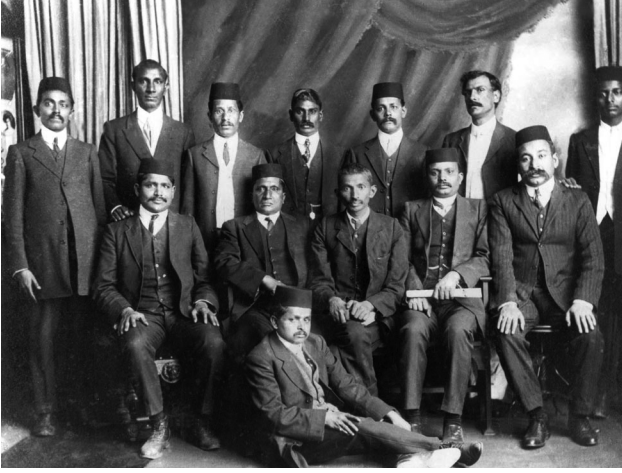
मोहनदास कर्मचंद गाँधी-2

उदारतावाद और लोकतंत्र की गहन मीमांसा

(Mohandas Karmchand Gandhi-2)

गाँधी ने आधुनिक सभ्यता को बढ़ावा देने में यंत्रों की भूमिका को भी उजागर किया है और इससे उत्पन्न विकृतियों की पहचान की है। गाँधी के चिंतन का यह पक्ष अनेक स्पष्टीकरण के साथ समझे जाने की प्रत्याशा रखता है। गाँधी मानव के शरीर को भी एक नाजुक यंत्र के रूप में देखते हैं और दाँत-कुरेदनी भी उनके लिए एक यंत्र ही है। वे सिलाई मशीन की उपयोगिता और चरखे के महत्त्व को भी रेखांकित करते हैं जो मूलतः यंत्र ही है। वस्तुतः गाँधी द्वारा मशीनों के विरोध के पीछे मानवीय श्रम का बड़े पैमाने पर विस्थापन है। भीखू पारिख लिखते हैं कि गाँधी यंत्र के प्रयोग से समय एवं श्रम के बचत के महत्त्व की उपेक्षा नहीं करते हैं, पर वे यंत्रों के प्रयोग के लालच और यंत्रों के प्रयोग से उत्पन्न शोषण का विरोध करते हैं। आधुनिक सभ्यता के यांत्रिक पक्ष को गाँधी ने मानवीय श्रम की महत्ता को कम करने और विशेषीकृत यंत्रों के प्रयोग के लिए विशेषीकृत ज्ञान की आवश्यकता के कारण भी निषिद्ध बताया है। गाँधी के अनुसार विशेषीकृत ज्ञान 'आत्मकेंद्रित-अहंवाद' को पुष्ट करता है और इससे मानव-मानव में श्रेणीगत विभेद भी पैदा होता है।

मशीनों के प्रयोग से आरामदायक जिंदगी की परिकल्पना की गाँधी ने मशीनों पर मनुष्य की निर्भरता के रूप में व्याख्या की है। गाँधी की दृष्टि में मशीनों के प्रयोग यथा संचार, रेल, छापाखाना आदि ने आधुनिक सभ्यता के दोषों का संवहन किया है। गाँधी की दृष्टि में मशीनों का प्रयोग साथी मनुष्य की सहयोगी वृत्ति से तादात्म्य स्थापित करने में बाधक बनती है। मशीन मनुष्य को स्वयं पर्याप्त होने की छद्म चेतना से ढक लेती है और चारों ओर से मशीनों से घिरा हुआ मनुष्य अन्ततः नितांत असहाय सा बन जाता है। तब वह एक



दक्षिण अफ्रीका में अपने सहयोगियों के साथ गाँधी

ओर तो साथी मनुष्यों से कट जाता है और दूसरी ओर स्वयं अपनी क्षमता के उपयोग की शक्ति को भी मशीन के हवाले कर देता है।

गाँधी आधुनिक सभ्यता के दोषों का उल्लेख करते हुए श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण की कमियों का भी उल्लेख करते हैं। डॉक्टर एवं वकील के पेशे के उदाहरण के माध्यम से गाँधी ने दक्षता आधारित श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण को सामाजिक जीवन की सरलता को नष्ट करने वाला बताया है। आधुनिक सभ्यता में ऐसे विशेषज्ञों को गाँधी ने मानवीय नैतिकता से बढ़ कर व्यवसायगत नैतिकता के पक्षपोषण का हिमायती बताया है। ऐसे विशेषज्ञ आधुनिक सभ्यता के अनुकूल व्यक्ति को ढालने का यत्न करते हैं, जिससे आधुनिक सभ्यता की विकृतियों को भी वैधता प्राप्त हो जाती है। विशेषज्ञ अपनी विशेषज्ञता का उपयोग अपनी व्यक्तिगत समृद्धि को बढ़ाने और अपने पेशे के आर्थिक महत्व को स्थापित करने में करते हैं। वे विकृतियों, दोषों एवं रोगों को समूल नष्ट करने के लिए उनके मूल कारणों की खोज और उसके निदान के बजाय तात्कालिक राहत प्रदान कराने का कार्य करते हैं। विशेषज्ञों की इस प्रवृत्ति से तात्कालिक राहत पाकर पीड़ित व्यक्ति पुनः उन कार्यों में संलग्न हो जाता है जिससे उसमें विकृति आयी है। वह पुनः पीड़ित होकर विशेषज्ञों की शरण में जाता है और यह दुष्चक्र चलता ही रहता है। गाँधी ने विशेषज्ञता आधारित कर्मों के आर्थिक महत्व को मानवीय गुणों को विकसित होने के मार्ग में भी बाधक माना है। साथ ही विशेषज्ञता अर्जन की प्रवृत्ति को मानवीय क्षमता के बहुमुखी विकास में भी अवरोधक बताया है।

गाँधी ने आधुनिक सभ्यता के नियंत्रक एवं पथ प्रदर्शक के रूप में लोकतंत्र की भूमिका की भी गहन मीमांसा की है। गाँधी अल्पमत एवं बहुमत के आधार पर सत्य को

परिभाषित करने की मान्यता को नकारते हैं। प्रजातंत्र में सत्य की परख अल्पमत और बहुमत में भिन्न-भिन्न हो जाती है। संसदीय प्रजातंत्र की तो गाँधी ने अत्यंत कटु आलोचना की है। उनके अनुसार शासन की यह प्रणाली दबाव के अभाव में सक्रिय ही नहीं होती है। यह जनता के धन का अपव्यय करती है और जिन विधियों का यह निर्माण करती है उनके पालन के प्रति स्वयं जनप्रतिनिधि ही निष्ठावान नहीं होते हैं। गाँधी ने प्रजातंत्र को समुदाचार (मास बिहेवियर) को बढ़ावा देने के लिए भी कटघरे में खड़ा किया है। यद्यपि गाँधी ने सत्य के सापेक्षिक स्वरूप के साथ निरपेक्ष स्वरूप के अस्तित्व को स्वीकार किया है और वे पूर्ण सत्य की प्राप्ति के लिए सत्य के एकांश को भी स्वीकारते हैं, फिर भी वे इस तथ्य से सहमत नहीं हैं कि समुदाचार में निहित विचार सदैव कल्याणकारी ही होगा। संसदीय प्रजातंत्र की दलबंदी एवं संसद में बहस के गिरते स्तर को भी गाँधी ने रेखांकित किया है। गाँधी ने संसदीय प्रजातंत्र को यंत्र, उद्योग एवं अर्थव्यवस्था के अनुगामी के रूप में चित्रित किया है। वस्तुतः इन शक्तियों पर प्रभुत्व रखने वाले वर्ग द्वारा ही संसदीय प्रजातंत्र नियंत्रित होता है। संसदीय प्रजातंत्र द्वारा प्रक्षेपित स्वतंत्रता एवं समानता की धारणा को भी गाँधी ने सीमित एवं अपर्याप्त बताया है।

आधुनिक सभ्यता की स्वतंत्रता एवं समानता की धारणा जिस उदारतावादी परिवेश में अस्तित्व ग्रहण करती है गाँधी के अनुसार वह मानव स्वभाव की भ्रांत धारणा एवं भ्रांत लक्ष्य पर आधारित है। आधुनिक सभ्यता में उदारतावाद ने उस व्यक्ति की स्वतंत्रता का लक्ष्य सामने रखा है जो समाज से कटा हुआ है। वास्तव में यह व्यक्ति की अमूर्त धारणा है और उदारतावाद ने ऐसे व्यक्ति के लिए निरपेक्ष स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि तैयार की है। समाज में न तो अमूर्त व्यक्ति होता है न ही निरपेक्ष स्वतंत्रता। गाँधी इस तथ्य के प्रति भी सचेत हैं कि आधुनिक सभ्यता में उदारतावाद पर लोकतंत्र के दबाव ने समानता के विचार को बढ़ावा दिया है। वास्तव में आधुनिक सभ्यता की मौलिक ज्ञानमीमांसा में समानता का विचार अत्यंत क्षीण है। समानता के विचार को प्रश्रय आधुनिक सभ्यता में लोकतंत्र के प्रक्रियात्मक पहलू ने दिया है। समानता का यह विचार भी स्वतंत्रता के सम्प्रत्यय की ही तरह छद्म एवं प्रक्षेपित है। गाँधी मानव-मात्र की समानता में विश्वास करते हैं, लेकिन उन्हें आधुनिक सभ्यता की समानता की धारणा स्वीकार्य नहीं है। यह भौतिक उपलब्धियों को प्राप्त करने के क्षेत्र तक ही समानता को सीमित करती है।

बढ़ती हुई हिंसात्मक वृत्ति को आधार बनाकर भी गाँधी ने आधुनिक सभ्यता की आलोचना की है। आधुनिक सभ्यता की हिंसात्मक वृत्ति अनेक रूपों में प्रकट होती है। श्रम एवं लाभ का शोषण जहाँ हिंसा के एक स्रोत हैं। वहीं वैचारिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रभुत्व की

स्थापना या इसके प्रयास हिंसा के दूसरे स्रोत हैं। गाँधी ने इन हिंसाओं को रोकने के नाम पर राज्य की बढ़ती हुई शक्ति को संदेह की नजर से देखा है। गाँधी किसी भी संगठित शक्ति को हिंसा के मूर्तिमान पुंज के रूप में ही देखते हैं। गाँधी ने राज्यों के मध्य व्याप्त शास्त्रों की जिस होड़ को देखा था वह आज 'अतिमारकता' के युग तक आ पहुँचा है। गाँधी शास्त्रों की होड़ और सैन्य प्रतिस्पर्धा को आधुनिक सभ्यता की बर्बर निशानी मानते हैं। गाँधी ने आधुनिक सभ्यता में साहचर्य आधारित संबंधों के टूटने के दुष्परिणाम के रूप में राज्य की बढ़ती शक्ति को रेखांकित किया है। गाँधी का विचार है कि आधुनिक राज्यों की शक्ति में वृद्धि मात्र आर्थिक तकनीकी एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं के कारण ही नहीं हुई है। अपितु यह मानवीय साहचर्य के घटते हुए परिवेश की खाई को पाटने के उद्देश्य से भी हुई है। किन्तु विडम्बना यह है कि जैसा कि हान्ना एरेंट भी स्वीकार करती हैं कि मानवीय साहचर्य के परिवेश को सृजित करने में आधुनिक राज्यों की भूमिका अत्यंत नकारात्मक है। आधुनिक सभ्यता के छलावे मनुष्य को ऐसे प्रलोभन में रखते हैं जहाँ मनुष्य के भीतर दमनात्मक सहनशीलता का जन्म हो जाता है।

गाँधी-विचार का ज्ञानमीमांसक विश्लेषण करते हुए उनकी राजनीतिक रणनीति की जेंडर-संवेदनशीलता रेखांकित करना ज़रूरी है। यह गाँधी की दूरदृष्टि ही थी जिसने यह माना कि जब तक अबला को सबला नहीं बनाया जाएगा तब तक स्वराज का निहितार्थ सिद्ध नहीं होगा। गाँधी स्वराज की डोर स्त्रियों के हाथ में देना चाहते थे, क्योंकि वे स्त्री-शक्ति के प्रति पूर्णतः आश्वस्त थे। वे कहते थे यदि शक्ति का मतलब केवल पशु बल ही होता है तो बेशक स्त्रियों में पशु बल कम है। लेकिन यदि उसका अर्थ नैतिक शक्ति होता है तो स्त्रियों की शक्ति से पुरुषों की शक्ति की कोई तुलना नहीं की जा सकती। गाँधी ने माना कि स्त्रियों का भी एक अलग व्यक्तित्व है एवं इस व्यक्तित्व की भी अपनी एक गरिमा है। समाज के उत्थान में यदि इस व्यक्तित्व को स्थान नहीं मिलता तो किसी भी प्रकार का स्वराज मात्र आंशिक ही होगा।

गाँधी ने स्वराज की अहिंसक लड़ाई में स्त्रियों का विशेष रूप से आह्वान किया। उनकी मान्यता थी कि अहिंसक संघर्ष में स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक भाग ले सकती हैं, क्योंकि वे त्याग और दया की और इसीलिए अहिंसा की मूर्ति हैं। पुरुष अहिंसा और धर्म को केवल बुद्धि से ही समझते हैं वहीं स्त्रियों के लिए यह एक ऐसी वस्तु है जिसे वे जन्म से ही जानती हैं। पारिवारिक उत्तरदायित्वों का सतत निर्वहन स्त्रियों में प्रकृति प्रदत्त सेवा भाव संबंधी गुणों का उत्तरोत्तर विकास करता है जिससे वे हृदय-परिवर्तन संबंधी अहिंसक युद्ध के अंतिम ध्येय को सहज ही प्राप्त कर लेती हैं। सत्याग्रह का मर्म कष्ट सहने में है और स्त्रियों को तो कष्ट सहने की

अदम्य शक्ति प्रकृति से ही प्राप्त है। गाँधी के आह्वान पर अनगिनत स्त्रियों ने अहिंसात्मक सत्याग्रह की कमान सँभाली तथा यथायोग्य अंशदान दिया। गाँधी का अभिप्राय कभी भी स्त्रियों द्वारा पुरुषों की नक़ल करना अथवा दोनों के स्वभावगत अंतर को अनदेखा कर देना नहीं था। गाँधी स्वीकारते हैं कि आत्मिक रूप से एक होते हुए भी स्त्री और पुरुष में प्रकृतिगत विभेद है और यही उनकी समाज के प्रति भूमिका की विभिन्नता को दर्शाता है।

आधुनिक युग में स्त्रियों की बदतर स्थिति के लिए भी गाँधी ने आधुनिक सभ्यता की आलोचना की है। आधुनिक सभ्यता ने एक ओर विशेषज्ञता आधारित कर्मों के आर्थिक महत्व को स्थापित करके स्त्रियोचित गुणों के सृजनात्मक एवं पोषणात्मक कर्मों की अपेक्षा की है दूसरी ओर इसने भौतिक बल की श्रेष्ठता को स्थापित करके स्त्रियों के नैतिकबल को ढक दिया है। आधुनिक सभ्यता ने स्त्रियों को उपभोग्य के रूप में प्रस्तुत करके उनके शोषण को बढ़ावा दिया है। गाँधी ने स्त्रियों में सत्यानुशीलन की क्षमता एवं अहिंसा के लिए आवश्यक सतत प्रेम की प्रवृत्ति को पुरुषों की अपेक्षा अधिक माना है। किन्तु आधुनिक सभ्यता ने स्त्रियों में प्राकृतिक रूप से निहित इन गुणों को आलोकित करने के बजाय स्त्रियों के लिए भी पुरुषोचित मापदण्डों को ही सामने रखा है। फलतः आधुनिक सभ्यता में स्त्रियाँ पुरुषोचित दक्षता को प्राप्त करके अपने को सशक्त मानने के प्रयत्नों में संलग्न हैं। किन्तु इससे एक तो स्त्रियाँ निरन्तर पुरुषों से पीछे रह जाती हैं और दूसरे अपने मूल स्वरूप से भटक जाती हैं।

गाँधी का सभ्यता विमर्श जितना विस्तृत एवं व्यापक है प्रायः उतनी विस्तृत एवं व्यापक आलोचना इस विमर्श के संदर्भ में देखने को नहीं मिलती है। इस संदर्भ में गाँधी को कभी परम्परावादी मूल्यों का पोषक मान लिया जाता है और कभी आदर्शवादी। लेकिन जब गाँधी को आधुनिक एवं उत्तर-आधुनिक विचारक के रूप में भी प्रतिष्ठित किया जा रहा हो तब प्रायः गाँधी की आलोचनाओं से ही गाँधी का प्रत्युत्तर निकल आता है। वस्तुतः आधुनिक सभ्यता की मीमांसा हेतु गाँधी ने जितने विस्तृत फलक का प्रयोग किया है वह अतुलनीय है। आधुनिक सभ्यता की आलोचना के क्रम में गाँधी जितने समग्र दृष्टिकोण को अपनाते हैं, उतनी समग्रता मार्क्सवादियों, नारीवादियों, उत्तर-आधुनिकतावादियों या स्वच्छंदतावादियों में देखने को नहीं मिलती है।

देखें : अहिंसा, आजादी के लिए सशस्त्र संघर्ष-1, 2, और 3, आर्थिक राष्ट्रवाद-1 और 2, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, आशिस नंदी-1 और 2, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में स्त्री-नेतृत्व-1 और 2, गोपाल कृष्ण गोखले, चेतपट वेंकटसुब्बन शेषाद्रि, जय प्रकाश नारायण, जोसेफ़ चेल्लादुरै कुमारप्पा, ट्रस्टीशिप, नरेंद्र देव, बाल गंगाधर तिलक, भारतीय राष्ट्रवाद, भीखू

छोटालाल पारिख, राममनोहर लोहिया, लेव निकोलाइविच तॉल्स्तॉय, वर्धा शिक्षा योजना, विवेकानंद, वि-उपनिवेशवाद, विनोबा भावे, सर्वोदय, सविनय अवज्ञा, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. भिखू पारिख (1989), *गाँधीज पॉलिटिकल फ़िलॉसफ़ी, अ क्रिटिकल एग्जामिनेशन*, मैकमिलन प्रेस, लंदन.
2. रोनाल्ड जे टर्चेक (1998), *गाँधी : स्ट्रगलिंग फ़ॉर ऑटोनॉमी*, विस्तार प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. जे.बी. कृपलानी (1956), *गाँधी : एक राजनीतिक अध्ययन*, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी.
4. के.जी. मशरूवाला (1962), *गाँधी विचार दोहन*, सस्ता साहित्य प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— विश्वनाथ मिश्र और उपासना पाण्डेय

मोहनदास कर्मचंद गाँधी-3

दक्षिण अफ्रीका, सत्याग्रह और असहयोग

(Mohandas Karmchand Gandhi-3)

गुजरात के पोरबंदर में दो अक्टूबर को जन्मे मोहनदास अपने पिता कर्मचंद गाँधी की चार संतानों में सबसे छोटे थे। पिता से गाँधी को अनुशासनप्रियता की सीख मिली एवं माता पुतली बाई से धर्माचरण की प्रेरणा। अपनी आत्मकथा *सत्य के साथ मेरे प्रयोग* में गाँधी ने खुद को साधारण क्रिस्म का विद्यार्थी बताया है। तेरह वर्ष की अल्पायु में ही उनका कस्तूरबा से विवाह हुआ। हाईस्कूल में ही पिता से छिप कर गाँधी ने मदिरापान किया और पश्चाताप की वेदना में पिता को पत्र लिखा। पिता द्वारा कुछ भी न कहने लेकिन उनकी आखों से गिरते हुए आँसुओं ने पहली बार गाँधी को प्रेम और अहिंसा की शक्ति से परिचित कराया। आखिरी क्षणों में मृत्यु-शैया पर पड़े पिता के समक्ष न रह पाने और उस समय पत्नी के साथ समागमरत रहने की घटना ने गाँधी के मन को बुरी तरह से आहत किया। इसी के परिणामस्वरूप वे अधीरता, आसक्ति और कामना की वृत्ति परिमार्जित करने के लिए प्रेरित हुए।

1887 में तृतीय श्रेणी से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद गाँधी ने कॉलेज-शिक्षा के लिए भावनगर के शामलदास कॉलेज में प्रवेश लिया। लेकिन विधि स्नातक की शिक्षा प्राप्त हेतु दिवंगत पिता के इच्छा के सम्मान और अपने अग्रज द्वारा लंदन में पढ़ाई के लिए धन की व्यवस्था कर दिये

जाने के कारण गाँधी ने विलायत का रुख किया। वे बड़ी बेबाक़ी से लिखते हैं कि शिक्षा प्राप्ति हेतु लंदन जाना उनके लिए आकर्षण का विषय नहीं था। वे तो यह सोच कर लंदन जा रहे थे कि वहाँ परिवार से दूर रहने पर अनिच्छापूर्वक पढ़ाई करने के ताने से बच सकेंगे। लंदन के विख्यात इनर टेम्पल में प्रवेश के बाद क़ानून के पारम्परिक अध्ययन-अध्यापन ने उन्हें आकर्षित नहीं किया। लेकिन गाँधी ने भाषा, पोशाक एवं व्यवहार की ऐसी बारीक़ियों को सीखने का प्रयत्न अवश्य किया जो उन दिनों एक सभ्य अंग्रेज़ से अपेक्षित थीं। 1891 को उन्होंने वकील के रूप में कार्य करने हेतु लंदन के हाई कोर्ट में पंजीयन कराया और 12 जून, 1891 को स्वदेश रवाना हो गये। भारत आने पर गाँधी ने कुछ समय के लिए अध्यापन का कार्य करना चाहा, पर मौक़ा नहीं मिला। अधिवक्ता के रूप में काम करते हुए भी गाँधी को अपनी सफलता के लक्षण प्रायः नगण्य दिखाई पड़े।

1893 में गाँधी को एक मुक़दमे में पैरवी के लिए दक्षिण अफ्रीका जाने हेतु निमंत्रण मिला। यह यात्रा एक ऐसी घटना साबित हुई जिसने गाँधी का जीवन बदल दिया। दक्षिण अफ्रीका में मुक़दमे की पैरवी के लिए उन्हें डरबन से प्रिटोरिया जाना था। इसी रेल मार्ग पर ट्रांसवाल की राजधानी मेरित्सबर्ग के पास टिकट परीक्षक ने अपने दो गोरे सहयोगियों के साथ प्रथम श्रेणी में वैध टिकट होने पर भी चमड़ी का रंग काला होने के कारण गाँधी को अपमानित करके सामान सहित नीचे उतार दिया। इस अपमान, इसे उत्प्रेरित करने वाली विधि तथा राजनीतिक व्यवस्था की प्रचंड भौतिक शक्ति और अपनी ही कमियों के कारण पैदा हुई असहायता पर विचार करते हुए गाँधी ने मेरित्सबर्ग की वह सर्द रात स्टेशन पर गुज़ारी। प्रतिरोधस्वरूप उन्होंने कुछ नहीं किया और अगले दिन पुनः जलालत सहते हुए प्रिटोरिया चले गये। लेकिन वहाँ पहुँच कर गाँधी ने एक सप्ताह के भीतर वहाँ के भारतीयों की सभा बुलायी और अपने भाषण में सत्य बोलने, जात-पाँत और अशुचिता के आचरण को त्यागने तथा अंग्रेज़ी सीखने पर बल दिया। इस तरह गाँधी ने वहाँ कई सभाओं का आयोजन किया। जब तक गाँधी डरबन लौटे तब तक प्रिटोरियावासी भारतीयों ने अपना एक संगठन बना लिया था। गाँधी के लिए एक संगठनकर्ता के रूप में यह अपनी क्षमता पहचानने का अवसर था। डरबन से भारत वापसी की तैयारी में लगे गाँधी की उनके सहयोगियों ने समारोहपूर्वक विदाई भी कर दी, लेकिन *नेटाल मर्करी* की इस ख़बर ने गाँधी को रोक लिया कि दक्षिण अफ्रीका की रंगभेदी सरकार विधान मण्डल का सदस्य बनने के अधिकार से भारतीयों को वंचित करने हेतु विधेयक लाने वाली है। गाँधी ने इस विधेयक का विरोध करने का आह्वान किया और उनके सहयोगियों ने भी इस कार्य में उनके सहयोग की याचना की। गाँधी एक महीना

रुकने हेतु तैयार हो गये। लेकिन इसके बाद वे बीस साल तक वहीं रहे और गिरमिटिया मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए संघर्ष किया।

दक्षिण अफ्रीका के संघर्ष-काल में गाँधी ने अंग्रेजी पोशाक पहनना तो नहीं छोड़ा, लेकिन उनमें आंतरिक रूपांतरण का वह क्रम आरम्भ हो गया जिसने अंततः उन्हें वह गाँधी बनाया जिसे आज सारी दुनिया जानती है। जिस निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग तिलक ने बंग-भंग के अवसर पर किया था, और माँग से पहले योग्यता (डिज़र्व देन डिज़ायर) की जिस बात पर गोखले बल दिया करते थे, उसे गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका के अपने अहिंसक संघर्ष में व्यवहार में उतार कर दिखाया। गाँधी ने सदैव अपने उद्देश्य को सर्वव्यापक मानवता के कल्याण की दृष्टि से परिभाषित किया। दक्षिण अफ्रीका में भी गाँधी के संघर्ष का मकसद भारतीयों के साथ गोरों के समान व्यवहार करने की माँग तक सीमित नहीं था। उनका कहना था कि जब भारतीय भी ब्रिटिश साम्राज्य के नागरिक हैं तब उन्हें भी विधि के तहत वही अधिकार और स्वतंत्रताएँ प्राप्त होनी चाहिए जो अंग्रेजों को हासिल हैं। आगे चल कर गाँधी का यह उद्देश्य विराट स्वरूप ग्रहण करता हुआ मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के निषेध तक पहुँचा। गाँधी की इस दृष्टि ने ही राष्ट्रीय आंदोलन में गाँधी के आगमन के बाद भारतीय स्वतंत्रता के प्रश्न को मानवजाति की स्वतंत्रता के प्रश्न में बदल दिया।

1899 से 1902 के मध्य दक्षिण अफ्रीका के बोअर विद्रोह में गाँधी ने बोअरों से सहानुभूति रखते हुए भी अंग्रेजों के पक्ष में भारतीय सैनिकों की नियुक्ति की मुहिम चलाई। यह बोअर लोगों की उचित माँगों की पूर्ति हेतु अनुचित तरीके के प्रयोग के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी, लेकिन गाँधी ने मानवता के धर्म का पालन करते हुए घायलों की सेवा के लिए एक दल भी तैयार किया जिसमें लगभग स्वतंत्र भारतीय एवं आठ सौ गिरमिटिये मजदूर थे। दक्षिण अफ्रीका के संघर्ष काल में गाँधी ने एक सफल अधिवक्ता के रूप में भी अपने को स्थापित कर लिया था। आजीविका के इस साधन को गाँधी ने अधिवक्ता के प्रचलित धर्म से परे इस्तेमाल करते हुए विवादों का निस्तारण कचहरी से बाहर सुलह एवं मध्यस्थता से कराने में विशेष ध्यान दिया। 1903 में गाँधी ने *इण्डियन ओपीनियन* नामक साप्ताहिक पत्र आरम्भ किया और डरबन

के पास 1904 में फ़ीनिक्स आश्रम की स्थापना की। इसका विचार गाँधी के मन में जॉन रस्किन की पुस्तक *अन टू दिस लास्ट* को पढ़ कर आया। यह पुस्तक गाँधी को एस.एल. पोलक ने दी थी। गाँधी का कहना है कि इस पुस्तक ने मेरी जीवन-धारा बदल दी। वे लिखते हैं कि यह पुस्तक रक्त और आँसुओं से लिखी गयी है।



सविनय अवज्ञा : नमक आंदोलन

गाँधी ने वासनाओं पर विजय पाने के प्रयत्न के रूप में 1906 में ब्रह्मचर्य का व्रत लिया और आजीवन इसका पालन करते रहे। उनका उद्देश्य इंद्रियों का दमन न हो कर इंद्रियों की सद्वृत्तियों के परिमार्जन के रूप में इस व्रत का उपयोग करना था। 1906 में ही दक्षिण अफ्रीका की रंगभेदी सरकार की पहचान-पत्र नीति के अनौचित्य के विरुद्ध गाँधी ने सामूहिक प्रतिरोध की व्यक्तिगत नीति का सूत्रपात किया और उसका नाम सत्याग्रह रखा। मगन लाल गाँधी ने इसके लिए सदाग्रह शब्द सुझाया था, लेकिन गाँधी ने इस शब्द के संशोधित रूप को स्वीकार किया। 30 जून, 1914 को लम्बे संघर्ष के बाद सत्याग्रह एवं अहिंसा की भौतिक बल पर जीत हुई और रंगभेदी पहचान-पत्र की नीति को सरकार ने वापस ले लिया। नौ जनवरी, 1915 को गाँधी स्वदेश लौट गये।

दक्षिण अफ्रीका से जब गाँधी भारत आये तब भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के मंच पर उदारतावादी युग का पटाक्षेप हो चुका था और गरमदली शक्तियाँ अपनी जड़ें जमा रही थीं। बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखल और मदन मोहन मालवीय सरीखे जन-नायकों के बीच अपनी उपस्थिति दर्ज करा पाना किसी के लिए भी महान चुनौती से कम नहीं थी। तिलक के नेतृत्व में स्वदेशी बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध का एक व्यापक जन आंदोलन भी सम्पन्न हो चुका था जिसके कारण बंगाल विभाजन की घोषणा को ब्रिटिश सरकार वापस लेने पर मजबूर हुई थी। भारत आ कर फ़ीनिक्स के प्रयोग ने साबरमती के आश्रम में रूपांतरित होकर परिष्कृत स्वरूप ग्रहण किया। *इण्डियन ओपीनियन* के प्रयोग ने हिंदी के हरिजन और अंग्रेजी के *यंग इण्डिया* के रूप में आकार लिया। 1915 से 1919 के बीच गाँधी ने स्थानीय स्तर पर तीन संघर्षों का संचालन किया जिससे उनकी दक्षिण अफ्रीका में प्राप्त ख्याति और बढ़ गयी। ये तीन आंदोलन थे : बिहार के चम्पारन में नील की खेती करने वालों के दमन के खिलाफ होने वाला संघर्ष, गुजरात के खेड़ा ज़िले में चला किसानों का

आंदोलन और अहमदाबाद में हुई मजदूर हड़ताल में उनका हस्तक्षेप। 1919 में गाँधी ने कुख्यात रौलट एक्ट के खिलाफ अखिल भारतीय हड़ताल का आह्वान करके उपनिवेशवादी आंदोलन में अपने राष्ट्रीय हस्तक्षेप की शुरुआत की।

गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह की जिस रणनीति को आजमाया था, वह भारत में भी सफल साबित हुई। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की गाँधीवादी शैली की तीन विशेषताएँ दृष्टव्य हैं : सांगठनिक और वित्तीय ब्योरो पर विस्तृत और बारीक नज़र, सत्याग्रही के रूप में एक अनुशासित और एक हद तक प्रशिक्षित कार्यकर्ता-पंक्ति का निर्माण, हमेशा समझौता वार्ता करने और संकट पैदा होने पर एकतरफ़ा तौर पर आंदोलन वापस लेने तक के लिए तैयार रहने का लचीलापन। गाँधी की राजनीति की एक खास बात यह भी थी कि वे दो राजनीतिक मुहिमों के बीच के अंतराल को भरने के लिए कार्यकर्ताओं और जनता को रचनात्मक कार्यक्रम में लगने का सुझाव देते थे। रचनात्मक कार्यक्रम के केंद्र में चरखा और स्वदेशी का विचार था जिसमें उपनिवेशवादी लूट की आलोचना, आत्मनिर्भरता, पश्चिमी विचारों का प्रतिरोध और नागरिक जीवन के सुधार के आग्रह थे। पुणे में फैले प्लेग ने गाँधी को सार्वजनिक स्वच्छता के अभियान का वह अवसर उपलब्ध कराया जिसमें शौचालयों का निरीक्षण और सफ़ाई का ऐसा कार्य सम्मिलित था जिसे सम्पादित करना तब के ख्यातिनाम भारतीय नेताओं के लिए पाप जैसा ही था। गाँधी के इस सेवाधर्मी कार्य ने उन्हें आम जनता की परिस्थितियों से परिचित होने का अवसर दिया। दूसरी तरफ इसी प्रक्रिया में उन्होंने दरिद्र नारायण की सेवा में सब कुछ देखा। सार्वजनिक स्वच्छता, सार्वजनिक शिक्षा, सार्वजनिक जागरूकता, आत्मसंयम का अभ्यास, स्त्रियों एवं हरिजनों की स्थिति में सुधार, कुरीतियों के उन्मूलन आदि के लिए गाँधी, उनका आश्रम एवं उनके सत्याग्रही निरंतर लगे रहते थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय गाँधी ने ब्रिटेन के युद्ध-प्रयास का पुनः उसी प्रकार समर्थन किया जिस प्रकार उन्होंने बोअर युद्ध के समय अंग्रेजों का किया था। इस समय उनका तर्क था कि वे ब्रिटेन की कमज़ोर स्थिति का लाभ उठाकर भारतीय समस्या का हल नहीं चाहते। विश्व-युद्ध में गाँधी द्वारा भारतीयों की सेना में भर्ती हेतु चलाये गये अभियान पर तीखी प्रतिक्रिया हुई। ऐसी प्रतिक्रियाओं में प्रायः गाँधी की उस पहल को भुला दिया जाता है जो उन्होंने चम्पारण सत्याग्रह के माध्यम से अंग्रेज़ मालिकों द्वारा नील की खेती के लिए बाध्य किये जा रहे किसान-हितों की रक्षा के लिए की थी। युद्ध प्रयत्नों में सहयोग से जिस सहानुभूति की अपेक्षा गाँधी को थी उसे रौलट एक्ट ने एक झटके से नष्ट कर दिया। विश्व-युद्ध जनित परिस्थितियों ने 1916 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में नरमपंथियों एवं गरमपंथियों को

एकजुट कर दिया था। इसी तरह खिलाफ़त के प्रश्न पर हिंदू-मुसलिम एकता का लक्ष्य प्राप्त करने का माहौल बना।

जब देश में ब्रिटिश शासन के खिलाफ़ जनांदोलन के लक्षण स्पष्ट दिख रहे थे जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड ने जन-आक्रोश को तीव्र कर दिया। ऐसी परिस्थितियों में गाँधी ने 1920 में असहयोग आंदोलन छेड़ा जिसमें नरमपंथियों के 'प्रेयर, प्रोटेस्ट एवं प्लीडिंग' की नीति के साथ-साथ गरमपंथियों के राष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेशी एवं बहिष्कार की नीति का सम्मिलित प्रयोग था। चौरीचौरा के घटनाक्रम के कारण गाँधी ने इस आंदोलन को वापस ले लिया। लेकिन सामाजिक प्रभाव, भारतीय जनमानस में आत्मगौरव जगाने की दृष्टि से और सामाजिक जड़ता को तोड़ने में योगदान की दृष्टि से यह आंदोलन अद्वितीय सिद्ध हुआ।

साइमन कमीशन की विफलता से उपजने वाली स्थिति ने गाँधी के आंदोलनकारी पक्ष को पुनः आगे आने का अवसर दिया। इस समय सत्य, अहिंसा एवं सत्याग्रह का प्रयोग सविनय अवज्ञा के संस्करण में हुआ। गाँधी ने विनय एवं अहिंसा का पालन करते हुए आंदोलन के गतिमान रहने पर एक वर्ष के भीतर स्वराज प्राप्ति का भरोसा दिलाया। यद्यपि सविनय अवज्ञा की परिणति इस रूप में तो नहीं हुई और यह आंदोलन धीरे-धीरे विच्छिन्न सा हो गया लेकिन इसने जन-जागरूकता की वह लहर उत्पन्न की जिसके कारण ब्रिटिश शासन के लम्बे समय तक भारत में टिके रहने के बुनियादी दावे पर ब्रिटेन में भी पुनर्विचार होने लगा।

सविनय अवज्ञा के ही काल में रैम्जे मैकडानल्ड के साम्प्रदायिक अधिनिर्णय के विरोध में गाँधी ने अपने जीवन का सबसे लम्बा उपवास किया जिसकी परिणति पुणे पैक्ट के रूप में हुई। गाँधी केवल एक बार 1924 में ही कांग्रेस के अध्यक्ष रहे थे लेकिन उसके संगठन पर गाँधी की पकड़ लम्बे समय तक बनी रही। इस शक्ति का आधार आम जनता से निरंतर संवाद और सम्पर्क में रहने की गाँधी की आदत और संत के रूप में निरंतर स्थापित होती जा रही गाँधी की गरिमा थी। स्वाधीनता आंदोलन के अंतिम पड़ाव पर जब ब्रिटेन ने भारतवासियों की इच्छा के विरुद्ध भारत को युद्ध में झोंक दिया तो गाँधी को पुनः जनांदोलन का अवसर मिला। इस समय स्थितियाँ भिन्न थीं। मित्र राष्ट्रों के विजय के संदर्भ में विश्वासपूर्वक कुछ कहना कठिन था। साम्राज्य के व्यापक हितों को देखते हुए ब्रिटिश हुकुमत भारत के लिए ईमानदारी से रियायतों की घोषणा हेतु तत्पर न थी। देश में विप्लव जैसी स्थितियाँ उत्पन्न होती जा रही थी। ऐसी स्थिति भारत से यह विश्वव्यापी संदेश जाना जरूरी था कि वह किसी भी हिंसक शक्ति के साथ नहीं है। यह संदेश गाँधी के नेतृत्व में 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन के माध्यम से दिया गया। इस

आंदोलन की व्यापकता ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत में अंग्रेजी शासन अब कुछ ही दिनों की बात है।

लेकिन इस आंदोलन की सफलता के बाद स्वयं गाँधी के लिए एक ऐसी अवधि आयी जब उन्हें पहली बार लगा कि उनके नेतृत्व में चलने वाली कांग्रेस और स्वयं उनकी शिष्य-मण्डली सत्ता के हस्तांतरण के लिए बेचैन है। गाँधी कहते रहे कि देश का विभाजन मेरी लाश पर होगा— लेकिन घटनाचक्र पर न उनका नियंत्रण रहा और न ही उनके सहयोगियों का। गाँधी के अनेक समर्थकों का विश्वास था कि आगे चल कर स्वयं गाँधी के प्रयत्नों से ही विभाजन का अंत हो जाएगा। भारत द्वारा पाकिस्तान को दिये जाने वाले पचपन करोड़ रुपयों के भुगतान को लेकर गाँधी अनशन पर बैठने वाले थे, लेकिन नाथूराम गोडसे ने उन्हें 30 जनवरी, 1948 में गोलियों का निशाना बना दिया।

देखें : अहिंसा, आजादी के लिए सशस्त्र संघर्ष-1, 2, और 3, आर्थिक राष्ट्रवाद-1 और 2, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, आशिस नदी-1 और 2,

उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में स्त्री-नेतृत्व-1 और 2, गोपाल कृष्ण गोखले, चेतपट वेंकटसुब्बन शेषाद्रि, जय प्रकाश नारायण, जोसेफ चेल्लादुरै कुमारप्पा, ट्रस्टीशिप, नरेंद्र देव, बाल गंगाधर तिलक, भारतीय राष्ट्रवाद, भीरू छोटालाल पारिख, राममनोहर लोहिया, लेव निकोलाइविच तॉल्स्तॉय, वर्धा शिक्षा योजना, विवेकानंद, वि-उपनिवेशवाद, विनोबा भावे, सर्वोदय, सविनय अवज्ञा, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. धीरेंद्र मोहन दत्त (1985), *महामना गाँधी का दर्शन*, बिहार ग्रंथ अकादमी, पटना.
2. डेनिस डेल्टन (1999), *गाँधीज पावर : नॉन वायलेंस इन एक्शन*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. राधवन अय्यर सं. (1986), *मॉरल ऐंड पॉलिटिकल राइटिंग्स ऑफ महात्मा गाँधी*, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
4. ऐंथनी जे. परेल (2007) *गाँधीज पॉलिटिकल फ़िलासॉफी ऐंड द क्वेस्ट फॉर हारमोनी*, केम्ब्रिज प्रेस, केम्ब्रिज.

— विश्वनाथ मिश्र और उपासना पाण्डेय